स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

UGPS-01/CSSPS-01
Elective Course in Political Science

IGNOU

Block-1 :Introduction to Political Science
Block-2 :Classical View of the State
Block-3 :Essential Features of the State
Block-4 :Individual and the State
Block-5 :Forms of Government
Block-6 :Theories of State
Block-7 :Ideologies of the State
Block-8 :State Intervention in Society and Economy

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021
www.uprtou.ac.in
टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

UGSPS-01

Conflict and Peace Building

(संघर्ष और शांति निर्माण)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से डॉ0 अरूण कुमार गुप्ता, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष 2021

मुद्रकः चन्द्रकला युनिवर्सल प्रा. लि.42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड प्रयागराज, 211002

NMDC-288

इकाई 1 शांति और संघर्ष अध्ययन : प्रकृति और अध्ययन क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 शांति परम्पराएँ

1.3 शांति और हिंसा

1.4 हिंसा के रूप

- 1.4.1 प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा
- 1.4.2 नकारात्मक और सकारात्मक शांति

1.5 संघर्ष विश्लेषण और संघर्ष प्रबंधन

- 1.5.1 संरचनात्मक परिस्थितियाँ
- 1.5.2 पारम्परिक प्रबंधन रणनीतियाँ
- 1.5.3 विवाद निपटारा और संघर्ष समाधान
- 1.5.4 संघर्ष रूपांतरण और शांति निर्माण

1.6 शांति के अध्ययन के लिए कुछ उपागम

- 1.6.1 नारीवादी उपागम
- 1.6.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था उपागम
- 1.6.3 पर्यावरण संबंधी उपागम

1.7 सारांश

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

साधारणतया शांति को प्रत्यक्ष हिंसा की अनुपस्थिति समझा जाता है। एक्सप्लेनेटरी फोनोग्राफिक प्रोनाउंसिंग डिक्शनरी ऑफ दी इंगलिश लैंग्वेज (1850) में शांति को उन पर्यायों की सूची के रूप में परिभाषित किया गया है जिसमें "युद्ध से राहत", "मुकदमों और अव्यवस्था से राहत", "किसी प्रकार की उत्तेजना से राहत", "भय से मुक्ति", "शांति", "विचारों का दमन" आदि शामिल हैं। इनमें से अधिकांश परिभाषाएँ बहिष्कार के आधार पर हैं और यहाँ शांति की परिभाषा "अशांति" के आधार पर की गई है। जुएर्जन डेडिंग का मत है कि परम्परागत मान्यता शांति को युद्ध की अवस्था के दूसरे पक्ष के रूप में मानती है और इसलिए शांति की परिभाषा "युद्ध की अनुपस्थिति" के रूप में की गई है। *वर्ल्ड इनसाइक्लोपीडिया ऑफ पीस* (1986) के प्रधान सम्पादक, लिनस पालिंग के अनुसार, "जैसे-जैसे इतिहास आगे बढ़ता है, प्रणाली में बसे हुए मानव प्राणियों द्वारा आनन्द की चरमसीमा और पीड़ा की दरारों का अनुभव किया जाता है, सामान्यतया शांति अध्ययनों का संबंध शांति प्राप्त करने की अपेक्षा युद्ध के परिहार करने से अधिक है।" इसलिए शांति की पहचान मुख्यतया किसी भी गंभीर प्रकार के संघर्ष की अनुपस्थिति के रूप में की जाती है। प्रायः "शांति स्थापना" शब्द को हिंसा के प्रयोग बिना संघर्ष-समाधान से जोड़ा जाता है।

NMDC-288

1.2 शांति परम्पराएँ

शांति की अवधारणाएँ सभी विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं में समृद्ध हुई हैं। मानव चिंतन के प्रारंभिक काल से ही यह स्पष्ट समझ थी कि युद्ध न तो प्राकृतिक घटना है और न ही ईश्वर की अनुत्क्रमणीय इच्छा। शांतिपूर्ण विश्व उस समाज का होता है जहाँ लोग सौहार्द और मैत्रीपूर्ण ढंग में साथ-साथ काम करते हैं और रहते हैं तथा एक समूह का दूसरे समूह पर प्रभुत्व शांति के लिए मुख्य बाधा है।

पूर्वी धर्मों में आध्यात्मिक जीवन और सामाजिक न्याय के लिए क्रिया के बीच संबंधों पर बहुत बल दिया गया है। बौद्ध परम्पराएँ न्याय, समानता, अहिंसा, दूसरे के कल्याण के लिए चिन्ता और जीवित प्राणियों में करुणा पर बल देती हैं। वे बुद्धि की सुव्यवस्थित अवस्था, आंतरिक शांति और संस्कृति के अंदर मित्रभाव को भी प्रतिबिम्बित करते हैं। बुद्धि की आंतरिक अवस्था में शांति और मैत्रीपूर्ण अंतर्वैयक्तिक संबंध सार्वभौमिक शांति में योगदान करते हैं।

प्रकृति का शोषण न करने की प्रथा अमेरिका के मूल निवासियों तथा अफ्रीकी जनजातीय संस्कृतियों में विद्यमान है। पृथ्वी के साथ शांति, प्रकृति पर विजय पाने की अपेक्षा प्रकृति के साथ मिलकर रहना यह निरूपित करता है कि उसके साथ मित्रतापूर्वक रहना मनुष्य की आवश्यकता है। पृथ्वी एक ऐसा जाल गठित करती है जिसमें मनुष्य उसका एक भाग है, और पृथ्वी पर प्राणयुक्त और प्राणहीन अस्तित्व रूप को नष्ट करने का अभिप्राय है कि मानव अपनी स्वयं की उत्तरजीवितता के लिए भी संकट पैदा कर रहा है।

बहुत-सी पाश्चात्य धार्मिक परम्पराओं ने स्वाभाविक सद्भावना, निस्वार्थ प्रेम, सम्पूर्णता और वैयक्तिक कल्याण के और विद्वेष समाप्ति के भी संदेश दिए हैं। बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेंट' के परिच्छेद कहते हैं कि तलवारों को हल के फालों में और उनके बर्छों को हंसिया में बदला जाएगा। प्रारंभिक ईसाई समाज के आदर्श राज्य में प्रेम से रहने पर बहुत बल दिया गया था। यूनानी दार्शनिकों ने नागरिक विद्रोह के अभाव के अनुसार शांतिपूर्ण विश्व की संकल्पना की थी। ये दार्शनिक परम्पराएँ प्रत्येक व्यक्ति को मानवता की नैतिक दृढ़ता/योग्यता और विश्व नागरिकता के सिद्धान्त पर आधारित एकता से भी जोड़ती थी। युद्धरहित विश्व की कल्पना का हैलेनिक सभ्यता में शांति के सारभाग के रूप में ग्रहण किया गया। रोमन और मध्यकालीन समय में शांति का अभिप्राय समाज की उन इकाइयों में स्थायी संबंध से था जो संगठित हिंसा को नियंत्रित करता है।

ज्ञानोदय विवेचन (Enlightenment thinking) में, हिंसा और संघर्ष को इतिहास में सबसे बड़ी बुराई के रूप में देखा गया है, अव्यवस्थित विश्व के लिए ये ही उत्तरदायी ठहराए गए हैं। राजनीतिक-दार्शनिक, जैसे सत्तरहवीं शताब्दी में जान लॉक और अठारहवीं शताब्दी में रूसो ने युद्ध को अनावश्यक माना और उनका विश्वास था कि सामाजिक अनुबंध हिंसा रोक सकता था।

उन्होंने वैयक्तिक स्वायत्तता और स्वतंत्रता पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, अराजकतावादी आदर्शवादी लोगों में विद्यमान विचारों ने उस सरकार और उन कानूनी संस्थाओं का विरोध किया जो कृत्रिम आदेश थोपते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी विचारक, टाल्सटाय और अन्य शांतिवादी अराजकतावादियों के अनुसार जो शांति को सम्मानपूर्ण मानव मूल्यों के रूप में समझते थे, वे दमन और हिंसा दोनों के लिए राज्य शक्ति के तंत्र को उत्तरदायी समझते थे। ऐसी राजनीतिक संरचना के उन्मूलन से युद्ध समाप्त किया जा सकता है जिसके कारण सामाजिक दमन और शोषण होता है।

मानवीय दशाओं को सुधारने में शक्तिशाली परिवर्तन करना उनका लक्ष्य था। इस उद्देश्य से उन्नीसवीं शताब्दी में और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में समाजवादी आन्दोलनों ने माँग की कि वर्गहीन समाज में शांति प्राप्त की जा सकती है। मानवीय कष्टों के प्रमुख कारण आर्थिक असमानताएँ और सामाजिक अन्याय से सम्बद्ध दमनकारी राजनीतिक प्रणाली है। शांति के ऐसे सुदृढ़ सामाजिक आयाम है जिनमें मैत्रीपूर्ण सामुदायिक जीवन के लिए दूसरों की भलाई के विचार महत्वपूर्ण हैं। भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक और राजनीतिक परम्पराओं से लोगों को समानता पर आधारित समाज की प्राप्ति द्वारा संगठित किया जा सकता है।

1.3 शांति और हिंसा

यद्यपि शांति अध्ययनों का केन्द्रीय सार शांति के अध्ययन को हिंसा की अनुपस्थिति के रूप में प्रस्तुत करता है, परन्तु इस बारे में असहमति है कि "शांति" और "हिंसा" का जन्म किस कारण से होता है। मुख्य बहस यह रही है कि क्या शांति को केवल युद्ध की अनुपस्थिति के रूप में परिभाषित किया जाए (जिसे प्रायः "नकारात्मक शांति" कहा जाता है) या फिर जो अवधारणा युद्ध की अनुपस्थिति तथा सामाजिक और आर्थिक न्याय की उपस्थिति दोनों को समाहित करती हैं उसके रूप में (जिसे प्रायः सकारात्मक शांति कहा जाता है)। जो यह तर्क देते हैं कि शांति संकीर्ण रूप में परिभाषित होनी चाहिए, वे यह मानते हैं कि अवधारणा की व्यापकता उसकी स्पष्टता को कम करती है। जो अधिक व्यापक अवधारणा का समर्थन करते हैं, उनका तर्क है कि हिंसात्मक, अर्थात जीवन को संकट में डालने वाली विशेषताएँ दमनकारी और अल्पविकास उपागम के विभिन्न रूप, या फिर जो प्रत्यक्ष युद्ध की सीमा से बाहर। प्रायः इस बहस के दो विरोधी विचारों से सम्बद्ध दो अलग-अलग विद्वान हैं, नार्वे के जोहन गेल्तुंग जिसे 1960 के दशक के मध्य में "सकारात्मक शांति" शब्द खोजने का श्रेय प्राप्त हुआ है और संयुक्त राज्य अमेरिका का केनेथ बोल्डिंग जिसके गेल्तुंग से साथ "बारह मित्रतापूर्ण कलहों" में यह शामिल है। परन्तु व्यवहार में, इस वैचारिक विच्छेद की अपेक्षा आम सहमति अधिक प्रतीत होती है। कुछ विद्वान इस तर्क का विरोध कर सकते हैं कि युद्ध की अनुपस्थिति और न्याय और स्वतंत्रता जैसे अन्य सामाजिक मूल्यों, न्याय और स्वतंत्रता के बीच संबंध है। कार्ल ड्यूच के अनुसार सुरक्षा समुदाय वह है जिसमें भविष्य के लिए "शांतिपूर्ण परिवर्तन की विश्वसनीय आशाएँ" विद्यमान हैं।

1.4 हिंसा के रूप

हिंसा की अवधारणा की तुलना में शांति की अवधारणा अधिक स्पष्ट रूप से समझी गई है। अतः विभिन्न सामाजिक संबंधों में विद्यमान हिंसा के विभिन्न रूपों की जानकारी शांति की अवधारणा समझने के लिए आवश्यक है।

1.4.1 प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा

प्रत्यक्ष हिंसा का अर्थ वही है जो हिंसा के प्रचलित अर्थ में होता है और जिसका संबंध शारीरिक चोटों तथा पीड़ा पहुँचाने, जैसे हत्या करने, पीटने और भला-बुरा कहने से है चाहे वे युद्ध में हों या अंतर्वैयक्तिक परिस्थितियों में हों। प्रत्यक्ष हिंसा व्यक्तिगत, दिखाई देने वाली और सुस्पष्ट होती है जबकि अंतर्वैयक्तिक संबंध में हिंसा डकैती, प्रतिशोध या प्रतिष्ठा के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त हो सकती है और राज्य राजनीतिक प्रयोजनों के लिए संगठित हिंसा का प्रयोग करते हैं। कारावास प्रणालियों, नज़रबंदी शिविरों, सैन्य बलों और नागरिक सेना में हिंसा की क्षमता को संस्था का रूप दिया गया है। नात्सी जर्मनी ने लाखों यूरोपीय यहूदियों और अन्य नृजातीय अल्पसंख्यक समूहों की हत्याएँ करवाईं। पोल पोट ने भय पैदा कर अपने शासन को मज़बूत करने के लिए 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में कम से कम दस लाख

कम्बोडियाइयों को मार डाला। नरसंहार प्रत्यक्ष हिंसा का प्रमुख रूप है जोकि एक समूह द्वारा दूसरे पर किया जाता है परन्तु दुर्बल पक्ष द्वारा बहुत कम प्रतिहिंसा की जाती है।

संरचनात्मक हिंसा में मानवीय कठिनाइयाँ, जैसे गरीबी, भूख, दमन और सामाजिक बहिष्कार के कारण उत्पन्न असमानतावादी और भेदभावपूर्ण व्यवहार आता है। संरचनात्मक हिंसा सामाजिक प्रणालियों में स्पष्ट दिखाई देती है और शोषणकारी उपायों से जारी रहती है। भेदभाव के फलस्वरूप लोग बुनियादी सुविधाओं, जैसे अच्छी शिक्षा, आवास और काम करने के अवसरों से वंचित रहते हैं। आत्म-संतुष्टि के अवसरों का अभाव, जाति, धर्म, आर्थिक स्तर या आयु हो सकती है। मानव अधिकारों और सम्मान की अवहेलना के कारण प्रत्येक मानव का अधिकतम विकास नहीं हो पाता है। यदि बालिकाओं की शिक्षा की आवश्यकता लिंग भेद के कारण पर्याप्त रूप से नहीं हो पाती है, तो इससे असमान जीवन स्थिति बन जाती है। बहुत से समाजों में कुछ लोगों को प्रोटीन या स्वास्थ्य देखभाल से वंचित रखा जाता है जबकि कुछ व्यक्ति विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। इसके अप्रत्यक्ष और कपटपूर्ण स्वरूप होने के कारण बहुधा संरचनात्मक हिंसा मानव मूल्यों को हानि पहुँचाने और जीवन अवधि कम करने में धीरे-धीरे काम करती है।

चूँकि युद्ध ही शांति रहित अवस्था का एक प्रकार है, इसलिए शांति के समानान्तर सुस्पष्ट हिंसा अधिक है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्यक्ष हिंसा न होने का अभिप्राय अच्छा जीवन व्यतीत करने की दशाएँ संतोषजनक हैं। संरचनात्मक हिंसा की अवधारणा राजनीतिक दमन और आर्थिक निराशा में अंतर्निहित संघर्ष के गहरे कारण समझने में हमारी सहायता करती है। व्यक्तिगत हिंसा द्वारा सकल सामाजिक अन्याय बनाए रखा जा सकता है। संरचनात्मक हिंसा समाज में अधिक आसानी से देखी जा सकती है, वह भय और दमन से नियंत्रित की जाती है। जब बाध्यकारी प्रक्रियाएँ प्रभावकारी होती हैं तब संरचनात्मक हिंसा को काफी लम्बे समय तक चुनौती नहीं दी जाती है। फिर भी, शोषणकारी दशाएँ लम्बे समय तक बनी रहने से अंततोगत्वा प्रबल प्रतिरोध उत्पन्न करती हैं जैसा कि अफ्रीका और एशिया में पश्चिमी औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता आन्दोलन के रूप में व्यक्त हुए।

कुछ सांस्कृतिक तत्वों, जैसे धर्म, विचारधारा और कला जो "हमारे अस्तित्व के प्रतीकात्मक क्षेत्र" को प्रभावित करते हैं, मूल्य औचित्य प्रतिपादन और उनके साधनों के वैधीकरण प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा के संभव स्रोत हो सकते हैं। धर्म में चुने गए लोगों और उनकी स्वीकृत सीमाओं से परे बाहरी लोगों के बीच स्पष्ट अंतर है। राज्य विचारधारा या नृजातीयता द्वारा समर्थित राष्ट्रीयता युद्ध को बढ़ावा देने के लिए एक साधन रहा है। संरचनात्मक हिंसा की कुछ श्रेणियाँ, जैसे सत्तावाद या लिंग और प्रजाति पर आधारित भेदभाव की विशेष रूप से सांस्कृतिक मानदंडों द्वारा अनदेखी की जाती है। समाजीकरण प्रक्रिया अन्य लोगों के बारे में जानकारी और उनकी छवि का मिथ्या-वर्णन करते रहता है। स्पष्ट और प्रछन्न हिंसा दोनों की सांस्कृतिक परते हैं, सांस्कृतिक व्यवहार को हिंसा के दो मुख्य प्रकारों से पूर्णतः पृथक नहीं किया गया है। सांस्कृतिक हिंसा के फलस्वरूप न्यूनीकरण संरचनात्मक और प्रत्यक्ष हिंसा में कमी के रूप में व्यक्त है।

1.4.2 नकारात्मक और सकारात्मक शांति

नकारात्मक शांति स्पष्ट हिंसा (जैसे युद्ध की अनुपस्थिति) पर बल देती है जो भौतिक बल से तोड़-मरोड़ करने की अपेक्षा संधि वार्ता या मध्यस्थता से प्राप्त की जा सकती है। यह अहिंसात्मक उपायों, पूर्ण निरस्त्रीकरण और सामाजिक तथा आर्थिक अन्योन्याश्रित के प्रयोग की संस्तुति करता है ताकि भौतिक हिंसा का परिहार और संघर्ष की स्थिति में बल का प्रयोग हतोत्साहित किया जा सके। नकारात्मक शांति उपागम में युद्ध रोकने के लिए ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और संस्थाओं की विशाल सरणि की भी आवश्यकता होती है जो राष्ट्रों के बीच स्थायी संबंधों की सहायता कर सके। शांति सुधारने का विचार

बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में और राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र में सम्मिलित की गई सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था में भी प्रतिबिम्बित हुआ है।

नकारात्मक शांति नीतियाँ, वर्तमान, अल्पकालिक या निकट भविष्य पर बल दे सकती हैं। इस तथ्य के कारण कि स्थिरता और व्यवस्था दमनकारी प्रणाली से बनाई रखी जा सकती है, नकारात्मक शांति संरचनात्मक हिंसा के अनुरूप है। ऐसी स्थिति में भौतिक हिंसा की अनुपस्थिति शत्रु को दंड का भय दिखाकर निवारण की रणनीति से प्राप्त की जा सकती है। शांति की स्थायी स्थितियाँ, युद्ध आरंभ होने के बीच अंतराल बनाए रखने का समानार्थी नहीं है। जब तक सैन्यवाद का वर्तमान महत्व बना रहता है तब तक युद्ध का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है।

सामाजिक शांति की अवधारणा पर आधारित सकारात्मक शांति की अवधारणा का अभिप्राय केवल प्रत्यक्ष हिंसा की अनुपस्थिति ही नहीं अपितु संरचनात्मक हिंसा हटाना भी है। जोहान गेल्तुंग के अनुसार, असमानतावादी सामाजिक संरचनाओं के उन्मूलन से सम्बद्ध उपयुक्त और समान दशाओं के विकास के बिना सकारात्मक शांति प्राप्त नहीं हो सकेगी। समानता शांति का महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि इसका अभाव सभी प्रकार के तनावों को स्थायी बनाता है। सभी समूहों के लोगों को समाज के आर्थिक लाभों की तथा सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास के लाभों की भी पहुँच सुलभ होनी चाहिए। लोगों के पिछड़े वर्गों के लिए समानता का अभिप्राय संस्थागत, सांस्कृतिक, मनोवृत्तिक और व्यवहार संबंधी भेदभाव से सबंधित बाधाओं को दूर करना है। संयुक्त राष्ट्र के पूर्व महासचिव बुतरस–बुतरस घाली के अनुसार दमन और गरीबी का उन्मूलन शांति के आवश्यक तत्व हैं। समान अवसरों से लोग अपनी प्रतिभा और दक्षता का विकास कर सकते हैं ताकि वे विकास के विभिन्न पहलुओं में भाग ले सकें।

शांति की व्यापक धारणाएँ बहुत से उन मुद्दों का उल्लेख करती है जो व्यक्तिगत प्रगति, स्वतंत्रता, सामाजिक समानता, आर्थिक समानता, पूर्ण एकता, स्वायत्तता और सहभागिता सहित जीवन की कोटि को प्रभावित करती हैं। **संयुक्त राष्ट्र और महिलाओं की प्रगति 1945-1995** पर संयुक्त राष्ट्र घोषणा संख्या 84, 1996 के अनुसार "समाज में आर्थिक और सामाजिक न्याय, समानता और मानव अधिकारों की सम्पूर्ण श्रेणी तथा आधारभूत स्वतंत्रता के उपभोग" के लिए ऐसी शांति आवश्यक है जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर हिंसा और विद्वेष से परे हो। सभी प्रकार के शोषण को कम से कम करके ही सौहार्दपूर्ण संबंधों के लिए उपयुक्त स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। जैसा कि पृथ्वी को शोषण का उद्देश्य माना जाता है, उसी प्रकार सकारात्मक शांति में विस्तार प्रकृति के सम्मान की धारणा को शामिल किया गया है।

नकारात्मक शांति के विचारक यह तर्क देते हैं कि मानव स्वभाव और विश्व की शक्ति संरचना पर विचार करते समय यह अवास्तविक है, और इसलिए सामाजिक न्याय से शांति की तुलना करना निरर्थक है। यदि हिंसा के लक्षणों के नियंत्रण पर संकीर्ण दृष्टि से विचार किया जाता है तो रहन-सहन का स्तर सुधारने के व्यापक आधार युक्त संघर्ष की अपेक्षा इसका अधिक सुनिश्चित प्रभाव होता है। शीत युद्ध के दौरान केनेथ बोल्डिंग जैसे शांति अनुसंधानकर्त्ताओं ने यह चिन्ता व्यक्त की थी कि शांति की व्यापक धारणा निरस्त्रीकरण की समस्याओं से ध्यान हटा सकती है और "विश्व विकास के महान अस्पष्ट अध्ययन" की ओर ले जा सकती है। जो मुख्य रूप से युद्ध स्थिति की कमी और उन्मूलन में रुचि रखते हैं, वे शांति के लिए न्याय की आवश्यकता कम मानते हैं। इसलिए इस अनुसंधान परम्परा में लोकप्रिय विषय रहा है — हिंसात्मक सामाजिक व्यवहार और अस्त्र दौड़ पर नियंत्रण। युद्ध के खतरों की कमी, निरस्त्रीकरण, आकस्मिक युद्ध का निवारण, परमाणु शस्त्रों का अप्रसार और संधिवार्ता से अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के समाधान से संबंधित विभिन्न तरीकों के अन्वेषण को प्राथमिकता दी गई है।

सकारात्मक शांति परम्परा के विद्वानों में सबसे अधिक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान, जोहान गेल्तुंग दावा करते हैं कि युद्ध से बचने और उसे सीमित करने के खास मामलों या खास शस्त्र प्रणालियों में कटौती के रूप

में ऐसे संकीर्ण मुद्दों की अपेक्षा हिंसात्मक संघर्ष की संरचनात्मक जड़ों का अध्ययन अधिक गंभीरता से किया जाना आवश्यक है। शांति प्राप्त करने के लिए परिस्थितियों की जानकारी हिंसा के संस्थानिक रूप पर विजय पाने की रणनीतियाँ स्पष्ट की जानी चाहिए। सकारात्मक शांति का अध्ययन उन दशाओं की पहचान करना है जो मनुष्य की उत्तरजीविता के लिए संकट उत्पन्न कर सकती हैं। इनमें पर्यावरण संबंधी मुद्दे और गरीबी और आर्थिक असमानता भी शामिल है। यह स्वीकार किया जाता है कि वे समस्याएँ विश्व की वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक संरचना में हल नहीं की जा सकती हैं, इसलिए वर्तमान प्रणाली की कमियों का विश्लेषण स्वाभाविक रूप में उस नीति और संस्थागत परिवर्तनों की ओर ले जाता है जो मानव कल्याण का काम करती हैं।

अहिंसा के क्षेत्रों में कुछ लोग दमन की संरचनात्मक दशाओं में हुए परिवर्तनों पर अधिक ध्यान दिए बिना शत्रुओं के विरुद्ध शस्त्रहीन संघर्ष में अंतर्निहित संभार तंत्र और युद्धनीतिक मुद्दों से मुख्य रूप से चिन्तित हैं। जेन शार्प जैसे शांति के विचारक केवल अहिंसक कार्रवाई को निश्चित राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा ग़ैर-घातक उपायों से विजयी होने के लिए प्रभावी रणनीतिक साधन के रूप में देखते हैं। अन्य विचारक, जैसे ज्योफ्री ओस्टरगाड जो महात्मा गांधी की परम्परा का अनुसरण करते हैं, अन्यायपूर्ण सामाजिक और आर्थिक प्रणाली की उत्पत्ति या अस्तित्व रोकने के सक्षम सिद्धान्त के रूप में अहिंसा पर बल देते हैं। अहिंसक सामाजिक संरचना समतावादी सामाजिक संबंधों को स्थापित कर प्राप्त हो सकती है।

यद्यपि शीत युद्ध के दौरान युद्ध विरोधी आन्दोलनों का ध्यान परमाणु युद्ध के भयंकर परिदृश्य रोकने पर था। साथ ही नकारात्मक शांति परम्पराओं में कार्यरत बहुत से शांति समूहों ने शांतिवादी समुदायों के इस आदर्श का समर्थन किया कि शांतिपूर्ण व्यवस्था के लिए सामाजिक न्याय आवश्यक है। यदि शांति का अध्ययन नीति परिवर्तन और क्रिया के लिए तैयार किया है, उसका अंतिम लक्ष्य सम्पूर्ण मानव जीवन की बेहतरी के लिए सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है। इसलिए सकारात्मक शांति निर्माण नकारात्मक शांति प्रयोग का सम्पूरक होना चाहिए। शारीरिक बल का प्रयोग रोकना कुछ सामाजिक संरचनात्मक दशाओं के अधीन अधिक सफल रहा है। यदि समाज में न्याय है तो हिंसा के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं होगी। युद्ध की संस्थाएँ प्रभुत्व पर टिकी हुई हैं और वे हिंसा की संस्कृति को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उस दृष्टि से शांति युद्ध की संस्था के उन्मूलन की समानार्थी है।

1.5 संघर्ष विश्लेषण और संघर्ष प्रबंधन

संघर्ष परस्पर विरोधी उद्देश्यों के अनुसरण से उत्पन्न होता है और जो विरोधी शक्तियों के बीच, विशेषकर सहयोगशील समस्या समाधान प्रक्रिया के अभाव में हो सकता है। संघर्ष की स्थितियों में संसाधनों को इस ढंग से गतिशील किया जाता है जिससे दूसरा पक्ष अपने व्यवहार में पहले पक्ष की इच्छानुसार परिवर्तन करने के लिए विवश हो। अव्यवस्थित संघर्ष हिंसा में बदल जाता है और इससे बहुत विनाश होता है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, आवश्यक रूप से शांति का अर्थ संघर्ष का दमन या अनुपस्थिति नहीं है। बल्कि शांति के सिद्धान्तवादी संघर्ष को मानव जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का सामान्य भाग स्वीकार करते हैं। शांति के विश्लेषणकर्त्ताओं का लक्ष्य यह निर्धारित करना है कि उन तरीकों में संघर्ष का नियंत्रण और समाधान कैसे किया जाए जिनमें अन्य मूल्यों, जैसे न्याय और स्वतंत्रता, को कम किए बिना हिंसा की संभावना या स्तर कम किया जा सके।

1.5.1 संरचनात्मक परिस्थितियाँ

बहुत लम्बे समय से चले आ रहे आंतरिक और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की जड़ें संरचनात्मक अन्याय में होती हैं। गंभीर संघर्ष असमान सामाजिक और आर्थिक प्रणाली के गर्भ में होता है जो लम्बे समय से बलपूर्वक किए गए शोषण को प्रतिबिम्बित करते हैं। दुर्बल वर्ग की सांस्कृतिक पहचानों, राजनीतिक स्वायत्तता और आर्थिक स्थिति नष्ट होती है जिसका सीधा संबंध प्रमुख शक्ति द्वारा उत्पन्न स्थितियों से होता है। यह अफ्रीका और एशिया में बहुत से उन उपनिवेशों में यूरोपीय साम्राज्य के शासन में दिखाई दिया था जहाँ पिछली शताब्दी में उनकी सैन्य शक्ति अधिक श्रेष्ठ थी।

उनके भिन्न-भिन्न शक्ति स्तरों के कारण, प्रणाली बनाए रखना उन दलों के हित के विरुद्ध था जो अलाभकारी स्थिति में थे। उन्होंने नए किस्म के संबंधों की तब माँग की जब उन्होंने स्थिति को अन्यायपूर्ण और शोषणकारी समझना आरंभ किया। फिर भी, जब तक या तो हिंसात्मक रूप में या अहिंसात्मक रूप में कुछ गंभीर किस्म की चुनौतियाँ उत्पन्न नहीं की जाती हैं, तब तक जो यथापूर्व स्थिति से लाभान्वित हो रहे हैं, उन्हें सुविधा-वंचित लोगों द्वारा उठाए गए मुद्दों को गंभीरता से लेने में कम रुचि होती है। यद्यपि कुछ समस्याओं की पूर्ति के लिए सुधारों का सुझाव दिया जा सकता है, भौतिक हिंसा का प्रयोग करके संघर्ष दबाया जा सकता है, परिणामस्वरूप एक पक्ष की इच्छा दूसरे पर हावी हो सकती है। राज्य द्वारा अव्यवस्था का सार्वजनिक भय दिखाकर या बताकर अवपीड़क साधनों के अनुरक्षण को वैध ठहराया जा सकता है। दंड की धमकियाँ और विरोधी संस्थाएँ अभिजात वर्ग नियंत्रित समाज की प्रमुख विशेषताएँ होती हैं, उन उपेक्षित लोगों की सामूहिक पहचानों का दमन किया जाता है जो आत्म-सम्मान और स्वायत्तता का अनुसरण करने का प्रयास करते हैं। शक्ति संबंधों के संस्थानिकीकरण द्वारा नेतृत्व बनाए रखा जाता है और उन मूल्यों को बनाए रखा जाता है जो अभिजात वर्गों के हितों को पूरा करते हैं।

आधुनिक समाज में असंतोष दिन-प्रतिदिन के जीवन में सामाजिक नियंत्रण से प्राप्त विभिन्न प्रकार के स्वत्व परिवर्तन से उत्पन्न होता है। आय और अवसरों की बढ़ती हुई असमानताओं के साथ-साथ वैध बनाई गई संरचनाएँ और नीतियाँ संघर्ष के मुख्य स्रोत के रूप में कार्य करते हैं। सामान्य हित के रूप में कानून और व्यवस्था की परम्परागत अवधारणाओं के बारे में एक बार जब बुनियादी मान्यताओं पर प्रश्न उठाए जाते हैं तो शासन करने तथा आज्ञा-पालन की आशा करने का सरकार का अधिकार स्वयं संघर्ष का कारण बन जाता है।

1.5.2 पारम्परिक प्रबंधन रणनीतियाँ

संघर्ष के पारम्परिक प्रबंधन में न्यायिक प्रणाली और अधिक व्यापक सार्वजनिक प्रशासन प्रणाली का सबसे अधिक संबंध यथापूर्व स्थिति के संरक्षण और विद्यमान संस्थाओं के अनुरक्षण से है। क्योंकि जो सत्ता में होते हैं, वे अपने प्राधिकार के लिए चुनौतियों की व्याख्या आदेश लागू करने की सुविधा के अनुसार करते हैं। संघर्ष प्रबंधन को इस रूप में देखा जाता है जिससे प्रणाली के बुनियादी मूल्यों को चुनौतियाँ कम से कम हो। सामाजिक व्यवस्था के स्वीकृत नियमों के अंदर संघर्ष व्यवहार बनाने के प्रयास किए जाते हैं। शक्ति असमानता के वैधीकरण के लिए मूल संघर्षों के अस्तित्व को भी प्रभावी ढंग से अस्वीकृत किया जा सकता है।

परम्परागत व्यवस्था में संघर्ष प्रबंधन उत्पीड़क नीति सुदृढ़ बनाने में तब सहायक होता है जब उसे प्रमुख सामाजिक मानदंडों के अनुरूप बनाया जाता है। राजनीतिक दृष्टि से दमनात्मक समाजों में स्वायत्तता की माँगों का उत्तर नए संबंधों की बातचीत के बदले उत्पीड़क प्रतिक्रिया से दिया जाता है। अंततः विद्यमान आदेश की वैधता को विरोधी घोषित किए गए समुदायों से मेल-मिलाप की अस्वीकृति द्वारा चुनौती दी जाती है जब सामाजिक श्रेणियों के कारण सहभागिता अस्वीकृत की जाती है। आगे चलकर धमकियों और

दंड का भय दिखाने वाले निवारक रणनीतियों का सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने में सीमित महत्व होगा क्योंकि सांस्कृतिक पहचान, सुरक्षा और मान्यता की आकांक्षाओं के दमन के कारण ही विरोध उत्पन्न हुआ है।

1.5.3 विवाद निपटारा और संघर्ष समाधान

विवाद समाधान दृष्टिकोण विवादों का निपटारा करने के लिए कानूनी क्रियाविधि और परम्परागत संधि वार्ता पर आधारित होता है। इसमें समझौते से समाधान करने का प्रयास किया जाता है। विद्यमान प्रणाली में मतभेदों को कम करके, विवाद निपटान से समाज को स्थिरता मिलती है, इससे दिन-प्रतिदिन के जीवन में स्वीकृत मानदंडों, मूल्यों और संस्थाओं की वैध भूमिका की पुष्टि होती है।

मूल्य और पहचान संघर्ष के समाधान के लिए विवाद निपटारा क्रियाविधि प्रभावी ढंग से प्रयुक्त नहीं की जा सकती। यह कर्ताओं (actors) और उनके संबंधों पर प्रभाव डाले बिना असंगति का समाधान करना पूर्णतः "संभव" है। समझौता संघर्ष उत्पन्न होने की प्रक्रिया का परीक्षण किए बिना किया जा सकता है। अभिकारक अपनी संरचना में बुनियादी तौर पर अप्रभावित रहते हुए कार्य जारी रखते हैं।

विवाद निपटान की तुलना में जो विरोधियों के बीच संदेह, और अविश्वास कम करने पर बल करता है, संघर्ष समाधान कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया से गुजरता है। विरोधी सौदाकारी में बहुधा विरोधियों द्वारा संघर्ष को शून्य स्थिति (zero sum situation) के रूप में माना जाता है जिसमें एक का लाभ दूसरे की हानि है। सहयोगात्मक समस्या समाधान दृष्टिकोण ऐसा समाधान ज्ञात करने के लिए अपनाया जा सकता है जिसमें दोनों पक्षों को लाभ हो।

समस्याओं के मूल कारणों के विश्लेषण से जटिल व्यवहार संबंधी संबंध (complex behavioural relationships) प्रकट करता है। मुद्दों में अंतर्निहित वास्तविक मामले पता करना सहयोगात्मक समस्या समाधान की ओर प्रारंभिक कदम हो सकता है। सभी पक्षों को स्वीकार्य संघर्ष समाधान संतोषजनक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर भविष्य में संघर्ष की पुनरावृत्ति को रोक सकता है।

1.5.4 संघर्ष रूपांतरण और शांति निर्माण

संघर्षों के संरचनात्मक रूपांतरण के लिए ऐसी संरचनाओं की पहचान करना और समर्थन दृढ़ करना आवश्यक है जो शांति को सुदृढ़ करना चाहते हैं। एक-दूसरे पर पारस्परिक निर्भरता की जागरूकता से सकारात्मक अवसर बढ़ाए जा सकते हैं। यदि भिन्न-भिन्न विचारों को समझने के लिए अवसर मिलते हैं तो ऐसे विरोधी संबंधों के मनोवैज्ञानिक आयामों को बदलना निस्संदेह संघर्ष बढ़ने से रोकने का अपरिहार्य भाग है। इसके अलावा, यदि एक ही पक्ष का प्रभुत्व जारी रहने दिया जाता है तो विद्वेष प्रतिस्पर्धा और उत्पीड़क प्रक्रियाएँ समाप्त करने के प्रयास निष्फल होंगे। नवनिर्मित संबंधन को सामाजिक परिस्थितियों के संरचनात्मक रूपांतरण का समर्थन प्राप्त होना चाहिए।

रूपांतरकारी ढाँचे में पहचान और शक्ति संबंधों पर संघर्ष समाधान की विद्यमान प्रक्रिया में पुनः बातचीत जारी रखी जा सकती है। संघर्ष की गतिशीलता विद्यमान हितों को बचाने के प्रयास से समाधान की ओर बढ़ाई जा सकती है। यथापूर्व स्थिति बनाए रखने से संघर्ष में कोई नाटकीय परिवर्तन नहीं होगा। रूपांतरकारी परिप्रेक्ष्य में, भूमिकाओं और संबंधन को कार्यों और अंतःक्रियाओं के नमूनों को अनुकूल बनाने की प्रक्रिया में बदलाव लाना आवश्यक है।

रूपांतरकारी परिप्रेक्ष्य में संघर्ष समाधान के लिए यथापूर्व स्थिति में भेदभावपूर्ण सामाजिक भूमिकाओं से उत्पन्न सुविधा-वंचितों की सहायता करना आवश्यक है। यदि संघर्ष संरचना में अन्याय मौजूद है तो उससे शक्ति असंतुलन की परिस्थितियों से निपटना आवश्यक है। न्याय को बढ़ावा देने के लिए शांति निर्माण

के उपाय के रूप में सामाजिक परिवर्तन सबसे अधिक उपयुक्त हैं जिससे मर्यादित मानव जीवन स्थापित किया जा सकता है।

अतः शांति निर्माण की तुलना मुख्यतया ऐसे नए सामाजिक वातावरण के निर्माण से की जा सकती है जो विश्वास की भावना को आगे बढ़ाता है और जीवन की दशा सुधारता है। अपमानजनक और आश्रित संबंध को पूर्णतः छोड़ने से शांति निर्माण का कोई सामंजस्य नहीं हो सकता है। संघर्ष रूपांतरण शांति निर्माण के लक्ष्य को प्रमुखता दे सकता है और उपेक्षित जनसमुदाय को आत्म-निर्भरता और हितलाभ प्राप्त होता है। इसलिए संघर्ष रूपांतरण का सफल परिणाम ही संरचनात्मक हिंसा के उन्मूलन में योगदान करता है।

1.6 शांति के अध्ययन के लिए कुछ उपागम

अस्त्र नियंत्रण और हिंसात्मक संघर्ष के प्रबंधन तथा निवारण का अध्ययन शांति अध्ययनों का सबसे अधिक पारम्परिक क्षेत्र रहा है। शांति शिक्षा ने अपने प्रारंभ में अस्त्रों की होड़, निरस्त्रीकरण और विनाशकारी संघर्ष तथा युद्ध पर बल दिया। परन्तु पिछले कुछ दशकों में शांति अध्ययन बहुत से उन साधारण व्यक्ति के कार्यकलाप से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहे हैं जो विश्व को बदलना चाहते हैं। आज शांति अध्ययनों में विशाल श्रेणी के उपागम और प्रयोग शामिल हैं। चिंतन के बहुत से ऐसे नए तरीके साधारण नागरिक के प्रयास से विकसित हुए हैं जिससे विश्व अधिक शांतिपूर्ण स्थान बन सकता है।

1.6.1 नारीवादी उपागम

महिलाओं के विरुद्ध स्पष्ट और प्रच्छन्न दोनों प्रकार की हिंसा की घटना पिछले तीन दशकों से शांति अध्ययन में महत्वपूर्ण विषय के रूप में उभरी है। नारी की छवि ऐतिहासिक दृष्टि से शांतिवाद से जुड़ी रही है। प्यार, करुणा और प्रशिक्षण नारी सुलभ गुणों ने शांति की अवधारणाओं को समृद्ध किया है। इसके अलावा, दमनकारी सामाजिक व्यवस्था के आमूल-चूल रूपांतरण के लिए नारी सुलभ मूल्यों के अनुप्रयोग शांति प्राप्त करने के लिए संघर्ष में महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में कार्य करता है।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा

यद्यपि महिला और पुरुष दोनों लिंग-भेद, प्रजातिवाद, मानव अधिकार दुरुपयोग और गरीबी के शिकार हैं, फिर भी कुछ विशेष प्रकार के दुर्व्यवहार हैं जिन्होंने पुरुषों की तुलना में महिलाओं को अधिक सताया है। पारिवारिक दुर्व्यवहार, हिंसा और महिलाओं का यौन शोषण और उनके प्रति भावनात्मक दुर्व्यवहार विश्व के बहुत से भागों में मुख्य समस्याएँ हैं। महिलाओं के विरुद्ध प्रत्यक्ष दुर्व्यवहार में बलात्कार और असंगठित मनमाना दुर्व्यवहार और संगठित तरीके में महिलाओं पर आक्रमण भी शामिल हैं। 1992 में जापान की सरकार ने स्वीकार किया था कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान की सेना ने कोरिया, फिलिपीन्स और एशिया में अन्य स्थानों से युवतियों को जापानी सिपाहियों की तथाकथित 'नारी सुख' सेवा करने के लिए विवश किया था। हजारों महिलाओं का बलात्कार और जान-बूझकर गर्भाधान, मुख्य रूप से बोसनिया-हेर्जेगोविना में मुस्लिम, सर्ब राष्ट्रवादियों द्वारा संचालित संजातीय परिमार्जन (racial cleansing) का रूप था। सरकार विरोधी विद्रोहग्रस्त देशों (जैसे पेरू, कोलम्बिया और अन्य स्थानों) में सुरक्षा बलों द्वारा महिलाओं पर हमलों की शिकायतें प्राप्त हुई हैं। फिर भी, अधिकांश सरकारें उनकी निन्दा करने या दंड देने में विफल रही हैं जिन्होंने बलात्कार और हत्याएँ कीं।

अति प्राचीन समय से ही बहुत से गरीब देशों में महिलाएँ संरचनात्मक हिंसा से अत्यधिक पीड़ित रही हैं। गरीबों में सबसे अधिक गरीब वे युवा विधवाएँ और बूढ़ी महिलाएँ हैं जिनमें घर का खर्च चलाने में क्षमता कम होती है। अत्यंत गरीबी और कठोर कार्य की दशाओं ने भी विशेष रूप से परिवार की महिला-मुखियाओं

पर उस घर-परिवार का भारी बोझ डाला है जिनमें उनकी सहायता करने के लिए कोई वयस्क पुरुष नहीं होता है। यहाँ तक कि समसामयिक समय में बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए युवतियाँ कठोर परिश्रम के लिए श्रमिक बल प्रदान करती थीं परन्तु उन्हें बहुत कम मज़दूरी दी जाती थी। विश्व के कुछ प्रदेशों में महिलाएँ पर्याप्त संख्या में किसान भी हैं। विशेषकर अफ्रीका में 80 प्रतिशत खाद्य सामग्री महिलाएँ पैदा करती हैं। फिर भी, बाजारोन्मुखी आर्थिक प्रणाली के प्रवेश ने उनके आर्थिक कार्यों का कम मूल्य देकर महिलाओं को समुचित आय से वंचित किया है।

लिंग पहचान और मूल्य

व्यक्ति पुरुष और महिला की जैव श्रेणियों में जन्म लेते हैं, वे स्थानीय रूप से परिभाषित पुरुष वर्ग और स्त्री वर्ग की विशेषताएँ प्राप्त करते हैं और फलतः उनके लिए रूढ़िबद्ध सामाजिक श्रेणियाँ नियत की जाती हैं। इसलिए लिंग को सामाजिक व्यवहार और गुणों से बहुत कुछ करना होता है।

पुरुष और स्त्री श्रेणियों की रचना को लिंग पहचानों से उत्पन्न होने वाले शक्ति संबंधों से जोड़ा गया है। मनोभाव, शरीर और स्वभाव के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्री की पहचान से जुड़े हुए हैं। नारी को बौद्धिक दृष्टि से भी दुर्बल समझा जाता है। पुरुषों से अपना पुरुषत्व सिद्ध करने के लिए राज्य की ओर से मरने और मारने की अपेक्षा की जाती है जबकि स्त्रियों को मुख्य रूप से पुरुषों से गठित सैन्य माँग पूरा करने के लिए आज्ञाकारी बनाया गया है।

प्रतिस्पर्धात्मक, संगठनात्मक और विशिष्ट पुरुषोचित मूल्य सोपानिक मानव संबंधों के प्रतिमान का समर्थन करते हैं। ये मूल्य प्रायः राज्यों के नौकरशाही, चर्चों, निगमों, राजनीतिक दलों और सेना में प्रतिबिम्बित होते हैं। राज्य निर्माण पुरुषोचित कार्य है जो हिंसक कार्रवाई के लिए प्रोत्साहित करता है। मनुष्यों को आक्रामक जैव वर्ग के रूप में माना जाता है, उन्हें युद्ध करने के लिए आदेश दिया जाता है और लड़ने के लिए प्रेरित किया जाता है। अस्त्रों की होड़ और अन्य राष्ट्रीय सुरक्षा प्राथमिकताएँ महिलाओं के अधीनीकरण के प्रमुख कारक हैं। सामाजिक कल्याण के लिए निर्धारित राशि सैन्य व्यय पर खर्च की जाती है और इससे महिलाओं की गरीबी अधिक बढ़ती है।

राजनीति और अन्य संस्थागत क्षेत्रों में महिलाओं के बढ़ते हुए प्रवेश और सफलता से यह स्पष्ट होता है कि प्राधिकार-भूमिका के लिए स्वीकार्य की रणनीति के रूप में महिलाओं द्वारा पुरुषोचित मूल्य अपनाने में वृद्धि हुई है। जैसा कि ब्रिटेन की पूर्व प्रधानमंत्री, मार्ग्रेट थैचर ने महिलाओं और बच्चों की उन्नत सामाजिक सेवाओं को, उन्नत करने के बदले, दुर्बल किया। उच्चतम सरकारी निर्णयकारी स्थितियों पर कई प्रमुख महिलाएँ शांति निर्माताओं के रूप में नहीं रही हैं। बल्कि युद्ध नायिकाओं के रूप में रही हैं। इज़रायल की तत्कालीन प्रधानमंत्री गोल्डामायर ने अरबों के विरुद्ध छह दिन का युद्ध जीता, इंदिरा गांधी को पाकिस्तान से युद्ध करने के लिए विवश होना पड़ा, और मार्ग्रेट थैचर ने अर्जेंटीना से विवाद में फाकलैंड द्वीपसमूह पर पुनः अधिकार करने के लिए सैन्य बल भेजा। महिलाओं का पुरुषोचित गुण अपनाया जाना यह सिद्ध करने का ऐसा प्रयास है कि महिलाएँ पुरुषों के लिए आरक्षित बहुत से कार्यों को कर सकती हैं। यह उन छोटे-छोटे पुरुषोचित अभिजात समूहों की सहायता करता है जो संस्थाओं का नियंत्रण करता है और राज्य कार्यों का संचालन करता है। परन्तु यह उन मानकों और प्रणालियों की चुनौती देने के लिए उनकी तथा समाज की क्षमता को अशक्त करता है जिसने स्त्रियोचित मूल्यों को काफी लम्बे समय से उपेक्षित रखा है।

हाल ही में, महिलाओं के लिए नए क्षेत्रों में से एक क्षेत्र व्यावसायिक सैन्य सेवा खुला है। विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका में महिलाएँ अप्रत्याशित संख्या में सशस्त्र सेवाओं में प्रवेश कर रही हैं। वे विभिन्न युद्धों में हाल ही की अमेरिकी सैनिक कार्रवाइयों की अपरिहार्य अंग सिद्ध हुई हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रमुख नारीवादी संगठनों ने व्यावसायिक समान अवसरों के आधार पर महिलाओं के लिए समाघात

(combat) के लिए पात्रता का समर्थन किया है। उनका विश्वास है कि उन्हें स्वाभाविक शांति निर्माताओं के रूप में चित्रित करना महिलाओं के अधीनीकरण को स्थायी बनाता है। अतः उनकी शांतिवादी छवि परिवर्तन करने के लिए उन्हें सशस्त्र बलों में भाग लेना चाहिए और नियंत्रण तथा शक्ति का यह मुख्य क्षेत्र पुरुषों के हाथ में ही नहीं छोड़ा जाना चाहिए।

फिर भी, सैन्य बलों में महिलाओं की अधिक भूमिका के विरोधी हमें स्मरण कराते हैं कि महिलाएँ सैन्यवाद की शिकार रही हैं। राज्य की सेवाएँ असमानता की प्रणाली बनाए रखने के लिए संगठित की जाती हैं। अतः महिलाओं को सैन्यकरण द्वारा रूपांतरित किए जाने की अधिक संभावना है। नारीवादी लक्ष्य अहिंसात्मक कार्यों के माध्यम से अच्छी तरह से प्राप्त किए जा सकते हैं।

शांति और नारीवाद के साझे उद्देश्य

हिंसा और वंचन (deprivation) के ढाँचे के प्रति उनकी संवेदनशीलता, शांति के महत्व समझने के लिए, पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को बेहतर स्थिति में रखती है। मानव सभ्यता के प्रायः सम्पूर्ण इतिहास में उन्होंने पालन-पोषण करने वाली माता और स्वाभाविक शांति निर्मात्री की भूमिका निभाई है।

नारीवादी चिंतक नारीवादी शांतिवाद और समाजवाद के बीच तर्कसंगत कड़ी पाते हैं। प्रबल सामाजिक व्यवस्था और युद्ध की अपरिहार्यता को चुनौती देकर शांति की नारी-जातीय धारणा हमारे समाज के सोपानीय स्वरूप को समुचित रूप से प्रकट करती है। प्रभुत्व और हिंसात्मक श्रेणीबद्ध प्रणाली सैन्य संस्थानों द्वारा उत्पन्न होते हैं जो कुछ सदस्यों के बीच उत्कृष्ट और निकृष्ट संबंधों पर निर्भर करते हैं। निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में हिंसा का उन्मूलन शांति प्राप्ति के लिए आवश्यक है। हिंसा से महिलाओं की मुक्ति का उद्देश्य युद्ध के विरुद्ध निरस्त्रीकरण और अभियान द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

शांति की नारीवादी अवधारणा का विस्तार सामाजिक न्याय, आर्थिक समता और पारिस्थितिकीय संतुलन की परिस्थितियों तक किया गया है। भावी सामाजिक परिवर्तनों के लिए समानता और लोकतंत्र का रूपांतरकारी महत्व होना चाहिए। पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता के संबंध, सभी लोगों के बीच समानता के लिए और प्रजातीय तथा पारिस्थितिकीय विनाश की समाप्ति के लिए नींव के रूप में काम कर सकते हैं। सभी प्रकार की हिंसा के विरुद्ध संघर्ष महिलाओं के अधिकारों के संवर्धन द्वारा बढ़ाया जा सकता है ताकि संसाधनों का समान वितरण प्राप्त किया जा सके और व्यक्ति को अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त हो सके।

भूमि, रोज़गार और अन्य संसाधनों तक महिलाओं की पहुँच समाज के कल्याणकारी उपायों का सूचक है। ऐसी सामाजिक संरचना में गरीबी और पिछड़ेपन पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती है जिसमें असमानता और हिंसा जन्म लेती है। शांति संबंध बदलने के प्रयास में महिलाएँ अपने दमनकर्त्ता के विरुद्ध अपनी भूमिकाएँ पुनः स्पष्ट करती हैं और अपनी पहचान के प्रति जागरूक हो उठती है। सामाजिक न्याय और विकास के लिए महिलाओं की पूरी सहभागिता की आवश्यकता होती है।

सुरक्षा की पुनःअवधारणा

प्रभुसत्ता की रक्षा के रूप में यथापरिभाषित, राष्ट्रीय सुरक्षा पौरुष के निर्माण के अंतर्गत बनाई जाती है। राष्ट्रीय सुरक्षा उन आवेगों को प्रतिबिम्बित करती है जो राज्य द्वारा नियंत्रित संगठित हिंसा के सैन्य प्रभुत्व का ढाँचा उत्पन्न करता है। परमाणु अस्त्रों के विकास का इतिहास इस बात का ज्वलंत उदाहरण है कि शक्ति का प्रयोग करने वाले कुछ व्यक्तियों का प्रभुत्व बहुत व्यक्तियों पर होता है। परमाणु बम परियोजना पुरुषोचित शक्ति और विनाश की पूर्ण विकसित छवि है। पितृसत्तात्मक सैन्य संस्कृति के प्रभाव में जनता सामान्यतया अस्त्र-दौड़ और अन्य राष्ट्रीय सुरक्षा प्राथमिकताओं को स्वीकार करती है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर सरकारें सार्वजनिक जानकारी के बिना अस्त्रों का विनिर्माण और गलत प्रयोग करने दिया जाता है, जैसा कि जन-आबादी पर परमाणु अस्त्रों के परीक्षण से स्पष्ट होता है।

नारीवादी मूल्यों ने सुरक्षा की अवधारणा का विस्तार किया है। इसमें पूर्ण मानव परिवार में फैली हुई रिश्तेदारी की धारणा पर आधारित सभी लोगों और सभी राष्ट्रों को शामिल किया गया है। दूसरा, वैचारिक रूपरेखा का उद्देश्य ऐसी व्यापक परिभाषा ग्रहण करना है जो जीवन सुरक्षा और जीवन की गुणवत्ता वृद्धि की वकालत करता है। तीसरा, नारीवादी उपागम में विरोधी राज्य केन्द्रित प्रणाली, स्वास्थ्य और उत्तम जीवन स्तर के लिए सर्वाधिक आधारभूत आवश्यकताओं के संरक्षण की परिस्थितियों पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। सैन्य आश्रित वर्तमान विश्व सुरक्षा प्रणाली स्वयं मानवता के प्रमुख संकट के रूप में देखी जाती है। सेना पर अत्यधिक व्यय करने से सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर दबाव पड़ता है। नारीवादी सुरक्षा एजेण्डा संगठित राज्य हिंसा से सुरक्षा और मानव सौहार्द की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करता है।

1.6.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था उपागम

राजनीतिक अर्थव्यवस्था उपागम अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली की राजनीतिक और आर्थिक संरचनाओं पर ध्यान आकर्षित करता है, जो राज्यों के बीच और उनके अंदर धन-सम्पत्ति के असमान वितरण की स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। पूँजीवाद के संरचनात्मक प्रभुत्व के फलस्वरूप धनी वर्ग द्वारा शोषण किया जाता है। वस्तुगत समृद्धि में सुधार की माँग का समायोजन करने में विद्यमान संरचनाओं की अक्षमता समाज में विभाजन पैदा करती है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था उपागम आधुनिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था और सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के लिए उसके प्रभावों का विश्लेषण करता है।

आर्थिक असमानता

विश्व को आय के अंतर द्वारा धनी और निर्धन में विभाजित किया गया है। विश्व जनसंख्या के 20 प्रतिशत सबसे अधिक धनिकों की आय का भाग 1960 और 1991 के बीच 70 प्रतिशत से बढ़कर 85 प्रतिशत हो गया था। पृथ्वी पर लगभग 1 अरब 30 करोड़ लोगों की आय 150 अमरीकी डॉलर प्रति व्यक्ति से कम है। धनवान औद्योगिक देशों में विश्व की जनसंख्या के एक-चौथाई से भी कम लोग रहते हैं परन्तु वे विश्व में उत्पादित सामग्री का तीन-चौथाई से भी अधिक का उपयोग करते हैं। फिर भी, भोजन की आवश्यकता और अन्य बुनियादी आर्थिक आवश्यकताएँ विश्व के बहुत से भागों में पूरी नहीं हो पाती हैं। पोषण से वंचित और पीड़ित लोगों की संख्या लगातार बढ़ी है। बहुत से गरीब देशों में जन-समुदाय की निरक्षरता का उच्च स्तर है और शिक्षा के उपयुक्त स्तर का अभाव है। जीवन की ये दयनीय परिस्थितियाँ आर्थिक प्रणालियों की विफलता के कारण हुई हैं।

मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था और वर्ग संबंध

यदि वंचित लोगों के लिए अवसर उत्पन्न करने हैं तो समान भूमंडलीय आर्थिक व्यवस्था आवश्यक है। परन्तु गरीबों और धनवानों के बीच खाई को कम करने के लिए उपायों के बारे में कई तर्क दिए गए हैं।

पारम्परिक आर्थिक उदारवाद में, सार्वभौमिक नियम है कि सभी के लिए समुचित सम्पत्ति और सुख व्यक्तिवाद और सम्पत्ति अर्जन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। बाजार विनिमय से व्यक्तियों का स्वार्थ पूरा करने की आशा की जाती है जबकि सभी के लाभ के उपाय उपलब्ध किए जाते हैं। सरकार की भूमिका मुक्त बाजार समाज को प्रोत्साहित करने के लिए और निजी सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा करने के लिए राजनीतिक वातावरण विकसित करने की होती है। आर्थिक कार्यकलापों पर बाजार मूल्यों के नियंत्रण से शोषण के बारे में कोई चिन्ता नहीं होती है। बहुधा इस बात की अनेदखी की जाती है कि खुली प्रतिस्पर्धा उनके अनुकूल होती है जो कानून एवं नियम निर्धारित करते हैं और जिनमें प्रणाली को प्रभावित करने की क्षमता होती है। नैतिक आयाम पूँजीवादी समाज के सामाजिक कलन में प्रमुख रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं।

मार्क्सवादी व्याख्या में मुक्त बाजार क्रियाविधि पर आधारित पूँजीवाद अर्थव्यवस्था संगठित करने का मात्र तरीका नहीं है परन्तु इसमें अशक्त वर्ग अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए राज्य, संस्कृति और धार्मिक संस्थाओं का नियंत्रण करता है। मार्क्सवाद दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों के बीच संबंधों के आधार पर सामाजिक संरचना का विश्लेषण करता है। इनमें से एक श्रमजीवी सर्वहारा वर्ग है जिसमें वे कामगार शामिल हैं जो अपने शारीरिक श्रम से मज़दूरी कमाते हैं और दूसरा पूंजीपति (बूर्जुआ) वर्ग है जिनका उत्पादन में निवेश करने के लिए आवश्यक पूँजी पर एकाधिकार है। कामगारों को जितने के वे पात्र हैं, उससे कम भुगतान कर पूँजीवादी वर्ग श्रमिकों द्वारा उत्पादित अधिशेष मूल्य (surplus value) को ले लेते हैं। संघर्ष के कारण और प्रेरक शक्ति समाज में विद्यमान असमानता है और हिंसा इन वर्गों के बीच संघर्ष की अभिव्यक्ति है। वर्ग संघर्षवाद का समाधान समान समाज की प्राप्ति से हो सकता है जिसमें कोई शोषणकारी आर्थिक संबंध नहीं है। चूँकि शासक वर्ग के विरुद्ध लड़ने में व्यक्तिगत कार्रवाइयाँ अप्रभावी होगी, इसलिए जनसमूह में एकता बनाना महत्वपूर्ण है। सर्वहारा को वर्गहीन और मैत्रीपूर्ण समाज प्राप्त करने के लिए संघर्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक बल के रूप में स्वीकार किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद और युद्ध

आर्थिक प्रगति और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के बीच संबंध विदेशी बाजार और कच्चे माल की खोज के लिए औद्योगिक राज्यों की आवश्यकता द्वारा स्पष्ट किया गया है जिसे उदारवादी विचारकों द्वारा स्वयं बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण माना गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन हाब्सन ने निष्कर्ष निकाला कि घरेलू आर्थिक गतिविधियों की संतृप्ति, पूँजीवाद की रक्षा में विस्तारवादी नीतियों के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। अनियंत्रित पूँजीवादी उत्पादन से होने वाले अधिशेष माल के लिए बाजार ढूंढ़ने की आवश्यकता तथा बढ़ी हुई उत्पादकता की प्रतिस्पर्धा करने की आवश्यकता का परिणाम साम्राज्यवाद है। विदेशी बाजारों और कच्चे माल की खोज में औपनिवेशिक शक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की प्रेरक शक्ति रही है।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारक साम्राज्यवाद को पूँजीवादी राज्यों की आर्थिक संरचना का कारण मानते हैं। निम्न घरेलू खपत का संकट (जो अपरिहार्य रूप से अन्यायपूर्ण आर्थिक संबंधों से उत्पन्न होता है), ऐसे राज्य अधिशेष माल और पूँजी निवेश के लिए बाहरी बाजार ढूँढने के लिए विवश होते हैं। लेनिन के अनुसार अधिशेष माल और वित्तीय निवेशों के लिए बाहरी बाजार पूँजीवाद की उत्तरजीविता के लिए आवश्यक है। इस प्रकार साम्राज्यवाद विश्वव्यापी मात्रा में पूँजीवाद के विस्तार का अपरिहार्य परिणाम है। अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के उदय से पूँजीवाद में अंतर्निहित अंतर्विरोध ने, विशेषकर कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में धन के संकेन्द्रण ने उन्हें विश्वव्यापी स्तर का बनाया है और इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता असमानताएँ विकसित होती हैं। और एक राज्य की कीमत पर दूसरे राज्य की समृद्धि होती है। लेनिन के अनुसार युद्ध की समाप्ति विश्व क्रान्ति द्वारा निर्माण किए जाने वाले वर्गहीन समाज में होगी।

आर्थिक एकीकरण और भूमंडलीकरण (वैश्वीकरण)

पिछले दो दशकों की सबसे अधिक सुस्पष्ट विशेषताओं में एक है, भूमंडलीय आर्थिक एकीकरण की ओर झुकाव। पूँजीवाद का अन्तर्राष्ट्रीयकरण, नए राजनीतिक गठबंधनों की रचना, सामाजिक मूल्यों का रूपांतरण और वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी की प्रगति में तेज़ी ने इस प्रक्रिया को आसान बनाया है। निजीकरण और उदारीकरण कार्यक्रमों के माध्यम से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के संवर्धन ने विश्वव्यापी आर्थिक एकीकरण की गति तेज़ की है। इसने पूँजीवाद प्रधान सामाजिक-आर्थिक असमानता के स्थायीकरण को व्यापक रूप से प्रोत्साहन दिया है।

NMDC288

आर्थिक भूमंडलीकरण अनियमित विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था की गतिशीलता के अनुकूल राष्ट्रीय नीतियाँ समायोजित करने में राज्यों की भूमिका कम करता है। राज्य मुख्य रूप से मुक्त बाजार क्रियाविधि के लिए कानूनी और राजनीतिक रूपरेखा लागू करने में व्यस्त रहता है। औद्योगिक राज्यों ने संविदाएँ लागू करके और विश्व-भर में बाजार नियम लगाकर राजनीतिक शक्ति के साधन का प्रयोग करके निजी उद्यमों का समर्थन किया है। दूसरी ओर, समाज के महत्वपूर्ण तत्वों को बहुत से सार्वजनिक आर्थिक कार्यों का निजीकरण उपेक्षित किया गया है। मुक्त व्यापार प्रणाली पर आधारित आर्थिक भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में मुख्य मुद्दा वितरण नहीं रहा है।

भूमंडलीकरण ने समृद्ध और वंचित दोनों आर्थिक क्षेत्रों को उत्पन्न किया है। प्रौद्योगिकी क्षेत्र में मूल्य आधारित उत्पादकों की विविध किस्मों का उत्पादन करने की क्षमता, दक्षता– प्राप्त मूल कार्य बल ने उत्तम वेतन के साथ-साथ रोज़गार भी निश्चित किए हैं। फिर भी, परम्परागत आर्थिक क्षेत्रों में विश्व-भर में फैले हुए उत्पादन इकाइयों की बहुलता वाले क्षेत्रों में बहुत से विशेष योग्यता रहित, कम मज़दूरी पर श्रमिकों को काम पर रखा जाता है। गरीब महिलाएँ और बच्चे बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए कार्य कर रहे हैं जिनकी उत्पादन सुविधाएँ, न्यूनतम मज़दूरी की अपेक्षिताएँ और उनके मूल के देशों में अन्य श्रम मानकों से बचने के लिए तीसरे विश्व में चली गई हैं। सस्ती मज़दूरी का तुलनात्मक लाभ सबसे अधिक आक्रमणशील और दमनकारी राज्यों को मिलता है, जैसे चीन, मलेशिया और अन्य उन नए औद्योगिक देशों में जो उत्तरी अमेरिका और यूरोप में बेची गई उपभोक्ता वस्तुओं के प्रमुख निर्यातक हैं। इन देशों में श्रम अनुशासन सख्ती से लागू किया जाता है, राजनीतिक स्थिरता बनाए रखने और सहायता पूँजी संचय बनाए रखने के लिए कामगारों के अधिकारों पर कठोर प्रतिबंध होते हैं।

सामाजिक संक्रमण

विश्व में आज बहुत से गरीब देश पूर्व यूरोपीय उपनिवेश हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की प्रमुख संरचना से शोषण और असंतोष के वर्षों के अनुभव के साझीदार रहे हैं। आधुनिक रूपांतरण पूरा करने में प्रमुख संस्थागत संबंधों के रूप में पूँजीवाद ने मूल (देश) अर्थव्यवस्थाओं को नष्ट कर दिया है। तृतीय विश्व में, आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की परम्पराओं को दर-किनार किया गया, स्थानीय विनिमय संबंध समाप्त किए गए और स्वामित्व के सामूहिक रूप तोड़ दिए गए। परम्परागत जीवन के क्षेत्र में बाजारों के विस्तार ने उन परिवारों की संख्या में वृद्धि की जो नए आर्थिक संबंधों में एकीकृत होने की प्रक्रिया में जीवन निर्वाह उपायों पर नियंत्रण खो रहे थे। सामग्री उत्पादन ने कंगाल किसानों, चरवाहों और महिलाओं को अनुपजाऊ भूमि अपनाने के लिए विवश किया।

विश्वव्यापी आर्थिक विस्तार ने देश के अंदर सामाजिक बिखराव और विखंडन की दशाएँ उत्पन्न कीं। आर्थिक निर्णय परिवार, लिंग और सामाजिक संबंधों से तथा सांस्कृतिक संबंधों से भी अलग रखे गए। नकदी अर्थव्यवस्था में समावेशन से महिलाओं की परम्परागत उत्पादनकारी कार्यों का अवमूल्यन होता है। आर्थिक सीमांतिकता (वंचितता) की लागतों में सामाजिक ध्रुवीकरण और आंतरिक अंतःसंबंधों की क्षति भी शामिल है।

1.6.3 पर्यावरण संबंधी उपागम

शांति अध्ययन के लिए पर्यावरण संबंधी उपागम यह निर्दिष्ट करता है कि जैव पर्यावरणीय प्रणाली से मनुष्य का असंतुलित संबंध मानव उत्तरजीविता के लिए संकट का स्रोत है। मानवों के पास हमारी पृथ्वी को क्षति पहुँचाने की क्षमता है जो सभी प्राणियों की जीवनदायी प्रणाली की सहायता करता है। पृथ्वी और उसके पर्यावरण को की गई क्षति शांति की परिस्थितियों की जाँच का महत्वपूर्ण क्षेत्र है। अब हिंसात्मक संघर्ष के स्रोत के रूप में पर्यावरणीय संसाधनों की दुर्लभता पर भी अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है।

विश्वव्यापी पर्यावरण ह्रास के कारण पृथ्वी के बहुत से भागों में जीवन की गुणवत्ता में भी ह्रास हुआ है। ग्रीन हाउस प्रभाव, नदी और महासागर प्रदूषण, निर्वनीकरण और जैव-विविधता की विकृति मनुष्य के कार्यकलापों के विस्तार से जुड़े हुए हैं जो जीवनदायी पारिस्थितिकी तंत्रों को संकट में डाल सकते हैं। ग्रीन हाउस प्रभाव से सम्बद्ध विश्व व्यापी तापन (Global warming) वायुमंडल में कार्बनडाइ-ऑक्साइड, मैथीन और नाइट्रोजन के संचयन के कारण होता है। यह मुख्य रूप से वाहनों और उद्योगों द्वारा जीवाश्म ईंधनों के जलाने के कारण होता है। यह विश्व के उन वनों के विनाश से बढ़ा है जिनमें वायुमंडल से कार्बन हटाने की प्राकृतिक क्षमता थी। रेफ्रिजेटरों में शीतलकों (कूलैण्टों), उद्योग में विलायकों और एयरो सोल स्प्रे में प्रोपलेण्टों के रूप में प्रयुक्त गैसों (जैसे क्लोरोफ्लूओरो कार्बन्स (CFCs)) का समतापमंडलीय ओज़ोन की क्षति में बड़ा हाथ होता है। इसके परिणामस्वरूप हानिकारक सौर किरणों के स्तर बढ़ जाते हैं। अण्टार्टिक के ऊपर ओज़ोन परत पतली हो गई है और उसमें अधिक बड़ा छेद है। पारिस्थितिकीय प्रणाली पर निर्वनीकरण, मरुस्थलीकरण, प्रदूषण, अत्यधिक मछली पकाना और अति चराई का प्रभाव हमारी पृथ्वी की जैव विविधता के लिए संकट उत्पन्न करता है। वनों की क्षति प्रत्यक्ष रूप से विश्व की जैविक विविधता को प्रभावित करती है। इसके कारण पादपों और जन्तुओं की विशाल संख्या लुप्त हो जाती हैं। ताजे जल की दुर्लभता और दुरुपयोग मनुष्य के स्वास्थ्य, कल्याण, भोजन दुर्लभता और सम्पूर्ण पारिस्थितिकीय प्रणाली के लिए एक अन्य गंभीर संकट खड़ा करता है। विश्व की लगभग एक-चौथाई जनसंख्या को स्वच्छ और सुरक्षित जल की कमी है। विषाक्त रसायन और अपशिष्ट तथा वायुमंडलीय प्रदूषण का भी जल की गुणवत्ता पर बड़ा प्रभाव होता है जैसा कृषि संबंधी प्रयोग और निर्वनीकरण करता है।

जनसंख्या में तीव्र वृद्धि, विशेषकर विकासशील देशों में, आर्थिक प्रगति को पीछे छोड़ देती है, जीवन-स्तर को बिगाड़ देती है और इसका परिणाम गंभीर पर्यावरणीय ह्रास होता है। लाखों-करोड़ो गरीबों को भूमि का अत्यधिक उपयोग करना पड़ता है तथा वनों की लूट-खसोट करनी पड़ती है। भूमि की वहन क्षमता, जो यह निर्दिष्ट करती है कि क्षेत्र अपनी क्षमता से समझौता किए बिना कितने लोगों का भविष्य में भी निर्वाह कर सकती है, विकासशील देशों में तेज़ी से बिगड़ रही है। तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या से पृथ्वी धीरे-धीरे वहन क्षमता से अतिभार की ओर बढ़ रहा है। भावी पीढ़ियों के लिए संदेश के संसाधन आधार संभालने की दीर्घकालिक क्षमता पर वर्तमान खपत और उत्पादन गंभीर रूप से बाधा डाल रहा है।

जल और वायु का संचलन (आना-जाना) राष्ट्रीय सीमाओं में कोई भेद नहीं करता है। बहुधा इन उभयनिष्ठ संसाधनों का उत्तरदायित्वहीन प्रयोग उस पर्यावरण के लिए क्षति पैदा करता है जो दूसरों के हैं। उदाहरण के लिए, स्केन्डिनेविया के वन और झीलें यूरोप के अन्य भागों में औद्योगिक प्रदूषण द्वारा उत्पन्न किए गए अम्ल वर्षा से ग्रस्त हैं।

अनियंत्रित संसाधनों के अत्यधिक उपयोग करने की प्रवृत्ति है और इससे टिकाऊ नियंत्रण के लिए विनाशकारी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि समाज के सदस्य अधिकतम लाभ प्राप्त करने के प्रयास में अपने ही स्वार्थ का अनुसरण करते हैं तो शीघ्र ही कुछ भी शेष नहीं रहेगा। अभी हाल के वर्षों तक महासागरों में व्हेल (Whales) मछलियों के अनियंत्रित शिकार से वे वास्तव में लुप्त होने की दशा में आ गई थीं। अर्थात साधारणतया सामान्य व्यक्तियों की पहुँच के लिए सहभाजित संसाधनों और महासागर और बाह्य अंतरिक्ष सामान्य कल्याण की रक्षा करने के लिए निजी लाभ पर अंकुश रखना आवश्यक है।

संसाधन दुर्लभता और संघर्ष

सीमित या असमान रूप से वितरित संसाधनों के कारण हिंसात्मक संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। संसाधनों की दुर्लभता बढ़ने के कारण जीवन के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है। फलस्वरूप सामाजिक अशांति और युद्ध की संभावना बढ़ जाती हैं। बहुत से किसानों को पारिस्थितिकीय (ecological) रूप से अति

संवेदनशील भूमि पर जाने के लिए विवश होना पड़ता है। जबकि कुल जनसंख्या के शीर्ष के दो प्रतिशत का ब्राज़ील में 60 प्रतिशत से अधिक भूमि पर नियंत्रण है। विश्व के बहुत से क्षेत्रों में जहाँ संसाधन मानव जनंसख्या का भरण-पोषण करने में अक्षम हैं, उर्वर कृषि भूमि, वनों और जल पर नियंत्रण का दावा करने या नियंत्रण करने के प्रयासों ने राज्य के अंदर और राज्यों के बीच संघर्ष उत्पन्न किए। इज़राइल और अरबों के बीच जल संघर्ष जॉर्डन नदी के उपयोग से जुड़ा हुआ है और संघर्ष के बड़े संदर्भ का भाग है।

संसाधन के बिगड़ते हुए आधारों के साथ-साथ तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या समूह संघर्ष के लिए अस्थिर सामाजिक स्थिति उत्पन्न करती है। निर्वनीकरण, मरुस्थलीकरण, सूखा, मृदा अपरदन और बाढ़ जैसे पर्यावरण संबंधी परिवर्तनों के कारण जनसंख्या विस्थापन हो सकता है। उदाहरण के लिए, अफ्रीका में राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार पारिस्थितिकीय शरणार्थियों के आवागमन के पीछे बाध्यकारी शक्ति मरुस्थलीकरण है। आतिथेय पर्यावरण की क्षमता से अधिक जनसंख्या का आगमन होता है और दुर्लभ संसाधनों की असमान उपलब्धता के कारण समूह प्रतिस्पर्धा बढ़ती है।

शिकायतों का स्तर बढ़ने के साथ सामूहिक पहचान तेज़ होने लगती है। आर्थिक प्रक्रियाओं का सामना करने के लिए राज्य की दुर्बल क्षमता, समूहों के बीच विभाजन को अधिक गहरा बना देती है। विभिन्न समूहों की माँगों में बढ़ोतरी होती है। इससे सरकार के वित्तीय संसाधनों पर दबाव बढ़ता है। सीमांतिक समूहों की मांगों की पूर्ति में सरकार की विफलता या अक्षमता विद्रोह को बढ़ावा देती है जो राज्य की वैधता के लिए चुनौती बन जाती है।

पर्यावरणीय सुरक्षा

हाल ही के वर्षों में, संसाधनों की पर्यावरण संबंधी दुर्लभता का सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों को कम करना राष्ट्रीय सुरक्षा का महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। फिर भी, राष्ट्रीय सुरक्षा एजेंडा में पर्यावरण को जोड़ने का अभिप्राय यह नहीं है कि नीति निर्माताओं ने बल के प्रयोग पर आधारित, यदि महत्वपूर्ण हितों के संरक्षण के लिए आवश्यक हो, तथा परम्परागत मान्यताएँ त्याग दी हैं।

यद्यपि सुरक्षा की परम्परागत अवधारणा की राष्ट्रीय स्तर पर विशिष्ट चिंताएँ हैं फिर भी, पृथ्वी की सुरक्षा सम्पूर्ण प्रणाली की संरचना पर निर्भर करती है। पृथ्वी पर शांति पारिस्थितिकीय संतुलन के बिना प्राप्त नहीं हो सकती है। राष्ट्र-राज्य और सुरक्षा के परम्परागत सिद्धान्त से किसी भी प्रकार का संयोजन परम्परा के स्थायी नियंत्रण के लिए बाधा प्रस्तुत कर सकता है। वास्तव में युद्ध की ऐसी हिंसात्मक रणनीतियों जैसे सर्वक्षार नीति अभियानों (scorched-earth compaigns), अस्त्र परीक्षण कार्यक्रमों द्वारा पर्यावरण पर अत्याचार किया गया है। औद्योगिक विश्व की उपभोगमूलक समृद्धि और विकासशील विश्व की गरीबी दोनों पर्यावरण विनाश कर रही हैं। क्षत-विक्षत पर्यावरण विश्वव्यापी समानता की संभावना को एक ओर रखते हुए अमीर और गरीब दोनों के भावी विकास की संभावनाओं का समान रूप से विनाश कर सकता है।

स्थानीय तथा भूमंडलीय पर्यावरण की सुरक्षा भी हमारे निरंतर बढ़ते हुए अन्योन्याश्रित विश्व के सम्पूर्ण आर्थिक विकास का अभिन्न अंग होना चाहिए। स्थायित्व केवल एक ही देश में प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि पारिस्थितिकीय समस्याएँ किसी भी प्रकार की भौगोलिक सीमाओं को नहीं मानती हैं। सतत् विकास केवल विकासशील राष्ट्रों के लिए नहीं होना चाहिए बल्कि औद्योगिक राष्ट्रों के लिए भी होना चाहिए।

1.7 सारांश

इस इकाई में हमने शांति और संघर्ष के स्वरूप और संदर्भ का विवेचन किया है। इसमें शांति अध्ययन के लिए हमने शांति और संघर्ष की दो प्रमुख अवधारणाओं और तीन प्रमुख उपागमों पर ध्यान केन्द्रित किया है। ये उपागम हैं - नारीवादी, राजनीतिक अर्थव्यवस्था, और पर्यावरण संबंधी उपागम। जैसा कि हमने देखा, शांति की नकारात्मक अवधारणा में शांति व्यक्तियों, समूहों और सरकारों के बीच (शारीरिक,

मौखिक और मनोवैज्ञानिक) प्रत्यक्ष हिंसा की अनुपस्थिति से संबंधित है। शांति की सकारात्मक अवधारणा में शांति हिंसा की अनुपस्थिति की अपेक्षा अधिक है। यह समान अवसरों, शांति और संसाधनों का सुस्पष्ट समान संरक्षण और कानून के निष्पक्ष प्रवर्तन के माध्यम से सामाजिक न्याय की मौजूदगी है। इसलिए यदि संसाधनों की नकारात्मक अवधारणा का प्रयोग और प्रभाव तथा अस्त्र शांति है तो सकारात्मक शांति में युद्ध हिंसा और अन्याय के कारणों के मूल रूप से उन्मूलन और उसके पक्ष समर्थन में अंतर्निहित है। इसमें इन प्रतिबद्धताओं को प्रतिबिम्बित करने वाले समाज के निर्माण के सतर्क प्रयास भी अंतर्निहित हैं।

तदनुसार शांति प्राप्त करने के लिए शांति की इन अवधारणाओं के अनुयायियों के प्रयास भिन्न होते हैं। पूर्ववर्ती वास्तविक और संभावित हिंसा को नियंत्रित करने, रोकने और कम करने के लिए वे अंतर्वैयक्तिक और संगठनात्मक संघर्ष प्रबंधन पर अपने प्रयास केन्द्रित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे युद्ध की घटना कम करने या अस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण उपायों द्वारा युद्ध रोकने का प्रयास करते हैं। सकारात्मक शांति के अनुयायी अन्तर्राष्ट्रीय कानून, बहुपक्षीय संधियों के अनुपालन, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों का प्रयोग, विवादों का अहिंसात्मक समाधान, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, व्यापार और संचार में सहभागिता द्वारा विश्व व्यवस्था में शांति स्थापना के प्रयास केन्द्रित करते हैं। वे सामाजिक समानता और न्याय, आर्थिक समानता, पारिस्थितिकीय संतुलन तथा बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर अप्रत्यक्ष हिंसा उन्मूलन पर भी जोर देते हैं।

इस इकाई में शांति के अध्ययन के लिए नारीवाद, राजनीतिक अर्थव्यवस्था और परम्परा संबंधी उपागमों का भी विवेचन किया गया है। यद्यपि चर्चा के लिए वे चुने गए तीनों उपागमों और विषय-वस्तु पर अलग-अलग बल देते हैं। वे सभी व्यक्तियों को अंतःसंबंधित मानते हैं और इसलिए सकारात्मक शांति के वैकल्पिक प्रतिमानों के रूप में श्रेणीबद्ध किए जा सकते हैं।

1.8 अभ्यास प्रश्न

1) उपयुक्त उदाहरणों सहित प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा के बीच अंतर बताइए।

2) शांति प्राप्त करने के लिए सुझाई गई कार्रवाई के विशेष संदर्भ में सकारात्मक शांति की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

3 पारम्परिक संघर्ष प्रबंधन रणनीतियों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

4) शांति के अध्ययन के लिए नारीवादी उपागम की मुख्य विशेषताओं का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

5) सुरक्षा के लिए पर्यावरण संबंधी उपागम के विचार से संघर्ष के मुख्य स्रोत क्या हैं?

इकाई 2 शान्ति और संघर्ष का अवधारणात्मक विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 मानव स्वभाव

2.3 शान्ति

2.4 राज्य, समाज और शान्ति

2.5 शान्ति के साधन के रूप में राज्य

2.6 नागरिक समाज का आयाम और शान्ति

2.7 शान्ति की नकारात्मक और सकारात्मक अवधारणा

2.8 सारांश

2.9 अभ्यास प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

शान्ति और संघर्ष शब्द एक-दूसरे के विपरीत हैं जैसे प्रकाश और छाया तथा इसी प्रकार के कई अन्य विरोधी शब्द होते हैं। तथापि एक ओर शान्ति और दृष्टिकोण के बीच एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर है दूसरी ओर, प्रकाश और छाया के बीच भी अंतर है। प्रकाश और छाया युग्म (जोड़े) के मामले में यह नहीं बताया जा सकता कि पहले कौन आता है। क्योंकि यह प्रकाश ही है जो सर्वप्रथम छाया को उत्पन्न करता है। परन्तु शान्ति और संघर्ष के बारे में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। साधारणतया शान्ति की बात केवल हिंसा अथवा संघर्ष के पहले से ही मौजूद रहने के संदर्भ में कही जाती है। जब संघर्ष और इसका बाह्य रूप सामाजिक व्यवस्था पर मानव की अंतरात्मा को लगातार बाधित करता है तो शान्ति की मौजूदगी में प्रशंसा हो सकती है तथा स्थायी मानदंड सबसे आगे आते हैं।

शान्ति के लिए इच्छा तथा इसकी मौजूदगी और इसे बनाए रखने के लिए प्रार्थनाएँ प्राचीन काल से ही सभी आध्यात्मिक अथवा धार्मिक परम्पराओं का सामान्य मूल विषय रही हैं। "ॐ शान्ति शान्ति शान्ति वैदिक काल से ही हिन्दू प्रार्थनाओं का मूल-मंत्र रहा है।" पृथ्वी पर शान्ति और समस्त मानवजाति का कल्याण "शामी विश्वासों (semitic faiths) तथा इसी प्रकार यहूदियों, ईसाइयों और इस्लामी विश्वासों की उत्तम आकांक्षा है।

आंतरिक और बाहरी शान्ति की अभिलाषा बौद्ध धर्म और जैन धर्म की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है। फिर भी, यह पूछा जा सकता है कि क्या शान्ति के लिए ऐसी प्रार्थनाएँ मानव दशा की अभिव्यक्ति हैं जोकि मानव स्वभाव (यहाँ तक की प्रकृति स्वयं भी) से घिरी रहती हैं अथवा मानव के लिए केवल आदेश हैं। मानव प्रकृति और शान्ति तथा संघर्ष के लिए इसकी प्रवृत्ति असहमतियों से ग्रस्त है। यहाँ तक कि बुनियादी प्रश्न कि क्या "मानव का कुछ 'सत्य' अथवा सहज स्वभाव है .....अथवा ऐसा कोई 'अनिवार्य' मानव स्वभाव नहीं है?" इस संबंध में धार्मिक चिंतकों, दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों में कोई सहमति नहीं है।

NMDC-288

इस प्रकार, प्राचीन समय से ही जब मानव जाति ने मानव दशा पर चिंतन करना प्रारंभ किया था, तभी से ही शान्ति और संघर्ष की समस्याओं ने चिंतकों के समक्ष लगातार चुनौती पैदा की है। कोई भी कह सकता है कि संघर्ष की उपस्थिति व्यापक है जो शान्ति की इच्छा को प्रोत्साहित करती है तथा मानव कार्यों में शान्ति प्राप्त करने के प्रयासों को आगे बढ़ाती है।

यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि शान्ति के आह्वान के अनुरूप, सभी धार्मिक परम्पराएँ मानव अस्तित्व में चिरस्थायी समस्या के रूप में बुराई की प्रति-शक्ति (counter force) को भी मानती हैं। ईसाई धर्ममीमांसा (Theology) में इसे ईशशास्त्र (Theodicy) कहा जाता है। संसार में हिंसा और दुख क्यों होने चाहिए? प्राकृतिक कारणों की तरह से मानव अभिकरण (माध्यम) से क्यों पैदा होना चाहिए? क्या इसे मानव दशा में काबू किया जा सकता है? अन्य धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं ने इसी तरह के प्रश्न पूछे हैं। हम सभी अनुभव करते हैं कि ये प्रश्न पृथ्वी पर शान्ति के लिए आरोपों-प्रत्यारोपों के साथ चलते हैं।

वे एकमात्र धार्मिक चिंतक ही नहीं थे जो शान्ति और संघर्ष के परस्पर विरोधी युग्म (जोड़े) में जकड़े (उलझे) हुए थे। धर्मनिरपेक्ष विचारधारा में भी इस समस्या का प्रमुख स्थान है। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारत में लोकमत सिद्धान्त (जिसने धार्मिक अन्वेषण को मानव दशा के लिए अप्रासंगिक मानकर अस्वीकार कर दिया) मानव के अस्तित्व की विपत्तियों और दुखों से जकड़े हुए थे। इसी तरह, बुराई, पाप और संघर्ष की धर्म-आधारित व्याख्याओं को नकारते हुए अन्य दार्शनिक परम्पराओं में इसी तरह की बाते हैं जिन्होंने मानव-अस्तित्व में संघर्ष की दुर्दशाओं और शान्ति के लिए संभावनाओं पर बल दिया। शान्ति और संघर्ष की समस्याओं पर अत्यधिक समकालीन दर्शन के साथ धार्मिक व्याख्या से स्वयं को दूर रखते हुए, इस क्षेत्र में चिंतन (विचारधारा) का धर्मनिरपेक्षीकरण (secularisation) प्राथमिक प्रतिमान (paradigm) बन गया है। इस अन्वेषण (quest) में मानव विज्ञान/नृविज्ञान (Anthropology), समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीति विज्ञान साथ-साथ आ गए हैं।

कोई भी यह कह सकता है कि चिंतन की धर्मनिरपेक्ष शाखाओं ने अध्यात्मवादी-उन्मुखी व्याख्याओं (spiritualist-oriented explanations) का स्थान ले लिया है क्योंकि अध्यात्मवादी-उन्मुखी व्याख्याओं को कई मामलों में संघर्ष की दशा को सुधारने में न तो लाभदायक समझा गया है और न ही पृथ्वी पर शान्ति लाने में प्रभावकारी माना गया है। कुछ धर्मनिरपेक्ष समीक्षक अथवा आलोचक आध्यात्मिक दृष्टिकोण के बारे में संशयवादी रहे। उनका मानना है कि धर्म और धार्मिक सरोकार संघर्ष को प्रोत्साहित करने के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं। तथापि, धर्मनिरपेक्षवादी प्रतिमान में शान्ति और संघर्ष से जुड़े विचारों में चिंता की गुंजाइश और विविधता की मात्रा (सीमा) इतनी विभिन्न प्रकार की और इतनी गहन है कि वे संबंधित विषय पर धार्मिक विमर्श में भी मौजूद है।

शान्ति और संघर्ष ये दो अवधारणाएँ उलझी हुई हैं और यह जानना कठिन है कि मानव दशा की उत्पत्ति में सबसे पहले कौन आता है।

2.2 मानव स्वभाव

मानव व्यवहार के लिए मानव स्वभाव बहुत व्यापक और बहुत सामान्य है। अतः शान्ति और संघर्ष को समझने के लिए संक्षिप्त चर्चा पर्याप्त नहीं है। व्यापक रूप से मनोविज्ञान, मानव विज्ञान/नृविज्ञान समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान की शैक्षिक विधाओं (academic disciplines) में मानव प्रकृति पर तीन दृष्टिकोण हैं। इनका मानना है कि मानव प्रकृति (1) अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ एवं शान्तिपूर्ण है, (2) अनिवार्य रूप से बुरी और आक्रामक हैं; और (3) सामाजिक संबंधों से रूपांतरित होती हैं। यद्यपि इन दृष्टिकोणों के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करना संभव नहीं है फिर भी कम से कम इन पर संक्षेप में प्रकाश डालना अवश्य संभव है।

i) मानव स्वभाव मूलतया शांत होता है (Human nature is essentially peaceful)

इस दृष्टिकोण का मूल स्रोत इस तथ्य में निहित है कि सभी रचनाओं में मानव अद्भुत है। वह विकसित मस्तिष्क से संपन्न है और उसका मस्तिष्क जो सोचता है उसे सोचने-विचारने और 'जानने' में सक्षम है, इसलिए वह 'अच्छे' और 'बुरे' के संबंध में विश्लेषण कर सकता है। सामान्य तौर पर इसे विभेदीकरण (discrimination) की क्षमता कहा जाता है जिसके द्वारा मानव-जाति (humankind) में नैतिक बोध (ethical sense) व्याप्त है। परोपकारिता (दूसरों की भलाई करना), दुख में दूसरों के लिए सहानुभूति और लोगों के दुख के लिए दयालुता जैसे गुण सहज रूप से मानव के रूप में हमारे स्वभाव में विद्यमान हैं। मानव के पास ये 'उच्च' विशेषताएँ होने के कारण उसे सहृदय व्यक्ति कहा जाता है। आध्यात्मिकता (spirituality) की धारणा मानव के दयालु स्वभाव के इस विचार से बहुत मज़बूती के साथ जुड़ी हुई है। हम आध्यात्मिकता और धर्म के इससे संबंधित विचार को उस दैवी शक्ति की सभी रचनाओं में ढूँढ सकते हैं जिसे मानव को ईश्वर की रचना में विशेष स्थान मिला हुआ है और मानव तथा दैवी शक्ति के बीच यह विशेष बंधन है जो मानव स्वभाव के दयालु दृष्टिकोण के लिए एक आधार प्रदान करता है। यहाँ ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी धार्मिक परम्पराएँ इस धारणा का समर्थन करती हैं।

जो धार्मिक दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते वे लोग भी यह मानते हैं कि प्रेम, दयालुता और करुणा मानव स्वभाव में मौजूद (सहज) होते हैं। उनके अनुसार, नैतिक और परोपकारी स्वभाव वास्तव में जीवन के जैविक विकास (biological evolution) की प्रक्रिया तथा विशेष रूप से पशु अवस्था से मानव के विकास तक की प्रक्रिया में खोजा जा सकता है।

मानव संबंधों में आचार-शास्त्र की भूमिका की धार्मिक उत्पत्ति के विपरीत, इन धर्मनिरपेक्ष आलोचकों का मानना है कि धर्म सिद्धान्त और विभिन्न प्रतियोगी देवी-देवताओं के नाम पर धर्म संघर्षों और युद्धों को जन्म देता है। जिसे मानववाद (humanism) कहा जाता है, वह आलोचनात्मक चिंतन से बहुत निकट से जुड़ा है। इसके अनुसार मनुष्य अपनी प्रकृति (स्वभाव) के कारण ही अपने भाग्य का निर्माण करता है। प्राचीन यूनानी चिंतक प्रोटोगोरस की सुप्रसिद्ध धारणा (अर्थात् "मानव सभी वस्तुओं का मापदंड है") को इस मानववादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाला माना जाता है। इस विचार के विकास को और योगदान प्रगति के विचार से मिला और इसे ईसाई धर्म की एकाधिकारवादी (monopolistic) पकड़ (नियंत्रण) के परिणामस्वरूप अठाहरवीं शताब्दी के यूरोप में बहुत्व महत्व प्राप्त हुआ और आधुनिक विज्ञान का उदय हुआ।

इस युग में मानववाद ने प्रतिपादित किया कि मानव जाति मानव चिंतन और आचरण में प्रगतिशील चरणों (अवस्थाओं) की ओर लगातार विकसित हो रही (बढ़ रही) है तथा वर्तमान, अतीत से श्रेष्ठ है तथा भविष्य वर्तमान से अच्छा होगा। यह देखा जा सकता है कि मानववाद मानव जाति के चिंतन और कार्यों में स्वाभाविक और सहज कल्याण की भूमिका का किस प्रकार महत्वपूर्ण अर्थ में समर्थन करता है। कुछ प्रसिद्ध मानववादियों ने माना कि मानवजाति की नितांत पूर्णता किसी अलौलिक/आध्यात्मिक अभिकरण (माध्यम) के हस्तक्षेप के बिना स्वयं के एकमात्र प्रयासों द्वारा संभव है।

इस धारणा का नैतिक भावना के साथ अत्यंत दृढ़ संपर्क है जिसका पता इस तथ्य से चलता है कि इस सिद्धान्त को नैतिक मानववाद (Ethical Humanism) अथवा तर्कमूलक मानववाद (Rational Humanism) कहा गया है।

ii) मानव स्वभाव मूलतया आक्रामक होता है (Human nature is essentially aggressive)

विरोधाभास की दृष्टि से धार्मिक परम्पराओं और धर्मनिरपेक्ष परम्पराओं के कुछ पहलुओं का आधार समान है और यह माना जाता है कि मानव स्वभाव सहज रूप से आक्रामक होता है।

धार्मिक परम्पराओं में यह धारणा भी मौजूद है कि ईश्वर की कृपा द्वारा मानव को सहज सहृदय वृत्तियाँ (benign instincts) प्राप्त हुई हैं। धर्म दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के इस सह-अस्तित्व को विभिन्न सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास करता है। फिर भी, सामान्य धारणा यह है कि मानव स्वभाव की संघर्ष के प्रति संभावना प्रदर्शित करना अस्तित्व (जीवन) में बुराई की अवधारणा है। ईश्वर की रचना में बुराई किस प्रकार मौजूद रह सकती है, यह सभी धर्मों के समक्ष चुनौती है। इस चुनौती से जुड़े और जूझने में सामान्य लक्ष्य यह है कि अच्छाई और बुराई का लगातार संघर्ष होता है। हालाँकि सभी धर्मों को आशा रहती है की अंततः अच्छाई की विजय होगी।

पाप की अवधारणा बुराई की अवधारणा से निकट से जुड़ी है। शामी धर्म (यहूदी धर्म से उत्पन्न) पाप को मूल पाप (original sin) के संदर्भ से जोड़ते हैं और बताते हैं कि ईश्वर की प्रथम मानव रचनाएँ आदम और हब्बा (Adam and Eve) ने ईश्वर के आदेश मानने से इनकार कर दिया था जिसके फलस्वरूप ईश्वर ने उन्हें स्वर्ग (जिसे निर्मल अच्छाई का क्षेत्र कहा जा सकता है) से तब तक निष्कासित कर दिया था जब तक कि ईश्वर उन्हें क्षमा प्रदान न कर दे। दूसरी ओर, हिन्दू धर्म पाप और दुख को कर्म के सिद्धान्त के संदर्भ में व्यापक रूप से स्पष्ट करता है। कर्म-सिद्धांत के अनुसार यह माना जाता है कि पिछले जन्मों में महिलाओं और पुरुषों का आचरण उनके वर्तमान अस्तित्व (जीवन) में उनकी जीवन पद्धति और आचरण को निर्धारित करता है। अच्छाई और बुराई साथ-साथ चलते हैं इसलिए मानव जाति को अच्छाई के रास्ते का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिए।

बौद्ध धर्म का मानना है कि 'इच्छा' (desire) निरंतर मानव असंतोष का मूल कारण है जिससे मानव संबंधों में पीड़ा और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इच्छा पर नियंत्रण करना पीड़ा, संघर्ष और दुख से बचाव है। यह भी महत्वपूर्ण है कि बौद्ध धर्म सर्वोच्च धर्म अथवा कर्तव्य के रूप में अहिंसा पर बल देता है। आत्मा की मुक्ति अनिवार्य रूप से इच्छा के त्याग और अहिंसा के प्रति वचनबद्धता की अवस्था प्राप्त करने में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक प्रतिमान बहुत अधिक शान्ति और संघर्ष की समस्याओं से संबंधित हैं। पाप, कर्म, इच्छा जैसे शब्दों की व्याख्याएँ रहस्यमयी उत्पत्तियों के संदर्भ में जुड़ी हुई हैं जिन्हें तर्कसंगत अथवा धर्मनिरपेक्ष शब्दों में आसानी से नहीं समझा जा सकता।

धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्तवादियों (secular theorists) का कहना है कि यह स्पष्ट रूप से दुख के अस्तित्व और उसकी 'अस्पष्ट अथवा अव्याख्यात्मक' (unexplainable) प्रकृति है जो हमें अलौकिक अथवा ईश्वर के बारे में संशयी बनाता है।

तथापि तथ्य यह है कि धर्मनिरपेक्षवादियों और वैज्ञानिक मनोविज्ञानियों को भी मनुष्यों की बुरी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करना पड़ता है। वैज्ञानिक मनोविशेषज्ञों (scientific psychologists) का मानना है कि मानव मस्तिष्क की रचना (जैसा कि विकसित है) ऐसी है कि विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ बाह्य कार्यों के प्रति संचालित अथवा प्रेरित करती हैं जिन्हें हम अच्छे और बुरे कार्य के नाम से पुकारते हैं। विभिन्न रूपों में आक्रमण (aggression) मानव जीवन (रहन-सहन) की बाद की दशा का परिणाम है।

उन्नीसवीं शताब्दी में चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकास के सिद्धान्त ने इस सत्य की स्पष्ट रूप से पुष्टि की है। डार्विन ने आक्रमण की भूमिका को सजीव (जीवित) प्रजातियों (living species) के अनिवार्य पक्ष के रूप में और अधिक स्पष्ट किया है जिसके द्वारा कुछ प्रजातियाँ जीवित रहती हैं और कुछ नष्ट

हो जाती हैं। हम उनकी अवधारणा को लगभग सत्य मानते हैं कि योग्यतम की उत्तरजीविता (survival **ofthefittest)** के तंत्र के माध्यम से विकास होता रहता है। इस प्रकार, आक्रमण समस्त विकास में एक निश्चित दशा है।

इस संदर्भ में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। और वह यह है कि विकास का सिद्धान्त कहता है कि मानव की पाश्विक प्रकृति **(animalnature)** एक वास्तविकता है। यह सिद्धान्त यह भी कहता है कि विकास की यह प्रक्रिया कुछ अंगों के विकास में भी योगदान देती है और इनके माध्यम से उच्चतर सजीवों (सजीव प्राणियों) में कुछ 'सुविधाएँ' (faculties) विकसित हुई हैं। इन प्राणियों में मानव सबसे ऊँचा है। 'मस्तिष्क' और इसकी प्रमुख योग्यता (मनःशक्ति) चिंतन **(thinking)** का विकास शायद इस प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप है। इसके बदले में यह योग्यता अपने साथ सहायक प्रतिभा भी ले जाती है जो विभेद (भेदभाव) की शक्ति तथा प्रेम, दया और करुणा के लिए क्षमता होती है। वास्तव में, घृणा और प्रतिशोध (बदला) के विरोधी गुण मानव जाति के महत्वपूर्ण अंग हैं। तथापि अच्छाई और बुराई के बीच विभेद के लिए क्षमता यह आशा प्रदान करती है कि मानव व्यवहार में अच्छाई बुराई से श्रेष्ठ होती है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मानव स्वभाव के बारे में विचार पुरुषों और महिलाओं के शान्तिमूलक और संघर्षमूलक आचरण के अस्तित्व की समस्या से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। विश्लेषण के लिए हमने दो विषयों - मानव स्वभाव तथा शान्ति और संघर्ष पर अलग-अलग ढंग से चर्चा की। वास्तव में वे एक ही हैं।

निकट रूप से जुड़ा मुद्दा मानव स्वभाव के एक अंग के रूप में हिंसा की समस्या है। यहाँ पर फिर चिंतकों और विशेषज्ञों में परस्पर विरोधी **(diametrically opposed)** विचार हैं। कुछ का मानना है कि मानव स्वाभाविक रूप से हिंसा से घृणा करता है और हिंसा 'अप्राकृतिक' है। इसे 'तथ्य' के कथन के रूप में अथवा मानक (normative) या नैतिक मानक कथन (अथवा 'होना चाहिए' कथन) के रूप में व्यक्त किया जाता है अर्थात् मानव स्वभाव कैसा होना चाहिए। जो चिंतक 'शान्तिवादी' विचारधारा के हैं, वे इस श्रेणी से संबंध रखते हैं। मानव अस्तित्व की दशा के रूप में शान्ति पर बल दिया गया। उस स्थिति में प्राचीन भारतीय परम्परा में सार्वभौम अस्तित्व और अहिंसा, शान्ति और सद्भावना का ईसा मसीह का प्रचार अच्छे उदाहरण हैं जो शान्ति और अहिंसा के लिए आधार प्रदान करते हैं। महात्मा गांधी जैसे चिंतकों ने इन सिद्धान्तों पर अपने विचारों का निर्माण किया और कार्यों को संपादित किया।

दूसरी ओर, ऐसे भी चिंतक हैं जो विश्वास करते हैं कि हिंसा मानव दशा की प्राकृतिक अवस्था है। इतना ही पर्याप्त नहीं है। उनमें से कुछ का यह कहना भी है कि हिंसा केवल प्राकृतिक (स्वाभाविक) होती है और लगातार व्यक्त होती है। फ्रांसीसी विचारक जार्ज सोरेल (Georges Sorel) इस श्रेणी के चिंतकों का एक अच्छा उदाहरण है। वह अन्य चिंतकों से असहमत थे जैसे कार्ल मार्क्स जिन्होंने हिंसा को 'अनैतिक' नहीं कहा परन्तु इसे मानव दशा को बेहतर बनाने में सकारात्मक भूमिका भी प्रदान की। मार्क्स के लिए, हिंसा की नैतिकता अथवा अनैतिकता का प्रश्न अप्रासंगिक था क्योंकि मानव जीवन में नैतिक श्रेणी अपने आप में एक गलत श्रेणी है। हम जार्ज सोरेल का हवाला देते हैं जिन्होंने जटिल तरीके से व्याख्या की जिसमें हिंसा की अवधारणा अच्छाई और बुराई की अवधारणाओं तथा नैतिकता और अनैतिकता की अवधारणाओं से जुड़ी हुई हैं।

iii) मानव स्वभाव सामाजिक संबंधों द्वारा रूपांतरित होता है।

एक अर्थ में, इस चिंतन शाखा को पहले के दो विचारों से पृथक करने की ज़रूरत नहीं है और उपर्युक्त दोनों विचारों की निरंतर प्रक्रिया समझा जाना चाहिए। व्यापक रूप से कहा जाए तो यह विचार उस दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जो मानव स्वभाव की सहज विशेषता से परे है। यह पुरुषों और महिलाओं

के कार्य हैं जो मानवों में सहज प्राकृतिक (स्वाभाविक) प्रवृत्तियों के बाह्य रूप को उत्पन्न करता है। वास्तव में यह सत्य है यद्यपि ऐसा सदैव नहीं होता क्योंकि जिस कार्य को हम आम तौर पर 'बुरा' समझते हैं वह बुरे मानव स्वभाव के प्रदर्शन का परिणाम है अथवा एक 'अच्छा' कार्य मानव स्वभाव के एक अच्छे पक्ष के कारण होता है। मानव के रूप में हम कार्य करते हैं, दूसरों के कार्यों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और फिर दूसरे के कार्यों (हमारे अपने कार्यों के लिए) का निर्धारण अथवा मूल्यांकन करते हैं और उन्हें 'अच्छा' अथवा 'बुरा' की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार यह तभी होता है जब कम से कम दो व्यक्ति अंतःक्रिया करते हैं और उनके अच्छे अथवा बुरे परिणामों के लिए कार्यों का मूल्यांकन करने तथा उनके पृथक-पृथक मानव स्वभावों के साथ जोड़ने की प्रक्रियाएँ घटित होती हैं।

'सामाजिक संबंधों' के दृष्टिकोण से पूरी तरह व्यक्ति के स्वभाव के 'शुद्ध' अर्थ में मानव स्वभाव अच्छी तरह से अप्रासंगिक है और बहुत बुरे ढंग से भ्रामक है। क्या व्यक्ति का मानव स्वभाव का बिल्कुल अकेले रहने वाले व्यक्ति के मामले में कोई अर्थ रखता है जैसे राबिन्सन क्रूसो जिसे एक टापू पर बहिष्कृत कर दिया गया था? क्या 'अच्छा' या 'बुरा' होने का ऐसे मामले में कोई अर्थ है कि उसके कार्य दूसरे व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार से लाभदायक नहीं हैं? उसकी दयालुता, प्रेम, क्रूरता आदि जैसी मानसिक योग्यताओं का तब किस प्रकार अर्थ है जब दूसरे व्यक्तियों पर उनके प्रभाव का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता?

के प्रति आपत्ति स्वयं स्पष्ट है। मानव स्वभाव की मानवों के अंतर्वैयक्तिक संबंधों (inter-personal relationships) $ संदर्भ $ भी है। ,——— क्रूरता (% सामान्य तौर पर सहज मानते हैं), ग़ैर-मानवीय पर्यावरण (non-humanenvironment) के साथ संबंधों में प्रदर्शित होते हैं। ये विशेषताएँ पशुओं और पेड़-पौधों के साथ मानव के व्यवहारों में भी आ जाती हैं। दार्शनिक और प्रकृति वैज्ञानिक इस पृथ्वी पर मानवों और अन्य ग़ैर-मानव साथियों (non-human) के बीच अंतर्संबंधों और अंतःक्रियाओं (interactions) का संज्ञान (ध्यान) लेते हैं और मानव स्वभाव तथा पशु संसार के स्वभाव के बारे में अत्यंत प्रासंगिक निष्कर्ष निकाल रहे हैं।

2.3 शान्ति

शान्ति की अवस्था अथवा दशा में मानव जीवन (वैयक्तिक और सामाजिक) में अत्यंत विस्तृत क्षेत्र (दृष्टिकोण) निहित है। यहाँ हम सभी पक्षों पर प्रकाश नहीं डालेंगे बल्कि सामाजिक और वैश्विक स्तर पर सामाजिक संबंधों में शान्ति के विचार (जानकारी) तथा शान्ति की सुरक्षा चाहने वाले विभिन्न समाधानों तक अपने आपको सीमित रखेंगे।

i) सामाजिक सौहार्द के रूप में शान्ति

शान्ति की एकमात्र और अंतिम धारणा इस बात को प्रदर्शित करती है कि प्रत्येक मानव स्वयं के साथ अर्थात् आंतरिक तनावों के बिना शान्ति से रहता है। परन्तु व्यक्तियों के लिए आंतरिक शान्ति स्वयं सामान्य रूप से सामाजिक अथवा प्राकृतिक क्षेत्र में दूसरों के साथ संबंधों में शान्ति पर निर्भर करती है। अतः बदले में समाज में शान्ति भी समाजों में और पड़ोसी समुदायों के साथ शान्ति पर निर्भर करती है।

वास्तविक व्यवहार में न तो व्यक्ति और न ही समाज़ पूरे सौहार्द के साथ रहता है। किसी भी प्रकार की परस्पर विरोधी भावनाएँ और अंतःवैयक्तिक तनाव (interpersonaltensions) लगातार सौहार्द को नुकसान पहुँचाते हैं। अतः शान्ति की आकांक्षा एक प्रकार से स्वतः ही आशा के निम्न स्तर पर जकड़ी हुई है। एक ही कारण के लिए संजग प्रयास से शान्ति को कायम रखने के लिए कोशिशों के बिना इसकी सहज मौजूदगी (व्यापकता) भी लगभग असंभव है।

ii) अंतर्वैयक्तिक संघर्ष से बचाव के रूप में शान्ति

देखा जाए तो शान्ति पर उद्देश्य संघर्ष पर नियंत्रण होता है। संघर्ष को कम करने की कार्यनीतियाँ शान्ति समाधान की शान्तिपूर्ण पद्धतियों से लेकर समुदाय की एक प्रकार की सामूहिक इच्छा द्वारा बल प्रयोग तक है। हम इस पहलू पर अगले भाग में प्रकाश डालेंगे, यहाँ पर संघर्ष से "बचना" और संघर्ष को "नियंत्रित करना" इन दोनों के बीच अंतर करना उपयोगी होगा। वास्तव में इन दोनों मामलों में अंतःसंपर्क करने वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष को अपरिहार्य (inevitable) माना जाता है। संघर्ष से बचाव में जहाँ तक संभव होता है, संघर्ष के कारणों से बचने के प्रयास किए जाते हैं। दूसरे मामले में, चूँकि संघर्ष से बचाव एक साथ हमेशा संभव नहीं होता है, अतः संघर्षों को या तो नियंत्रित किया जाता है या फिर उन्हें सीमित (कम) किया जाता है। इससे समाज (छोटा या बड़ा) सामूहिक शक्ति के माध्यम से (जिसमें शक्ति प्रयोग भी शामिल होता है) संघर्ष के विस्तार को कम करने का प्रयास करता है। इस प्रकार सामाजिक संगठन शान्ति बनाए रखने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

हम जानते हैं कि सामाजिक संगठन अनेक प्रकार के होते हैं। परिवार, समुदाय, वर्ग, जाति, जनजाति इनके अच्छे उदाहरण हैं। इन सभी संगठनों की एक विशेषता यह है कि इनका एकसमान कार्य संगठन के अंदर शान्ति बनाए रखना है। कोई भी कह सकता है कि संगठित करना आंतरिक रूप से शान्ति बनाए रखना है। पारिवारिक संस्था हर तरह से यह कार्य करती है और इसी प्रकार जनजाति अथवा गाँव जैसी अन्य बड़ी सामाजिक संस्थाएँ करती हैं। परन्तु यह भी जानना ज़रूरी है कि ये सामाजिक संस्थाएँ शान्ति बनाए रखने में हमेशा सफल नहीं होती हैं, कई बार तो वे एक-दूसरे के साथ संघर्ष में फंस जाती हैं। उच्च सामाजिक संस्थाओं में उत्पन्न इन परिस्थितियों का मुकाबला करना पड़ता है। इन परिस्थितियों में राजनीतिक स्थिति होती है जो व्यापक प्राधिकार और शक्ति का प्रयोग करती है।

2.4 राज्य, समाज और शान्ति

राज्य अस्तित्व में किस प्रकार आया, यह एक ऐसा विषय है जिसमें राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्त का महतवपूर्ण भाग सम्मिलित है। हमारी चर्चा के उद्देश्य के लिए जो ध्यान में रखना ज़रूरी है, वह यह है कि राज्य को 'एक समाज जो राजनीतिक रूप से संगठित है' के रूप में परिभाषित किया गया है जिसका प्रमुख कार्य शान्ति बनाए रखना है तथा आम तौर पर कानून और व्यवस्था बनाए रखने के संदर्भ में व्यक्त किया जाता है।

यह भी स्मरण रखना ठीक है कि राजनीतिक राज्य इस कार्य क्रो करने में एकाधिकार का उपयोग करता है जबकि किसी भी समाज में किसी अन्य संस्था अथवा संघ (association) के पास शान्ति बनाए रखने के लिए एकमात्र अभिकरण बनने की ऐसी शक्ति अथवा कार्य नहीं है। इस सामान्य विचार को संप्रभुता (sovereignty) की कानूनी परिभाषा में अभिव्यक्त किया जाता है जिसका अर्थ है कि राज्य अकेला उच्चतम वैधता (highest legitimacy) रखता है और समाज में अन्य संगठन राज्य के नियंत्रण में होते हैं।

परन्तु राज्य की संप्रभुता की अवधारणा को अनेक कारणों से चुनौतियाँ दी गई हैं। इनमें से प्रमुख हैं— (i) राज्य को अवधारणा के आधार पर शक्तिशाली बनाने में अवधारणा समाज में शान्ति और कल्याण में योगदान करने में अन्य संघों की भूमिका की उपेक्षा करती है और (ii) यह राज्य के अन्य राज्यों के साथ उसके संबंधों में राज्य पर बाहरी नियंत्रण की आवश्यकता को नहीं मानती। और इस प्रकार राज्य की संप्रभुता की अवधारणा अंतर-राज्य संघर्ष के लिए अवसर को प्रोत्साहित करती है और अंतर्राष्ट्रीय शान्ति के संवर्धन में बाधा पहुँचाती है। इस पर हम बाद में प्रकाश डालेंगे। यहाँ यह ध्यान देना पर्याप्त होगा कि संप्रभुता की अवधारणा अभी भी मज़बूत है और राजनीतिक राज्य को दृढ़ प्राधिकार और संस्था प्रदान करने के लिए आगे बढ़ रही है।

प्राधिकार के विषय में पहली आपत्ति जो संप्रभु राज्य पर आरोपित करती है, उसका स्वयं विभिन्न तरीकों से विश्लेषण किया जा सकता है। समाज में अन्य संघ भी ऐसे कार्य करते हैं जो लोगों में मैत्री और शान्ति बढ़ाते हैं। इनमें से कुछ रीति-रिवाजों पर आधारित होते है और कुछ को राज्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से स्वयं प्राधिकृत किया जाता है। यदि सामाजिक समूह स्वयं झगड़ों में शामिल हो जाते हैं तो राज्य कानून और व्यवस्था के रखवाले के रूप में सामने आ जाता है जो कुल मिलाकर समाज में शान्ति कायम रखने की लगभग एकमात्र एजेंसी होता है। आधुनिकता बढ़ने और सामाजिक संबंधों में तेज़ी से हो रहे परिवर्तनों के साथ-साथ सामाजिक संरचनाएँ (संगठन) अधिक जटिल हो जाते हैं और शान्ति के नाजुक ताने-बाने के लिए नई चुनौतियाँ पैदा कर रहे हैं। आधुनिक राज्य को इनका सामना करना है।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ऐसी अन्य शक्तियाँ पैदा कर सकती है जो आर्थिक और सामाजिक तनावों के लिए महत्वपूर्ण हो सकती हैं। रोज़गार सुरक्षा (job security) और बेहतर वेतन के लिए कामगारों (workers) की माँगें, आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए अधिक अवसरों हेतु पिछड़े वर्ग की माँगें और न्याय और प्रगति के लिए अनेक अन्य सामाजिक समूहों की सामान्य रूप से माँगें प्रतिस्पर्धा की आकांक्षाओं के लिए प्राथमिक कदम है। सामाजिक और आर्थिक समूहों की बढ़ती हुई माँगें जिन्हें सामान्य रूप से "बढ़ती हुई आशाओं में क्रांति" कहा जाता है, कल्याणकारी राज्य के प्रसिद्ध विचार का कारण और परिणाम रही है। हम सब जानते हैं कि कल्याणकारी राज्य का विशेष तौर पर अर्थ उस राज्य से है जिसके व्यापक रूप से विस्तृत कार्य हैं। अतीत में, राज्य का कार्य केवल 'कानून' और 'व्यवस्था' बनाए रखने तक सीमित समझा जाता था जबकि कल्याणकारी राज्य जो बीसवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया, समाज के सदस्यों के स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण के संवर्धन के व्यापक कार्य करता है। जबकि यह सत्य है कि पिछले दशक में विश्व के कई भागों में कल्याणकारी राज्य के इस विचार से पीछे हटना शुरू हो गया है कि पुरानी अवधारणा कि राज्य की भूमिका पूरी तरह से कानून और व्यवस्था बनाए रखने तक सीमित थी, समाप्त हो गई है। यहाँ तक कि वे देश जो सार्वजनिक रूप से विभिन्न कल्याणकारी कार्यों का विरोध करते हैं अथवा उनसे हट जाते हैं व्यवहार में वे बहुत से कार्यों से दूर नहीं हो सकते। इस प्रकार कल्याणकारी राज्य को हर तरह से बने रहना है।

कल्याणकारी राज्य पर बहस का शान्ति की अवधारणा और शान्ति को बनाए रखने और इसे प्रोत्साहित करने पर अत्यंत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। यदि 'कानून और व्यवस्था' को पहले बनाए रखने को समाज में शान्ति के समकक्ष माना गया तो शान्ति की उस अवधारणा को स्वयं शान्ति की न्यूनतम अवधारणा माना जाता है। समकालीन समय में जब कल्याणकारी राज्य लक्ष्य को राज्य के कार्य का एक सहज और स्वाभाविक अंग बनाया जाता है तो शान्ति को बनाए रखने और उसका संवर्धन करने में राज्य की भूमिका में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। शान्ति को और अधिक संघर्ष को नियंत्रण करना नहीं समझा जाता है। इसके विपरीत 'शान्ति' को अब सकारात्मक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के रूप में समझा जाता है जो संघर्ष से बचने और यहाँ तक कि इसे पूरी तरह से समाप्त करने में योगदान करती हैं। यह निश्चित है कि इसका कहीं भी पूरी तरह अनुभव नहीं किया जाता है परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज और राज्य को अब शान्ति के संवर्धन करने के कार्य में नई जिम्मेदारियाँ सौंप दी गई हैं।

यह भी स्वीकार करना चाहिए कि राज्य ने, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से ज्यादा से ज्यादा कार्य अपने हाथ में ले लिए हैं। इसीलिए उसी सामाजिक गतिशीलता (जिसने राज्य का विस्तार कर दिया है) ने समाज में अन्य संस्थाओं को अपने अधिकारों के प्रति मज़बूत रहने के लिए प्रेरित किया है। इस प्रक्रिया की व्याख्या करने का एक तरीका इस बात को समझना है कि प्रायः राज्य समाज की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने की स्थिति में नहीं होता। इस स्थिति में समाज में अन्य संस्थाएँ कुछ महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए आगे आती हैं। हाल ही के दशकों में, समाज ने अपने प्राथमिक प्राधिकार (primary authority)

को राज्य पर डाला है। राजनीतिक और सामाजिक विचारक इस विकास को नागरिक समाज का अभ्युदय (अथवा पुनरुत्थान) कहते हैं। इस प्रवृत्ति में, हम एक बार फिर समाज में शान्ति के लिए खोज की पहचान (पता) कर सकते हैं। राज्य के विरुद्ध आलोचना यह है कि या तो यह शान्ति के लिए संभावनाएँ प्रदान करने में असफल हो गया है या फिर सबसे बुरी बात है कि इसका कार्य करने का तरीका वास्तव में संघर्ष उत्पन्न कर रहा है और शान्ति को खतरे में डाल रहा है। नागरिक समाज के सिद्धान्तवादियों का मानना है कि विभिन्न सामाजिक समूह (जो राज्य से संबंधित नहीं है) अधिक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था और शान्ति लाने के उद्देश्य से सामाजिक आवश्यकताओं और संबंधों के उपयुक्त पुनः प्रबंध करने में पर्याप्त रूप से आगे आ रहे हैं। आलोचकों का मानना है कि विविध संस्थाएँ विभिन्न उद्देश्यों से काम कर सकती हैं और करती हैं, न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था प्राप्त करने का उनका उच्च उद्देश्य आत्म पराजय हो सकता है। इस मुद्दे पर निर्णायक सर्वसम्मति नहीं है।

इस संबंध में हमें वे तरीके बताने चाहिए जिसके द्वारा एक तरफ परम्परागत राज्य तथा दूसरी ओर समकालीन नागरिक समाज (civil society) या तो संघर्ष पर नियंत्रण करके या फिर उससे बचते हुए शान्ति प्राप्त कर सकें।

2.5 शान्ति के साधन के रूप में राज्य

राज्य समाज के व्यवस्थित गठन के लिए एक ढाँचा उपलब्ध कराने के लिए धीरे-धीरे विकसित हुआ है। इस संबंध में विचारों में मतभेद है कि क्या व्यवस्था (orderliness) अमीर, शक्तिशाली आदि जैसे समाज के केवल एक वर्ग के हित में है अथवा पूरे समाज के सामान्य हित में है। इन परस्पर विरोधी विचारों की सच्चाई चाहे कुछ भी हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि राज्य समाज को एक रखने के लिए एक अनिवार्य ढाँचा (व्यवस्था) प्रदान करता है और यह ढाँचा कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए स्पष्ट रूप से उचित होता है।

यही कारण है कि राज्य के कार्य 'कानून' (विधि) के इर्द-गिर्द घूमते हैं। वास्तव में राज्य जो कुछ करता है यह कानून के माध्यम से ही करता है। प्रसिद्ध सांविधानिक और राजनीतिक सिद्धान्तवादी लार्ड ब्राइस ने राज्य का राजा मिडास (King Midas) बताया है जिसमें यह जो कुछ स्पर्श करता है, वह कानून में बदल जाता है। राज्य के तीन अंग — विधायिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive); और न्यायपालिका (Judiciary) के क्रमशः कानून बनाने, कानून का कार्यान्वयन करने और कानून की व्याख्या करने के कार्य हैं। यह बताने की आवश्यकता है कि मानव समाज का लंबे इतिहास में और राज्य के तीन अंगों का अलग-अलग विभाजन सदैव नहीं रहा था। इस प्रकार का विभाजन केवल संकल्पनात्मक रहा था। आधुनिक समय में ही राजनीतिक चिंतकों ने न केवल विशेष रूप से इन तीनों कार्यों की पहचान की बल्कि यह भी निष्कर्ष निकाला कि राज्य और समाज की बेहतर व्यवस्था के लिए तीनों कार्यों को तीन पृथक और विशिष्ट अंगों द्वारा किया जाए।

हम पहले ही बता चुके हैं कि राज्य का उद्देश्य समाज को एक बनाए रखना है। चूँकि अनुनय-विनय (persuasion) की नीतियाँ, रिवाज और परम्परा तथा मानव संबंधों में नैतिकता की पकड़ समाज को एक रखने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, इसलिए राज्य उनकी भूमिका पर बहुत अधिक निर्भर करता है। तथापि जब तनाव और संघर्ष प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा बन जाते हैं तथा राज्य (जिसके पास बल प्रयोग करने का विशेष अधिकार होता है), समाज की ओर से वह बल प्रयोग का सहारा लेता है। इस प्रकार देखा जाए तो समाज को नियंत्रित करने में राज्य की भूमिका शान्ति का संवर्धन करने में इतनी प्रतीत नहीं होती जितनी संघर्ष को नियंत्रित करने में दिखाई देती है।

NMDC-288

निम्नलिखित उपाय संघर्ष को नियंत्रित करने का कार्य करते हैं:

1) कानूनों, नियमों और विनियमों की संरचना पारित करना। ये कानून और नियम व्यक्तियों और समूहों की कार्रवाइयों के लिए सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयास करते हैं ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि इस प्रकार की कार्रवाइयों से सामाजिक शान्ति में कोई बाधा नहीं पहुँचती हो।

2) उपर्युक्त कानूनों और विनियमों का निष्पादन करने के लिए प्रशासनिक तंत्र के व्यापक नेटवर्क की स्थापना करना। कार्यकारी अथवा कार्यपालिका शाखा **(executive branch)** में सबसे प्रमुख नीति शाखा (policy branch) है जिसका कार्य समाज में अपराध पर नियंत्रण करना है। यह सर्वमान्य है कि अपराध शान्ति में बाधा पहुँचाने का सर्वाधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप है। अतः अपराध की रोकथाम को किसी समाज में कम से कम शान्ति बनाए रखने के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रशासनिक नेटवर्क की अन्य शाखाएँ, अन्य कानूनों और नियमों के पालन का निरीक्षण और निगरानी करती हैं।

सकारात्मक कार्य

राज्य के क्रियाकलाप समाज में व्यक्तियों की गतिविधियों को रोकने और बाध्य करने तक ही सीमित नहीं हैं। कई कार्यकलाप शान्तिपूर्ण रहन-सहन के प्रति अनुकूल मानव गतिविधि का संवर्धन करने से भी जुड़े हैं। विश्लेषण के प्रयोजन के लिए राज्य के इस प्रकार के कार्यकलापों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

1) सामाजिक शान्ति में योगदान करने वाले व्यक्तिगत कार्यकलापों का संवर्धन करना। जैसे सामाजिक व्यवस्था में चिंतन (सोचने-समझने) और रहन-सहन के विभिन्न तरीकों की परस्पर सहनशीलता के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न करना। इस प्रकार के सामाजिक पर्यावरण के सृजन के लिए स्वास्थ्य और शिक्षा का प्रसार अत्यंत आवश्यक है। व्यक्तिगत स्वभाव की एकजुटता का एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु होना और सामाजिक कल्याण के लिए उनकी स्वेच्छा (goodwill) प्रदर्शित करना शान्ति का परिरक्षण करने में एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है।

2) राज्य का भी दायित्व है कि वह न केवल नागरिकों को सामाजिक कल्याण का संवर्धन करने का कार्य करने के लिए प्रेरित करे बल्कि सकारात्मक कार्यों को करने के लिए भी प्रोत्साहित करे। जैसे पारिस्थितिकी (ecological) रूप से सुरक्षित पर्यावरण के माध्यम से सामाजिक स्वास्थ्य और शान्ति के लिए पर्यावरण सुरक्षा का संवर्धन करना।

शान्ति की व्यापक अवधारणा के साथ आधुनिक राज्य की उपर्युक्त प्रवृत्ति के साथ निकट से जुड़ा होना मानव अधिकारों के प्रति वचनबद्धता है। हम जानते ही हैं कि यह वचनबद्धता हाल ही की वचनबद्धता है जो लोकतांत्रिक सिद्धान्त और व्यवहार की प्रगतिशील विकास की सृजना (offshoot) है। मानव अधिकार नागरिकों को न केवल राज्य और समाज की ज्यादतियों से संरक्षण की गारंटी देते हैं बल्कि व्यक्तिगत विकास के लिए सकारात्मक पात्रताओं (positive entitlements) और सुविधाओं की भी गारंटी देते हैं। यहाँ राज्य द्वारा शान्ति के लिए अधिकतम अथवा इष्टतम सरोकार को शामिल करने का अतिरिक्त समर्थन निहित है। उदाहरण के लिए भारतीय संविधान (जिसे भारतीय राज्य के लिए दार्शनिक और सामाजिक-राजनीतिक संरचना या आधार समझा जाना चाहिए), में प्रतिबद्धता के रूप में **मौलिक अधिकारों** संबंधी अध्याय शामिल किया गया है जो व्यक्ति के मूल अधिकारों में राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध तथा राज्य से सकारात्मक वचनबद्धता की गारंटी प्रदान करता है ताकि न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित की जा सके और सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों सहित समाज के सभी वर्गों तक इन अधिकारों की पहुँच हो। इसके अतिरिक्त, संविधान में **राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों** को भी शामिल किया गया है

जो राज्य को स्वस्थ प्राकृतिक और भौतिक पर्यावरण का संवर्धन करने के लिए नीतियाँ आरंभ करने तथा समाज के भौतिक संसाधनों का न्यायपूर्ण वितरण सुनिश्चित करने का निर्देश और आदेश देते हैं। यद्यपि मौलिक अधिकारों के प्रावधानों और नीति-निर्देशकों के प्रावधानों की प्रवर्तनीयता (लागू करने) की मात्रा में थोड़ा ही अंतर है, फिर भी उन्हें कुल मिलाकर एक बड़ा अध्याय माना जा सकता है जिसमें समाज में शान्ति की व्यापक अवधारणा के प्रति वचनबद्धता शामिल है।

2.6 नागरिक समाज का आयाम और शान्ति

पिछले भागों में समाज में संघर्ष से निपटने संबंधी अंतिम अभिकरण (agency) के रूप में राजनीतिक राज्य की भूमिका की चर्चा की गई है। साथ ही, विविध सांस्थानिक उपायों (institutional devices) के क्रमिक विकास के माध्यम से शान्ति बनाए रखने संबंधी इसके प्रयासों का भी विश्लेषण किया गया है। फिर भी सत्य यह है कि समाज में संघर्ष मौजूद है और राज्य को, जैसा प्रतीत होता है, इस स्थिति से मुकाबला करना है। तथापि समाज में अन्य संस्थाएँ हैं जो संघर्ष को नियंत्रित करने और शान्ति बहाल करने में भूमिका निभाती हैं। इन संस्थाओं का समूह, कभी-कभी संस्थाओं का नेटवर्क नागरिक समाज (Civil Society) के नाम से जाना जाता है।

राज्य और नागरिक समाज के बीच संबंध का सिद्धान्त परिवर्तनशील सिद्धान्त है। पिछली तीन शताब्दियों से अधिक समय से इस संबंध के बारे में अनेक सिद्धान्त बदलते रहे हैं। हम अंतर्समाजीय और अंतर-समाजीय संघर्ष से संबंधित अगली इकाई में इसका कुछ विस्तार से अवलोकन करेंगे। यहाँ यह ध्यान देना पर्याप्त है कि पिछले दशकों में राज्य से अलग एक पहचान के रूप में नागरिक समाज संघर्ष का समाधान करने की एक सुदृढ़ शक्ति के रूप में उभरा है। ऐसा कुछ राज्यों में समाजों के कुछ वर्गों के बीच इस धारणा के कारण है कि राज्य संघर्ष से निपटने में पर्याप्त सक्षम नहीं हैं अथवा स्वयं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उन नीतियों का अनुसरण कर रहे हैं जो संघर्ष में योगदान करती हैं। कारण चाहे जो कुछ भी हों, सत्य यह है कि विभिन्न संघ (associations), समूह और संगठन सामाजिक क्षेत्र में विभिन्न कार्यों पर ध्यान दे रहे हैं। ग़ैर-सरकारी संगठन (Non-governmental Organisations – NGOs), समाज कल्याण संगठन और अन्य इसी प्रकार की संस्थाएँ जन स्वास्थ्य संवर्धन, अल्पसंख्यक अधिकार संरक्षण, गरीबों को कानूनी सहायता प्रदान करने, लोगों को उनके अधिकारों के बारे में जागरूक करने, सरकारों पर प्रहरियों (watchdogs) के रूप में कार्य करने से लेकर राष्ट्रीय एकता के संवर्धन के अनेक कार्यक्रम आरंभ करती हैं। ये अधिकतर लाभ न कमाने वाली संस्थाएँ हैं जो देश में और देश से बाहर से धर्मार्थ ट्रस्टों (charitable trusts) से धनराशि प्राप्त करती हैं। इस भूमिका में कुछ ग़ैर-सरकारी संगठन सरकार के सम्मानार्थ अंग के रूप में कार्य करते हैं। कुछ संगठन सरकारी अभिकरणों की प्रतिस्पर्धा में कार्यक्रम चलाते हैं और कुछ संगठन राज्य की संस्थाओं को चुनौती देते हुए प्रतिकूल (विरोधी) संस्थाओं के रूप में कार्य करते हैं। इन मुद्दों पर अगली इकाई में और प्रकाश डाला जाएगा।

2.7 शान्ति की नकारात्मक और सकारात्मक अवधारणा

पिछले पृष्ठों में शान्ति और संघर्ष शब्दों को स्पष्ट किया गया है। यहाँ फिर से कहना उचित होगा कि आदर्श रूप से देखा जाए तो शान्ति की अवधारणा संघर्ष के अभाव की अपेक्षा अधिक व्यापक है। साथ ही, एक बड़ी बात यह है कि संघर्ष चाहे व्यक्ति के अंतरमन से संबंधित हो अथवा व्यक्तियों के बीच संघर्ष से अथवा समुदायों के बीच संघर्ष से संबंधित हो, इसे पूरी तरह से समाप्त नहीं किया जा सकता। केवल संघर्ष को नियंत्रित किया जा सकता है। इस लक्ष्य के लिए सभी सभ्यताओं ने या तो धार्मिक आदेशों अथवा अन्य वैचारिक और संस्थागत उपायों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के प्रयास किए हैं।

NMDC-288

यह संघर्ष को दूर न कर पाने के संदर्भ में ही है कि शान्ति की नकारात्मक और सकारात्मक अवधारणाओं के बीच सैद्धांतिक भेद उत्पन्न होता है। शान्ति अनुसधान (Peace Research) के एक अग्रणी केनेथ बॉल्डिंग ने शान्ति के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं का महत्वपूर्ण विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि "सकारात्मक पक्ष पर शान्ति अच्छे प्रबंध की दशा, संघर्ष के व्यवस्थित समाधान, परिपक्व संबंधों से जुड़े सौहार्द, भद्रता और प्रेम को सूचित करती है। नकारात्मक पक्ष पर, इसे किसी चीज का अभाव अशान्ति, तनाव, संघर्ष और युद्ध का अभाव माना जाता है।"

यह देखा गया है कि बॉल्डिंग सकारात्मक शान्ति को राज्य के कार्यों के साथ नहीं जोड़ रहे हैं जहाँ सभी तनावों और संघर्षों का उन्मूलन हो जाता हैं। इसके विपरीत, उनका नकारात्मक शान्ति का यह विचार है जिसे अशान्ति और संघर्ष का अभाव माना जाता है। ध्यान देने की बात है कि उसके लिए सकारात्मक शान्ति की पहचान "संघर्ष के अच्छे प्रबंधन" से है। यहाँ पर विशेषण "अच्छा", विश्लेषण के लिए अत्यंत आवश्यक और आलोचनात्मक है। नकारात्मक शान्ति के लिए भी, संघर्ष के प्रबंधन का कार्य है। परन्तु यह प्रबंधन राज्य द्वारा संघर्ष के निष्ठुर दमन का रूप भी ले सकता है। आखिरकार, "शान्ति स्थापना" शब्द का प्रयोग सामरिक रूप से दबाने वाले संघर्ष द्वारा शान्ति की स्थापना को व्यक्त करने के लिए किया जाता है अथवा शत्रुओं के तुष्टीकरण के माध्यम से शान्ति स्थापना द्वारा संघर्ष पर नियंत्रण (प्रबंध) किया जाता है। क़ब्र की शान्ति चरम सीमा होती है। बॉल्डिंग इस तथ्य का स्मरण कराते हैं कि "मृतक की आत्मा को शान्ति" वाक्यांश कब्र के पत्थरों पर अंकित होता है जो "शून्यता की शान्ति" (peace of emptiness) अथवा "वास्तविकता की वापसी" को सूचित करता है। इस प्रकार न तो निष्ठुर शान्ति स्थापना, न ही तुष्टीकरण और न ही शून्यता की शान्ति को दूर-दूर तक अप्रत्यक्ष रूप से सकारात्मक अर्थ में शान्ति के समकक्ष नहीं माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह संघर्ष के प्रबंध का तरीका है जो शान्ति की सकारात्मक और नकारात्मक अवधारणाओं के बीच प्रमुख भेद है और यह केवल संघर्ष की मौजूदगी अथवा अनुपस्थिति ही नहीं है।

नकारात्मक और सकारात्मक शान्ति में भेद करने वाला एक अन्य तरीका भी है, जो बॉल्डिंग के विश्लेषण के थोड़ा-सा विपरीत है। उसके अनुसार नकारात्मक अवधारणा का अर्थ सभी स्तरों पर संघर्ष को कम से कम करने से है, यदि इसका पूरी तरह से विलोपन नहीं होता है। दूसरी ओर सकारात्मक शान्ति का अर्थ उस स्थिति से है जिसमें संघर्ष की दशाओं के स्पष्ट (व्यक्त) और अस्पष्ट (अव्यक्त) प्रभावों से बचने के मिले-जुले प्रयास किए जाते हैं। यह महसूस किया जाना चाहिए कि यहाँ तक कि नकारात्मक और सकारात्मक शान्ति के बीच यह अंतर संतुलित स्थिति से मेल नहीं खाता क्योंकि सकारात्मक श्रेणी के अंतर्गत भी संघर्ष की पूर्ण अनुपस्थिति विशेष रूप से स्पष्ट नहीं है। अवधारणा संबंधी कठिनाई को देखते हुए, यह कहना उचित होगा कि शान्ति की नकारात्मक और सकारात्मक अवधारणाएँ न्यूनतम और अधिकतम स्थिति से नहीं मिलती-जुलती जिसमें नकारात्मक श्रेणी के अंतर्गत संघर्ष पर नियंत्रण करने के लिए और अधिक प्रतिबंधित-सीमित गुजांइश रहती है जबकि सकारात्मक श्रेणी के अंतर्गत संघर्ष को रोकने (संभालने) में अत्यधिक व्यापक सफल प्रयास की आवश्यकता होती है। एक तरफ अहस्तक्षेपवादी राज्य (Laissez faire state) के उदाहरण हैं जिसे 'कानून और व्यवस्था बनाए रखने वाला' अथवा 'पुलिस राज्य' कहा जाता है, दूसरी ओर 'कल्याणकारी राज्य' है जो हमारी बात को सही ढंग से समझाते हैं। वे राज्य मानव के अधिकतम कल्याण के लिए अनेक कार्य करते हैं। पहली श्रेणी शान्ति की नकारात्मक अवधारणा को दर्शाती है जबकि दूसरी श्रेणी सकारात्मक अवधारणा को व्यक्त करती है।

यह विभाजन अंतर्राज्य (inter state) अथवा अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर और अधिक प्रासंगिक है। 'संघर्ष' और 'शान्ति' शब्दों के स्थान पर जो जब हम 'युद्ध' और 'शान्ति' शब्दों का प्रयोग करते हैं तब यह विभाजन और अधिक स्पष्ट हो जाता है। यह पहले भी देखा गया है कि युद्ध के बिल्कुल न होने का अर्थ शान्ति की स्थायी मौजूदगी नहीं है; हालाँकि युद्ध शान्ति के लिए अनिवार्य शर्त है। शान्ति को और अधिक पर्याप्त

परिस्थितियों की आवश्यकता पड़ती है। समस्या का यह पहलू अगली इकाई में आएगा जहाँ अंतरा-राज्य (intra-state) और अंतर्राज्य संघर्षों की चर्चा की if है।

2.8 सारांश

हमने इस इकाई के शुरू में शान्ति और संघर्ष की उत्पत्ति और इन अवधारणाओं के पारस्परिक संबंध की चर्चा की। हमने देखा कि यह कहना बहुत ही कठिन है कि कौन सी अवधारणा -शान्ति अथवा संघर्ष — का स्थान दूसरे से पहले है, को जोड़ने वाले आध्यात्मिक और धार्मिक चिंतन के व्यापक उदाहरणों का उल्लेख करते हुए हमने व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं और छोटे और बड़े समाजों में व्यक्तियों के बीच पारस्परिक संपर्कों में उनकी अभिव्यक्ति में शान्ति और संघर्ष के बीच संबंध का भी उल्लेख किया है।

दूसरे भाग में शान्ति और संघर्ष का विश्लेषण किया गया है जो सामाजिक व्यवस्था से संबंधित है। इस भाग में विभिन्न पद्धतियों पर प्रकाश डाला गया है जिनके द्वारा समाज शान्ति और संघर्ष की चुनौतियों से निपटता है। हमने देखा कि राज्य और सभ्य नागरिक समाज की सामाजिक द्वंद्व (social strife) को नियंत्रित और उसकी रोकथाम करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। मुख्य नियामक अभिकरण (regulatory agency) के रूप में राज्य (जिसे सरकार भी कहा जाता है) लगभग सभी समाजों में प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहा है। हमने यह भी देखा कि राज्य संघर्ष से बचने अथवा उसकी रोकथाम करने की अपेक्षा संघर्ष को नियंत्रित करने में अधिक समय लगता है। संघर्ष पर नियंत्रण करना एक प्रसिद्ध वाक्यांश में अभिव्यक्त किया गया है: कानून और व्यवस्था बनाए रखना - जिसकी पहचान शान्ति की न्यूनतमवादी अथवा न्यूनतम अवधारणा है। कल्याणकारी राज्य के उदय के साथ ही राज्य के कार्य बढ़ गए हैं। इसके साथ ही शान्ति और संघर्ष की अवधारणा का भी विस्तार होता रहा है।

इस इकाई में नकारात्मक और सकारात्मक शान्ति की अवधारणाओं और उनके विभिन्न अर्थों पर भी चर्चा की गई है। इस विश्लेषण से पता चलता है कि वास्तविक व्यवहार (प्रचलन) में संघर्ष की अनुपस्थिति अर्थात् उसका न होना अथवा रोकथाम के अर्थ में शान्ति की सर्वोत्तम ढंग से चर्चा की जा सकती है हालाँकि 'संघर्ष की रोकथाम' वाक्यांश अपने आपमें एक बहुत व्यापक शब्द है जिसे संकीर्ण अथवा व्यापक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है।

2.9 अभ्यास प्रश्न

1) स्पष्ट कीजिए कि राज्य की प्रकृति का शान्ति और संघर्ष पर प्रभाव किस प्रकार पड़ता है।

2) विश्लेषण कीजिए कि राज्य ने अपने ऐतिहासिक विकास में समाज में संघर्ष के प्रबंधन में और शान्ति के संवर्धन में किस प्रकार कार्य किया।

3) संघर्ष समाधान के एक अभिकरण के रूप में नागरिक समाज की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

4) कैनेथ बॉल्डिंग की नकारात्मक और सकारात्मक अवधारणा का वर्णन कीजिए।

5) नकारात्मक और सकारात्मक शान्ति की अवधारणाओं के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 3 संघर्ष की प्रकृति और उसके रूप : अंतरा-राज्य, अंतर्राज्य तथा वैश्विक

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 अंतरा-सामाजिक संघर्ष

3.2.1 विभिन्न व्यक्तियों के मध्य संघर्ष

3.2.2 अंतरा-सामाजिक संघर्ष के कारण

3.3 राज्य और अंतरा-राज्य संघर्ष का प्रबंधन

3.4 अंतरा-सामाजिक स्तर पर संघर्ष की श्रेणियाँ

3.5 संघर्ष के परिरोधन और समाधान में नागरिक समाज

3.5.1 नागरिक समाज का संदर्भ

3.5.2 समसामयिक नागरिक समाज: सिद्धान्त और व्यवहार

3.5.3 नागरिक समाज और संघर्ष समाधान

3.6 अन्तर्राज्य संघर्ष

3.7 युद्ध की दृश्यसत्ता पर चिंतन

3.7.1 वाल्ट्ज़ की समीक्षा

3.7.2 क्लाज़विच का युद्ध का सिद्धान्त

3.7.3 युद्ध के अन्य दर्शन

3.7.4 उचित युद्ध का सिद्धान्त

3.8 वैश्विक युद्ध

3.8.1 वैश्विक युद्ध के गुणात्मक आयाम

3.8.2 परमाणु अस्त्र और परिणामों की प्रचुरता

3.8.3 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद - वैश्विक युद्ध का संयंत्र

3.8.4 सभ्यताओं का संघर्ष और वैश्विक युद्ध

3.9 इसके अस्तित्व के बारे में निरंतर अनिश्चितता

3.10 सारांश

3.11 अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में शांति और संघर्ष की अवधारणा की समीक्षा की गई तथा उनके पारस्परिक संबंधों और संघर्ष को सीमित रखने के विभिन्न उपायों का विवेचन भी किया गया था। वहीं साथ ही, मानव प्रयासों का भी उल्लेख किया गया था। इस इकाई में हम उन प्रयासों का विवेचन करने का प्रयास करेंगे जिनके द्वारा मानव संबंधों में संघर्ष का सामना करने और उसे सीमित करने की चेष्टा की गई है।

NMDC-288

संघर्ष के **रूप** (Forms) प्रायः उसके **स्तर** (levels) से लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए, अंतरा-राज्य (Intra-state) संघर्ष का संबंध उन तनावों और झगड़ों से होता है जो किसी राज्य के अंदर उत्पन्न होते हैं, जबकि अन्तर्राज्य (Inter-state) संघर्ष से अभिप्राय उन विवादों से होता है जो कि कभी-कभी देशों के मध्य युद्ध का रूप ले लेते हैं। वैश्विक संघर्ष एक नया शब्द है। हालांकि इसमें अन्तर्राज्य संघर्ष की कई विशेषताएँ शामिल होती हैं फिर भी इसे अन्तर्राज्य संघर्ष से कुछ हट कर समझा जाना चाहिए, दूसरी ओर, 'प्रकृति' शब्द का अर्थ गुणात्मक आयाम से लिया जाता है। अंतरा-राज्य संघर्ष की गुणात्मक प्रकृति अंतर्राज्य (देश के अंदर) संघर्ष से एकदम भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, देश के अंदर होने वाले हिंसात्मक झगड़ों की अपेक्षा युद्ध कहीं अधिक गंभीर होते हैं। चाहे, गृह युद्ध जैसी कुछ परिस्थितियाँ युद्ध की स्थिति से काफी मिलती-जुलती हैं।

जब यह कहा जाता है कि अन्तर्राज्य संघर्ष अंतरा-राज्य संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर होते हैं तब हमारा यह अर्थ नहीं होता है कि अंतर्राज्य संघर्ष, राज्य के अंदर होने वाले संघर्ष से मात्रात्मक रूप में अधिक होता है। वास्तव में, राज्यों के अंदर होने वाले संघर्ष राज्यों के मध्य होने वाले संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक (मात्रा में) होते हैं। फिर भी, यह तो स्वीकार किया जाता है कि युद्ध निश्चित रूप से समाज में किए गए अपराधों की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर होते हैं। वास्तव में यही दोनों में गुणात्मक अंतर है और इस गुणात्मक अंतर के कई आधार हो सकते हैं। **प्रथम**, अंतरा-राज्य (भीतरी) संघर्ष लम्बे समय से संगठित नियंत्रण में रहे हैं, जबकि अंतर्राज्य संघर्ष आज भी किसी संगठित नियंत्रण से बाहर होते हैं। **द्वितीय**, अंतर्राज्य संघर्ष की तीव्रता और गंभीरता अंतरा-राज्य संघर्ष से अधिक होती है। साथ ही वह अधिक ख़तरनाक भी होते हैं। उदाहरण के लिए, युद्ध समाज को भीषण हानि पहुँचाते हैं। इनमें जान और माल की सर्वाधिक गंभीर हानि होती है। आधुनिक युद्ध, पहले की अपेक्षा अधिक भयावह हो गए हैं, क्योंकि अब भौगोलिक पहुँच बढ़ने के साथ-साथ आधुनिक अस्त्रों की मारक क्षमता बहुत अधिक हो गई है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राचीन समय से ही इतिहासकार और चिंतक युद्ध को अप्राकृतिक मानते रहे हैं।

3.2 अंतरा-सामाजिक संघर्ष

जैसा कि हमने पिछली इकाई में देखा है व्यक्तियों के पारस्परिक संघर्ष की भूमिका, उन संघर्षों से भिन्न होती है जिन्हें अन्तर्वैयक्तिक संघर्ष कहते हैं अर्थात् वे संघर्ष जो किसी व्यक्ति के भीतर चलते रहते हैं। यद्यपि इस अन्तर्वैयक्तिक संघर्ष की बाह्य अभिव्यक्ति अवश्य होती है, और यह अभिव्यक्ति, जो व्यक्तियों के मध्य तनाव का रूप लेती है, बहुधा संघर्ष में परिवर्तित हो जाती है। हमारे वर्तमान संदर्भ में, व्यक्तियों के भीतरी संघर्ष के मनोवैज्ञानिक, शारीरिक और रोग-पहचान संबंधी कारणों का विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता है। अंतरा-सामाजिक संघर्ष के विस्तृत दायरे में हम अपना ध्यान विभिन्न व्यक्तियों के मध्य संघर्ष तक सीमित रखेंगे।

3.2.1 विभिन्न व्यक्तियों के मध्य संघर्ष

विभिन्न व्यक्तियों के बीच होने वाले संघर्ष को अंतरा-सामाजिक (Intra-societal) संघर्ष का मूल रूप माना जा सकता है। वे सभी समाजों में सामान्य घटना होती है। जैसा कि पहले ही देखा गया है, ऐसे संघर्ष या तो मानव स्वभाव के कारण होते हैं, या फिर मानव स्वभावों में संघर्ष के कारण तब होते हैं जब विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे के सम्पर्क में पारिवारिक या सामुदायिक स्तर पर आते हैं। इसे अंतरा-सामाजिक संघर्ष का मूल कारण माना जा सकता है। व्यक्तियों के संपर्क में संदर्भ में जो मुद्दे संघर्ष उत्पन्न करने में सहायक होते हैं उनमें शामिल हैं: उपलब्ध संसाधनों (जैसे भोजन, जल, सम्पत्ति) तथा स्नेह एवं पारस्परिक सम्मान इत्यादि में भागीदारी। चाहे संसाधनों से अधिक असमानता वास्तविक है या काल्पनिक, वे मानव स्वभाव और मानव संबंधों के लिए संवेदनशील कारण हो सकते हैं। यह ध्यान में रखना होगा कि संघर्ष का यह

कारण वैयक्तिक एवं अंतरा-सामाजिक दोनों स्तरों पर मानव संबंधों के समस्त क्षेत्र में पाया जाता है।

विभिन्न व्यक्तियों के बीच संघर्ष के बढ़ने के पीछे सम्पत्ति के लिए दावे से लेकर हिंसात्मक झगड़ों तक अनेक कारण हो सकते हैं। हिंसात्मक झगड़े प्रायः फौजदारी स्तर तक पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति-समूहों के मध्य सम्पर्क में विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे असमान कारकों की भूमिका भी बढ़ती जाती है। उस परिस्थिति में संघर्ष और भी तेज़ हो जाते हैं। इसी कारण, समाज के भीतर तनाव और संघर्ष सामाजिक शांति को व्यापक रूप से भंग करते हैं। इस तथ्य का प्रभाव संघर्ष समाधान और परिरोधन (containment) पर पड़ता है।

पारिवारिक और घरेलू स्तर पर प्रायः परिवार के बुज़ुर्गों और अन्य संबंधियों द्वारा संघर्ष समाधान करवाया जा सकता है। जब संघर्ष गंभीर हो जाएँ और परिवार के स्तर पर उनका निपटारा न हो सकता हो तब राज्य की भूमिका आरंभ होती है। पिछली इकाई में उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार प्राचीन समय से ही राज्य की न्याय व्यवस्था और वैधानिक व्यवस्था संघर्ष समाधान का कार्य करती रही है। इस प्रकार जिस कानून की उत्पत्ति होती है वह स्वयं परिपाटियों, रूढ़ियों, परम्पराओं और संहिताबद्ध विधि का मिश्रण होता है। अंतिम, अर्थात् संहिताबद्ध विधि वे कानून होते हैं जिनका निर्माण देश की विधायिका करती है। वह विधान-निर्मात्री संस्था प्राचीनकाल के सर्वशक्तिंशाली शासक (राजा) हो, या फिर आधुनिक लोकतांत्रिक रूप से गठित विधानपालिका हो। आधुनिक लोकतांत्रिक विधायिकाओं की स्थापना के साथ सामान्य व्यक्तियों - पुरुषों और महिलाओं — की विधि निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका हो गई है, और उनके द्वारा साधारण नागरिक संघर्ष समाधान में अप्रत्यक्ष रूप से योगदान करते हैं।

3.2.2 अंतरा-सामाजिक संघर्ष के कारण

पारिवारिक कलह तथा सामाजिक उत्सवों के संदर्भ में झगड़ों को निम्न-स्तरीय संघर्ष का कारण माना जाता है। ग्रामों और कबीलों जैसे बड़े समुदायों में जल-संसाधनों, चरागाहों, कुँओं और नदियों के जल के बँटबारे को लेकर उच्च-स्तरीय संघर्ष उत्पन्न हो सकते हैं। शिकार करने वाले समुदायों में भी शिकार के बँटवारे को लेकर प्रायः विवाद हो जाते हैं, जो कभी-कभी हिंसात्मक संघर्ष में परिवर्तित हो जाते हैं। और कृषक समाजों में, भूमि-सम्पत्ति को लेकर सामाजिक संघर्ष जन्म ले लेते हैं। ये सभी प्रकार के संघर्ष अंतरा-सामाजिक संघर्ष के रूप में प्रकट होते हैं जिनमें लंबवत् (ऊर्ध्वाधर - vertical) रूप से पारिवारिक विवादों, सामुदायिक संघर्ष शामिल हैं जो पूरे समाज की शांति और उसके स्थायित्व के लिए खतरा बन सकते हैं।

यह संघर्ष उत्पन्न करने में निजी सम्पत्ति के इस कार्य के विचार से है जिसे रूसो (Rousseau) ने अपने सामाजिक संविदा (Social Contract) में आमूल परिवर्तनवादी विचार कहा है। रूसो के अनुसार वह व्यक्ति जो भूमि के टुकड़े के चारों और खम्भे लगा देता है और उसे स्वयं अपनी भूमि बताता है, वास्तव में, वही विचार सामाजिक संघर्ष का मुख्य प्रवर्तक है। बाद में, प्रूधों (Proudhon) ने इससे भी अधिक आमूल परिवर्तनवादी मत व्यक्त किया कि "सम्पत्ति चोरी है।" वास्तव में, सभी विचार निजी सम्पत्ति के उतने अधिक प्रबल आलोचक नहीं है जितने संघर्ष के स्रोत के है। फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि सभ्यता की प्रगति के लिए सकारात्मक योगदान होने के बावजूद निजी सम्पत्ति की प्रथा समाज में संघर्ष उत्पन्न करने का प्रमुख कारक है।

सम्पत्ति के साथ-साथ संघर्ष के अन्य महत्वपूर्ण कारण हैं। मानव समूह विविध प्रकार की पहचान अर्जित करते हैं। समाज में पृथक-पृथक पहचानों के कार्य के प्रति आभास को अच्छी तरह स्वीकार किया गया है। धर्म, जाति, भाषा के आधार पर पहचान सबसे अधिक आम घटनाएँ हैं। इन पहचानों से संबंध और निष्ठा के प्रतिद्वंद्वी केंद्रों के बीच परस्पर विरोध बहुधा भिन्न-भिन्न पहचान समूहों में प्रतिस्पर्धा, तनाव और संघर्ष उत्पन्न करता है।

NMDC-288

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ये पृथकतावादी निष्ठा (separatist loyalties) वाले समूह बड़े समाजों में साथ-साथ नहीं रहते हैं। वास्तव में, विगत में और वर्तमान में, बहुत से समाजों ने एक ही राज्य की व्यवस्था के अंतर्गत रहने वाले बहुत से विशाल समुदायों के प्रतिभास का अनुभव किया है। राज्य स्वयं को एकजुट रखने के लिए विभिन्न युक्तियों को अपनाता है। ये युक्तियाँ सामाजिक समूहों के समायोजनकारी प्रतिस्पर्धात्मक दावों की नीतियाँ अपनाने से इन दावों के विभाजनकारी प्रभाव नियंत्रित करने के लिए विभिन्न मात्रा में बल का प्रयोग करने तक हो सकती हैं। यह स्वीकार करना महत्वपूर्ण है कि पृथकतावादी और विभाजनकारी निष्ठाएँ कभी-कभी राज्य के अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर सकती हैं। अतः इस स्थिति में संघर्ष का समाधान करने की राज्य की क्षमता अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है।

ऐसे राज्य के रूप में संगठित समाज की भूमिका पर चर्चा करते समय, जो अपने संघटक व्यक्तियों के विभिन्न हितों, प्रयोजनों और समूह निष्ठाओं का सामना कर रहे हों, डेविड ईस्टन (David Easton) जैसे लब्धप्रतिष्ठ राजनीतिक-वैज्ञानिक के सैद्धान्तिक प्रतिपादन का उल्लेख करना आवश्यक है। ईस्टन ने क्रियाकलाप का वर्णन करने में सामान्यतया इसे राजनीति कहा था जिसे करने के लिए राज्य होता है, राजनीति को "समाज में मूल्यों के संधिकार आवंटन" से संबंधित कार्य के रूप में परिभाषित किया। इस परिभाषा का तात्पर्य राज्य की भूमिका का स्वरूप और सीमाएँ शिक्षाप्रद स्वरूप का है। पहला, राज्य समग्र रूप से समाज का अभिकर्त्ता है और दूसरा इसकी भूमिका समाज के सदस्यों के बीच "मूल्यों का साधिकार आवंटन" है। "आधिकारिक" (authoritative) और "मूल्यों" (values) शब्दों का प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है। "आधिकारिक" यह निर्णय करने में निश्चयात्मकता सुझाता है कि "राज्य में क्या है जिसे वह प्राप्त करता है।" और, "मूल्यों" का अभिप्राय उन विभिन्न वस्तुओं से है जिसे मानव प्राणी चाहता है, जिसकी इच्छा करता है और जिसकी अभिलाषा करता है। ये इच्छाएँ भौतिक वस्तुओं से, भावात्मक और बौद्धिक आवश्यकताओं (जैसे प्रियजनों से स्नेह और समाज के अन्य वर्गों से) और बहुत से मामलों में आध्यात्मिक या नैतिक संतुष्टि तक होती है।

इन मूल्यों के अनुसरण से किसी को अधिक संतोष और लाभ होता है किसी को कम। सामान्यतया सभी को वह सब कुछ नहीं मिलता है जिसे वे चाहते हैं। यह प्रक्रिया कभी हमारे ध्यान के बिना चलती रहती है। वास्तव में, जब हम निकटता से देखते हैं तो सभी अंतरा-सामाजिक (अंतःसमाजीय) संबंध पूरे इतिहास में होते हैं और मानव प्राणियों द्वारा अनुसरण किए गए इन मूल्यों में रहते हैं। परिवार, कबीला, गाँव तथा अन्य अधिक बड़े समुदाय औपचारिक रूप से और भिन्न-भिन्न तरीकों से मूल्यों के वितरण की इस क्रिया का निर्वहन करते रहते हैं। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि लोगों में सदा असमान "वितरण" हुआ है। कुछ असंतोष अनुभव करते हैं कि उन्हें कम महत्व मिला है और इनमें से अधिकांश को तो इतिहास के आदि से अंत तक वंचित रखा गया है। जिन्हें हम आज वंचित वर्ग (deprived sections) कहते हैं वे सभी समय और स्थानों में आम लक्षण हैं। फिर भी, बड़े समाज वितरण व्यवस्था का प्रबंध करते रहते हैं।

परन्तु किसी समय विरोध ऐसे स्तर पर पहुँचते हैं कि प्राधिकार के मुद्दे का निपटारा बलपूर्वक या समझा-बुझाकर या समाधान थोपकर करना आवश्यक होता है। यही है जिसे "मूल्यों का आधिकारिक आवंटन" (authoritative allocation of values) कहा जा सकता है जो विद्यमान औपचारिक आवंटन से भिन्न माना जाता है। और दावों, विरोधों, हिंसात्मक झगड़ों यहाँ तक विद्रोहों का आधिकारिक रूप से निपटारा करने का यह कार्य समाज की ओर से राज्य द्वारा किया जाता है। ईस्टन की परिभाषा इस बिन्दु पर बल देने की योग्यता है कि यदि राज्य राजनीतिक दृष्टि से या कानूनी दृष्टि से संगठित समाज है तो कानून और व्यवस्था बनाए रखने के उसके कार्य में समाज में संघर्ष प्रबंधन भी करना होता है ताकि सामाजिक व्यवस्थाएँ अंततः ऐसा निर्णय या समायोजन कर सकें जिसमें लोग सफलता की भिन्न-भिन्न मात्रा में मूल्यों का अनुसरण कर सकें। इसलिए सुपरिचित समाज वैज्ञानिक हेराल्ड जे. लास्सवेल (Harold J. Lasswell) ने राजनीति को कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है, का अध्ययन कहा है।

NMDC-288

उपर्युक्त अध्ययन पहले, अंतरा-राज्य (राज्य के अंदर) या अंतरा-सामाजिक (समाज के अंदर) संघर्षों का स्रोत स्पष्ट करता है; दूसरा, यह उस तथ्य का उल्लेख करता है कि समाज में मानव क्रियाकलाप की दिनकचर्या में सम्पत्ति, धन-दौलत और सामाजिक हैसियत के वितरण संबंधी मामलों में असंतोष और संघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं और तीसरा, राज्य सामने तब आता है जब संघर्ष इतने अधिक गंभीर हो जाते हैं कि राज्य के (कानूनी) हस्तक्षेप की आवश्यकता हो जाती है।

3.3 राज्य और अंतरा-राज्य संघर्ष का प्रबंधन

इस संदर्भ में हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि राज्य की भूमिका वास्तव में सामाजिक संघर्षों में सुधार करने या समायोजन करने की ओर होती है। राज्य वस्तुतः अधिकांश समय यथापूर्व-स्थिति की रक्षा करता है। इस भूमिका में, यह भी कहा जा सकता है कि यह कानून और व्यवस्था बनाए रखने में समाज के एक वर्ग (वह वर्ग जो उसपर अधिकार और प्रभाव नियंत्रित करता है) का अभिकर्त्ता है परन्तु तब राज्य भी कभी-कभी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का पुनः समायोजन करने या धार्मिक, सांस्कृतिक तथा नृजातीय मान्यता (ethnic recognition) के विरोधी दावों का समाशोधन करने के लिए कदम उठाता है।

राज्यों के पास अंतरा-राज्य संघर्ष की स्थिति से निपटने के लिए विशाल आधारभूत संरचना का नेटवर्क होता है। ये संघर्ष की स्थितियाँ (जैसे पारिवारिक झगड़ों से उत्पन्न होकर हिंसात्मक रूप), साधारण माने जाने वाले सर्वव्यापक अपराध से लेकर सामूहिक हिंसात्मक राजद्रोह या क्रांतिकारी हिंसा तक होती हैं। कार्यपालिका शाखा के लिए विधायी अंग और न्याय प्रणाली है परन्तु वे इस नेटवर्क के अभिन्न भाग हैं।

कार्यपालिका शाखा संघर्ष समाधान का तात्कालिक अभिकर्त्ता है। यह विद्यमान कानून की सहायता से अंतरा-राज्य संघर्ष का प्रबंधन करता है। इस दृष्टि से यह यथापूर्व स्थिति बनाए रखने वाला अंग है और पुलिस इसकी एकाधिकार उप-अभिकर्त्ता (सब एजेंट) है। इसके समग्र पर्यवेक्षण की भूमिका सिविल सेवा के पास होती है। विधायी शाखा के पास कानून बनाने का कार्य है। लोकतंत्र में, अर्थात् उदार लोकतांत्रिक स्वरूप में इसे संघर्ष कम करने, प्रबंधन करने और टालने का ढाँचा बनाने के लिए राज्य के प्रमुख अंग के रूप में माना जाता है। मोटे तौर पर इस कार्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले का संबंध यह सुनिश्चित करने के लिए कानून बनाने से है कि वह संघर्ष प्रबंधन करने में सक्षम है। दूसरे का संबंध यह सुनिश्चित करने के लिए कानून परिवर्तन करने की अधिक महत्वपूर्ण भूमिका से है कि सामाजिक संघर्ष को टालने के लिए अनुकूल अधिक अच्छा सामाजिक और आर्थिक वातावरण हो। इसमें न्यायपालिका की मिश्रित भूमिका है। संघर्ष समाधान के सबसे अधिक आम उदाहरण हैं: निजी (private) व्यक्तियों के बीच मामलों का निपटारा जो अधिकतर दीवानी मामले होते हैं। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि राज्य के कार्य के भाग के रूप में इस कार्य के मूल समाजों में अपने आपमें क्रांतिकारी कदम था, जिसमें वे संघर्ष समाधान के मान्य अभिकर्त्ताओं के रूप में संगठित होते हैं। आपराधिक मामलों में निर्णय करने में इसकी भूमिका कम होती है क्योंकि ऐसे मामलों में राज्य अपराधियों पर मुकदमा चलाती है। इसके अतिरिक्त, कानूनों की और उनसे आने वाले नियमों और विनियमों की आधिकारिक रूप से व्याख्या करने की ठीक-ठीक प्रक्रिया में न्यायपालिका में न केवल यह स्पष्ट करने की अंतःनिर्मित भूमिका होती है कि कानून क्या है बल्कि कुछ सीमा तक कानूनों में प्रयुक्त शब्दों का आशय बदलने की भी भूमिका होती है। इससे न्यायालय बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल कानून भी बनाता है। न्यायालय इस आशय को सदा इतना स्पष्ट नहीं करता है क्योंकि परम्परागत रूप में उनकी भूमिका संविधियों और नियमों तथा विनियमों के शब्दों को पढ़ने तक सीमित होती है। परन्तु फिर भी इस प्रकार की अनुकूली व्याख्या को हमारे समय में स्वीकृत प्रथा माना जाता है।

तथापि परिस्थितियाँ तब उत्पन्न होती हैं जब राज्य की समग्र आर्थिक और सामाजिक संसाधन पुनर्वितरण क्रियाविधि संघर्ष उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को नियंत्रित करने में सक्षम नहीं होती है। ऐसी परिस्थितियों में ही राज्य और समाज में गंभीर संकट उत्पन्न होने वाला कहा जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में भी जहाँ के आंतर निवास हो सकते हैं जहाँ राज्य विरोध बना रहना जारी रह सकता है, वहाँ भी राज्य विद्यमान रह सकता है। परन्तु जब संघर्ष के ये स्रोत, जैसे धर्म, या नृजातीय कलह (ethnic strife), अमीर और गरीब के बीच आर्थिक संघर्ष, बहुत गंभीर स्तरों तक पहुँचता है। अतः संघर्ष समाधान अनियंत्रित हो सकता है। संघर्ष के ऐसे मामलों को संघर्ष के स्तर के आधार पर विद्रोह, क्रांति या गृह-युद्ध जैसे भिन्न-भिन्न नामों से जाना जा सकता है।

हाल ही के वर्षों में "विफल राज्य" (failed state) का विचार प्रयोग में आया है। विद्वान इस शब्द की परिभाषा कैसे करें, इससे सहमत नहीं हो सके। परन्तु अधिकांश इससे सहमत हैं कि राज्य की विफलता उन बहुत-सी चुनौतियों में से एक है जिसका सामना विश्व व्यवस्था करती है। मोटे तौर पर जिन राज्यों ने अपने राज्य क्षेत्र पर नियंत्रण खो दिया है या नियंत्रण खो रहा है और अपने लोगों को सबसे अधिक बुनियादी सेवाएँ भी प्रदान करने में असमर्थ रहा है, वे राज्य इस श्रेणी में आते हैं। पुराने ढंग की भाषा में, कानून और व्यवस्था बनाए रखने में विफल रहने का यह एक पहलू है। परन्तु यह उससे काफी अधिक है। किसी न किसी प्रकार इसे समाज के संसाधनों का आधिकारिक आवंटन स्थायी बनाए रखने में या ऐसा करने का प्रयास करते हुए दिखाई देने में भी राज्य की विफलता से जोड़ा जाता है। यह विभिन्न प्रकार के अंतरा-सामाजिक संघर्षों जैसे विद्रोह और सिविल युद्ध की प्रजनन भूमि बनती है।

विश्व बैंक (World Bank) ने 30 "दबावग्रस्त निम्न आय के देशों" (low-income countries under stress) की सूची तैयार की है। शब्द "दुर्बल" (fragile) राज्य का प्रयोग भी उन राज्यों का वर्णन करने के लिए किया जो अपने अस्तित्व की गंभीर चुनौती का सामना कर रहे हैं। राज्य बाहरी आघात के कारण विफल हो सकते हैं या वे अपने अंदर से ही या दोनों से क्षीण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अफगानिस्तान और अंगोला का विध्वंस तब हुआ जब उन्हें नियंत्रित करने वाली बाहरी शक्तियाँ अचानक वापस चली गईं। सिएरा लिओन (Sierra Leone) और कांगो (Congo) में अधिकांशतः आंतरिक अवस्था से लूट और ठगी की गई थी। इस प्रकार विद्रोह उत्पन्न हुए और अंततः राज्य ढह गया। किसी न किसी रूप में गृह-युद्ध राज्य की विफलता का अंतिम लक्षण हैं।

विफल राज्य कैसे सुधारा जाए? अतीत में विफल राज्य में सामान्यतया अपेक्षाकृत शक्तिशाली पड़ोसी ने हस्तक्षेप किया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इस प्रकार के हस्तक्षेप की वैधता को आँकने का कोई निश्चित मापदंड नहीं था। फिर भी, अपने सदस्यों के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के उत्तरदायित्व की बढ़ती हुई मान्यता के कारण, संयुक्त राष्ट्र और क्षेत्रीय संगठनों (जैसे लाइबेरिया, सूडान और सोमालिया जैसे संघर्षग्रस्त राज्यों के मामले में अफ्रीकी राज्यों के संगठन) ने गृह युद्ध रोकने के लिए सैन्य बल से, और राज्य की बुनियादी आधारभूत संरचना निर्माण के लिए वित्तीय सहायता से हस्तक्षेप किया है। अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय सहायता और मानव अधिकार एजेंसियाँ राहत देने तथा कानून और व्यवस्था पुनः स्थापित करने के लिए कार्य कर रही हैं।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अंतरा-सामाजिक संघर्ष के अपराधकर्त्ताओं को दंड देने में अंतर्सामाजिक समुदाय की हाल ही की पहल है। निष्ठुर सैनिक नेताओं या असैनिक तानाशाहों के अपने विरोधियों पर नरसंहार आंतरिक विद्रोह और गृह युद्ध दशाएँ कारण और परिणाम दोनों हैं। जैसा कि पिछले दशक में, रवाण्डा, सर्बिया और कोसोवो (Kosovo) में संघर्ष समाधान करने के उत्तरदायियों पर अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालयों द्वारा मुकद्दमे चलाए गए। अंतरा-सामाजिक संघर्ष समाधान की प्रकिया में अन्तर्राष्ट्रीय समाज की भूमिका में अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय, हेग, ने नई मिसाल स्थापित की। यह दूरगामी परिणाम है क्योंकि अभी तक अंतरा-सामाजिक संघर्ष को राज्य की विशिष्ट समस्या के रूप

NMDC-288

में और बाहरी हस्तक्षेप को बिल्कुल अस्वीकार्य समझा जाता था। राज्य संप्रभुता के सिद्धान्त ने इस रवैये को दृढ़ता के साथ पुष्ट किया।

3.4 अंतरा-सामाजिक स्तर पर संघर्ष की श्रेणियाँ

ऊपर हमने चर्चा की है कि राज्यों द्वारा अपनाए गए समाजीय शांति और क्रियाविध पर प्रहार करने वाले अंतरा-सामाजिक संघर्ष का सामना कैसे किया जाना चाहिए। इस चर्चा के आधार पर हम सरलता से अंतरा-सामाजिक स्तर पर संघर्ष के स्वरूप को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं: सूक्ष्म स्तर संघर्ष (Micro-level conflict); और बृहत् स्तर संघर्ष (Macro-level conflict)।

सूक्ष्म स्तर संघर्ष

सूक्ष्म स्तर श्रेणी में स्थानीय और सतत तनाव, कलह और निम्न तीव्रता की हिंसा आती है। पारिवारिक कलह, समूह टकराव और अपराध (जैसे चोरी, चोट पहुँचाना तथा हत्या) को भी इस श्रेणी के अंतर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। इस संबंध में समकालीन समय में गृह कलह के उन प्रकारों को भी लिया जाता है जिनका विगत में संज्ञान नहीं लिया गया हो। पुरुषों द्वारा महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार तथा शारीरिक तथा मानसिक रूप से उपेक्षा भी अब अस्वीकार्य है। इसलिए समाज इन अन्यायों को रोकने के उपाय करता है। यद्यपि समाज में सूक्ष्म स्तर संघर्ष समाज की उत्तरजीविता के लिए स्वयं कम चुनौती है। फिर भी, इस पर समाज को पर्याप्त ध्यान और क्रिया करनी होती है। इस तथ्य को इससे समझा जा सकता है कि राज्य के तंत्र का बड़ा भाग सूक्ष्म स्तर संघर्षों का समाधान करने या कम करने में लगाया जाता है। पुलिस, विभिन्न प्रकार के न्यायालय, राज्य के कार्यकारी प्राधिकार और असंख्य कानून और विनियम जिन्हें राज्य बनाता है, इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए हैं। वास्तव में, ये सभी समस्याएँ और अभिप्रेत संसाधनो को केवल नेमी स्वरूप का माना जाता है।

बृहत स्तर संघर्ष

बृहत स्तर संघर्ष का अंतरा-सामाजिक संघर्ष सामान्य समाज के अस्तित्व में बहुत कम है। इस श्रेणी के उदाहरण हैं: लोगों के बड़े वर्गों के बीच बार-बार होने वाले झगड़े, स्थानीय श्रमिक अशांति, धर्मों के बीच और नृजातियों के बीच तथा भाषायी विवाद। यहाँ भी राज्यों की सहायता से संघर्ष टालने, समाधान करने या नियंत्रित करने में उपयुक्त भूमिका निभाती जाती है। परन्तु बृहत स्तर का संघर्ष समाज और राज्य के लिए चुनौती से भी अधिक है। इस संघर्ष से ऐसा महत्व जुड़ा हुआ है कि राज्य का स्वास्थ्य और शक्ति इसे निपटाने की उसकी प्रभाविकता द्वारा मापी जाती है। फिर भी, इस श्रेणी के संघर्ष से निपटने वाले राज्य हिंसा दबाने के लिए कठोर उपायों का सहारा लेने के लिए प्रवृत्त होते हैं। 'राज्य हिंसा' या 'राज्य आतंकवाद' जैसे शब्द जो सामान्य प्रयोग में आ गए हैं, समाजीय हिंसा के इस पहलू को रेखांकित करते हैं। वास्तव में मानव अधिकार सक्रियतावादियों की चिंता है कि राज्य द्वारा प्रतिकारात्मक हिंसा बड़े समाजों में राज्य विरोधी वर्गों द्वारा उत्पन्न किए गए संघर्ष की तुलना में अधिक निन्दनीय है।

यद्यपि "प्रौढ़" (mature) या "विकसित" समाज को इसे सफलतापूर्वक निपटाने की क्षमता का माना जाता है परन्तु वे ऐसा करने में पूरी तरह से निष्प्रभावी रहे हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन (यूनाइटेड किंगडम) जो प्रौढ़ (विकसित) समाज है, उत्तरी आयरलैंड की समस्या अर्थात् प्रोस्टेण्ट और कैथोलिक समुदायों के बीच संघर्ष की समस्या हल करने में असमर्थ रहा है। आयरलैंड की यह समस्या आधी शताब्दी से भी अधिक समय से चली आ रही है। वास्तव में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नए राज्यों में यह संघर्ष अधिक तीव्र और अधिक विकट हैं। यद्यपि यहाँ समाज अपने अस्तित्व के आधार पर बहुत पुराने हैं परन्तु राजनीतिक सत्ता के रूप में, अर्थात् राज्यों के रूप में बहुत नए हैं। इसीलिए कुछ समाज

NMDC-288

वैज्ञानिक उन्हें "प्राचीन समाज और नए राज्य" कहते हैं। प्रायः ये सभी नए राज्य तीव्र सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन देख रहे हैं, इन्हें धार्मिक, नृजातीय, भाषायी, उनके लोगों के बीच अन्य ऐसे संघर्षों को ध्यान में रखना होगा।

3.5 संघर्ष के परिरोधन और समाधान में नागरिक समाज

विभिन्न सार्वजनिक हितों को निरूपित करने वाले समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों का दावा ऐसी घटना है जिसकी हमने हाल ही के दशकों में पहचान की है। यह वही है जिसे राज्य से भिन्न नागरिक समाज का उद्‌भव कहा जाने लगा है। जैसा कि डेविड ई. एप्टर (David E. Apter) ऐसे नागरिक समाज का उल्लेख करता है, जिसका संबंध समाज के स्वयंसेवी संगठन, ग़ैर-सरकारी संगठन, निजी शैक्षिक और धार्मिक सुविधाएँ आदि जैसे नेटवर्कों से है। यह कैसे हस्तक्षेप करता है और इसके अधिक इसका अधिकार सीमांकित किया जाता है, यह सभी राज्य का स्वरूप (लोकतांत्रिक, अधिकारीवादी आदि) परिभाषित करता है। जिस सीमा तक नागरिक समाज में सरकार हस्तक्षेप करती है, हम सुदृढ़ "राज्य" कहते हैं, अर्थात् जहाँ सरकार अपने नागरिकों के कल्याण के लिए उच्च स्तर का उत्तरदायित्व स्वीकार करती है, जहाँ राज्य से बाहर निकायों द्वारा उत्तरदायित्वों को पूरा किया जाता है, उसे हम "सुदृढ़ नागरिक समाज" कहते हैं। फिर भी सरकारी हस्तक्षेप और सामाजिक लाभ के बीच कोई स्पष्ट या आवश्यक समरूपता भी नहीं है। नागरिक समाज पर विख्यात विशेषज्ञ, जान कीने नागरिक समाज की अधिक व्यापक परिभाषा भी देता है, जब वह कहता है .... "इसका संबंध अंतःसंबंधित सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं के गतिशील ग़ैरसरकारी प्रणाली से है..."

यह नेटवर्क राज्य की भूमिका को सहयोग और सहायता देता है। कभी-कभी राज्य की तुलना में उनकी भूमिका परस्पर विरोधी होती है। उनमें से कुछ राज्य की नीतियों के लिए सम्पूरक कार्य करती हैं। कुछ अन्य उन क्षेत्रों में प्रवेश करती हैं जिनमें संरकारी एजेंसियाँ नहीं होती हैं। इनके अलावा कुछ अन्य होते हैं विशेषकर वे ग़ैर-सरकारी संगठन जो मानव अधिकार की माँग करते हैं जिनके उद्देश्य और कार्य निरंतर राजनीतिक दलों की नीतियों को चुनौती दे सकती हैं।

3.5.1 नागरिक समाज का संदर्भ

नागरिक समाज का विकास राज्य से उसके संबंध में आधुनिक काल में स्वयं प्रमुख परिवर्तनों से गुजरा। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक नागरिक समाज राष्ट्र "राज्य" शब्द के साथ कोटर्मिनस (coterminous) था। इस प्रकार यूरोपीय भाषा के शब्द, जैसे *societa civilis, societie civilis, burgerliche gesseleschaft* राज्य के लिए पर्याय शब्द थे। इस वाक्यांश में राज्य से *societies civilis* की प्राचीन रोमन (और प्रारंभिक यूनान) की पहचान ने निरंतरता प्रदान की।

नागरिक समाज की यह अवधारणा अठारहवीं शताब्दी के मध्य के बाद तब समाविष्ट होनें लगी जब नागरिक समाज और राज्य अलग-अलग सत्ता के रूप में देखे जाने लगे। नागरिक समाज आर्थिक-सामाजिक संबंधों के क्षेत्र से अधिक पहचाने गए थे और राज्य राजनीतिक (कानूनी) क्षेत्र से। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह ऐसा समय था जब मुक्त व्यापार दर्शन पर बल देने वाला आर्थिक पूँजीवाद प्रमुखता में आया और राज्य से इस क्षेत्र से अलग रहने की आशा की गई। यह वाक्यांश एक शताब्दी से भी अधिक समय तक प्रचलन में रहा।

तब लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक नागरिक समाज और राज्य के बीच विभेदीकरण दुर्बल हो गया था। राज्य के उत्कर्ष की पुनर्स्थापना संप्रभुता की कानूनी अवधारणा के लोकप्रियता में देखी जा सकती

है। इसे राज्य की मात्र विशेषता के रूप में माना गया जो सामाजिक क्षेत्र के सभी अन्य भागों पर नियंत्रण करने का अधिकार देता है। इसलिए राज्य, समाज में उसकी सर्वोच्च संस्था बन गया। एक दृष्टि से यह समकालीन समय तक मान्य रहा। उदाहरण के लिए, कल्याणकारी राज्य की अवधारणा और राज्य अधिकार की प्राधिकारवादी अवधारणा राज्य को समाज पर अति प्रधानता अधिकार और प्रभाव प्रदान करती है।

तथापि यह ऐसा नहीं है कि नागरिक समाज ने राज्य की अवधारणा के विरुद्ध रक्षा कार्रवाई बनाने के लिए प्रतिक्रिया नहीं की। राजनीति सिद्धान्त में जिसे "बहुलवाद" (pluralism) कहा जाता है, उदाहरण के लिए, इस प्रकार प्रतिपादित किया जाता है कि राज्य बहुत-सी अन्य सामाजिक संस्थाओं में से एक है, यद्यपि अधिक से अधिक इसे "अन्य समवर्गों में पहला" माना जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रभुत्व के लिए लगातार विवाद देखा गया। कुल मिलाकर, विवाद राज्य के पक्ष में हुआ। परन्तु बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में नागरिक समाज ने अपने आपको नई तीक्ष्णता से प्रस्तुत किया।

3.5.2 समसामयिक नागरिक समाज : सिद्धान्त और व्यवहार

समसामयिक (समकालीन) दशकों में नागरिक समाज के प्रक्षेपण के तात्कालिक कारण का पता उसके कुछ पिछले कार्यों से राज्य के पीछे हट जाने से लगाया जा सकता है। काफी सीमा तक यह भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के साथ चलने की प्रवृत्ति है। यह सुविदित है कि भूमंडलीकरण से निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन मिलता है और समाज के आर्थिक पहलू से निकलने के लिए राजनीतिक राज्य दबाव डालता है। इन हितों को सुलभ करने के लिए बड़े पैमाने में ग़ैर-सरकारी संगठनों का उद्‌भव हुआ है।

परन्तु भूमंडलीकरण (वैश्वीकरण) के अलावा, समाज का प्रमुख स्थिति में आने का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह है कि पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवादी सर्वसत्तात्मक राज्यों के विरुद्ध उसकी चुनौती सफल हुई है। साम्यवादी राज्यों ने समाज को इतना अधिक दबाया हुआ था कि इसने एक मज़ाक को जन्म दिया कि साम्यवाद में राज्य की समाप्ति (withering away) तो नहीं हुई। परन्तु नागरिक समाज को प्रतिशोध के रूप में समाप्त (withered away) किया गया। साम्यवादी राज्यों द्वारा मज़दूर संघों पर पूरी तरह से प्रतिबंध लगाया गया था। सरकार द्वारा बुद्धिजीवियों पर मुकद्दमे चलाए गए। ये सभी साहस और दृढ़ता से साम्यवादी प्रणाली के विरुद्ध खड़े हुए और अंततः इस प्रणाली को विघटित करने में सफल हुए। पौलैंड, चैकोस्लावाकिया, हंगरी ने इस कार्य का शुभारम्भ किया। इस प्रणाली में प्रमुख शक्ति सोवियत संघ ने पेरेस्त्रोइका (Perestroika) (पुनर्निर्माण) और खुलापन (ग्लास्नॉस्ट - Glasnost) की नीतियों के कारण मुख्य रूप से धीरे-धीरे स्वयं भी खुलापन अपनाया। इस नीति का अनुसरण मिखाइल गोर्बाचोव (Mikhail Gorbachev) द्वारा किया गया था। इससे पूर्वी यूरोप पर साम्यवादी प्रणाली की पकड़ ढीली हो गई। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के अंत तक पूर्वी यूरोप की स्वतंत्रता को राज्य पर नागरिक समाज की विजय माना गया।

यह समझा जाना चाहिए कि नागरिक समाज के हाल ही का पुनरुत्थान साम्यवादी राज्यों के सर्वसत्तात्मक (totalitarianism) अधिक फैलने का कारण ही नहीं है, बल्कि दक्षिणपंथी सत्तावादी तानाशाहों की शासन व्यवस्थाओं की सार्वजनिक प्रतिक्रिया भी इस प्रवृत्ति के लिए उतनी ही अधिक उत्तरदायी है। विशेष कर लैटिन अमेरिका में बार-बार सैनिक तानाशाहों के कारण उन समाजों के भिन्न-भिन्न वर्गों में भारी असंतोष उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप मानव अधिकार समूहों का निर्माण हुआ। इन समूहों में से अनेक चर्च नेताओं और अन्य संगठनों के नेतृत्व में थे, इनकी अभिव्यक्ति नागरिक समाज का विकास करना था। ये राज्य को चुनौती देने में नागरिक समाज की मुख्य प्रतिक्रियाएँ थीं।

उदार लोकतंत्रों में नागरिक समाज इससे भी अधिक सतत् (टिकाऊ) भूमिका निभाता है, यद्यपि इनका वैसा राज्य-विरोधी प्रक्षेपण नहीं होता है जैसा पूर्व साम्यवादी यूरोप या सर्वसत्तात्मक लैटिन अमेरिकी शासन व्यवस्था में था। एक महत्वपूर्ण अध्ययन (कीने, 1998) (Keane) में कहा गया है कि "नागरिक समाज उदारवादी सिद्धान्त का अंतिम शरण हो गया है" और यह कि "नागरिक समाज के परिप्रेक्ष्य प्रबुद्ध लोकतंत्रों की आधारभूत सर्वसम्मति बनाता है।"

समसामयिक राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्त में नागरिक समाज इतना अधिक व्यापक हो गया है कि राजनीति विज्ञान अध्ययन के अंतर्गत तुलनात्मक राजनीति की उपविधा में यह मुख्य विषय हो गया है। इसे सहयोगात्मक लोकतंत्र में प्रमुख संस्थागत उपाय के रूप में देखा गया है। इससे भी अधिक "नागरिक समाज और सम्बद्ध सामाजिक आंदोलनों ने राज्य संस्थाओं के बाहर से राज्य के कुछ कार्यकलापों के राजनीतिकरण के रूप में सिद्धान्त प्रस्तुत किया।" इसे औसत नागरिक की शंका से परे राज्य के कार्य की अधिकांशतः प्राविधिकीकरण किया जा रहा भी माना गया।

3.5.3 नागरिक समाज और संघर्ष समाधान

नागरिक समाज की उपर्युक्त चर्चा से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नागरिक समाज संघर्ष निवारण, परिरोधन (नियंत्रण) और समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका कैसे निभाता है। अतः इस बिन्दु पर कुछ विस्तार से विवेचन करना उचित होगा।

साधारणतया, यह राज्य है जिसे अंततः संघर्ष समाधान निर्धारित तथा क्रियान्वित करने का एकाधिकार है। परन्तु संघर्ष के कारण बढ़ते जाने और राज्य भी अन्यथा, इस विषय में सदा प्रभावकारी ढंग से कार्य नहीं कर सकती है तो सामाजिक संस्थाओं ने बड़े पैमाने पर इस कार्य में भूमिका निभानी आरंभ की। विशेषकर, सहयोगात्मक लोकतंत्र के विचार के प्रसार से ही अन्य बातों के साथ लोगों की सहभागिता के लिए दो महत्वपूर्ण माँगे कीं। पहला, समाज के संसाधनों के अधिक समान भागीदारी के लिए और ऐसे अधिकारों तथा सुविधाओं तक पहुँचने के लिए माँग है जिन्हें इस समय राज्यों के लिए लोगों को देना अनिवार्य है। दूसरे, दावे का संबंध समाज का शासन व्यवस्था में सहभागिता से है। इन दोनों बिन्दुओं का समाज में मानव अधिकार और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की व्यापक जनभावना से उदाहरण सहित उल्लेख किया जा सकता है।

परिणाम ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के लिए खुला निमंत्रण है। वे लोगों को इन माँगों के संबंध में उनके अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा कर सकते हैं। फलस्वरूप इसकी संघर्ष परिहार, परिरोधन (नियंत्रण) और संघर्ष समाधान में भी अधिक व्यापक भूमिका है। इस संबंध में सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा अधिकार अच्छे उदाहरण हैं। पर्यावरण संतुलन संरक्षण एक अन्य उदाहरण है। ये अधिकार, जैसा कि अभी तक ज्ञात है, सरकारों और लोगों में कभी-कभी संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं। फिर भी, अंतिम विश्लेषण में स्वयंसेवी ग़ैर-सरकारी अभिकरणों का हस्तक्षेप भी दावों और प्रतिदावों का समायोजन करता है। इस प्रवृत्ति को कुछ उदाहरण लेकर समझाया जा सकता है। अल्पसंख्यक अधिकारों के संवर्धन में ग़ैर-सरकारी संगठनों की भूमिका और मानव अधिकार पर संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र (UN Declaration of Human Rights) द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों का आह्वान करने में हो सकती है और संघर्ष के दीर्घकालिक संभावना के नियंत्रण के लिए, इनके क्रियान्वयन के लिए सरकार पर दबाव डालने में हो सकती है। और इससे भी अधिक समाज की शांति के लिए न्यायसंगत परिणाम प्राप्त करने में हो सकती है। इसी प्रकार हजारों लोगों के विस्थापन से संबंधित मुद्दों में जब विशाल सिंचाई और अन्य विकास परियोजनाओं के कारण उनके प्राकृतिक आवास को हटाने के कारण बड़ी मात्रा में उत्तेजना उत्पन्न होती है, तब संबंधित ग़ैर-सरकारी संगठन चेतावनी देने का कार्य करते हैं और सार्वजनिक हित की क्षति से बचने में सहायता करते हैं।

NMDC-288

संघर्ष समाधान में नागरिक समाज के हस्तक्षेप का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि समाज में बाज़ार (market) बलों के हानिकर कार्यों का भी सामना करता है। यह देखा गया है कि आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण सामाजिक प्रक्रिया में राज्य को किस प्रकार कम प्रमुख बनाता है और आर्थिक क्षेत्र (मार्केट) को प्रस्तुत करता है। इस निर्दिष्ट प्रवृत्ति से ग़ैर-सरकारी संगठनों और सम्बद्ध संस्थाओं का संबंध बाज़ार के मुक्त व्यापार से व्यापक सामाजिक प्रयोजनों की रक्षा करने से है, जैसा कि राज्य की नीतियों से है।

इतना सब विवेचन करने के बाद सामाजिक सिद्धान्त संघर्ष उत्पन्न करने की भी अपनी संभावनाओं के साथ अपने लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के बारे में संदेहों से उलझ गई है। फिर भी हमारी चर्चा का वर्तमान प्रयोजन राज्य के समानान्तर अंग के रूप में सामाजिक हितों पर ध्यान देने में उसकी भूमिका और सीमा पर केन्द्रित है और यह भी पूर्ण रूप से समझना है कि नागरिक समाज और राज्य संपर्क दोनों कुछ बिन्दुओं पर भिन्न होते हैं, यहाँ तक कि विपरीत दिशाओं में होते हैं। फिर भी, दोनों अंतरा–सामाजिक संघर्ष का समाधानकर्त्ता होने का दावा करते हैं।

आइए, अब हम अन्तर्राज्य संघर्ष पर चर्चा करें जिनकी चरम परिणति युद्ध है।

3.6 अंतर्राज्य संघर्ष

यह कहा जा सकता है कि साधारणतया युद्ध सदा अंतर्राज्य संघर्ष के कारण उत्पन्न होते हैं। यद्यपि, यह आवश्यक नहीं कि सभी अंतर्राज्य संघर्षों का परिणाम युद्ध ही हो। अंतरा–राज्य संघर्षों का समाधान किए जाने का प्रमुख तरीका राजनीति है। यह केवल तभी होता है जब अंतर्राज्यीय राजनीति (जो राजनय के माध्यम से संचालित की जाती है), विफल होती है, वे राज्य युद्ध आरंभ कर देते हैं। कार्ल बॉन क्लाज़विच (Carl Von Clausewitz) के विख्यात शब्दों में युद्ध "अन्य माध्यमों द्वारा राजनीति की निरंतरता" है। एक दृष्टि से इस परिभाषा का अभिप्राय है कि युद्ध राजनय का एक भाग है। परन्तु अधिक महत्वपूर्ण दृष्टि से इसका अभिप्राय है कि युद्ध अपने आपमें कोई उद्देश्य नहीं है और यह कि "कूटनीति" (राजनय) अभी भी युद्ध के दौरान और उसकी समाप्ति के बाद भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। बहुत से दृष्टान्तों में राजनयिक कार्य युद्ध पक्षों के बीच या तो सीधे या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, क्षेत्रीय संगठन या मित्र राष्ट्रों जैसे "तीसरे पक्ष" के हस्तक्षेप से तेज़ किए जाते हैं।

जैसा कि हमने पिछली इकाई में देखा है कि अंतरा–राज्य संघर्ष और अंतरा–राज्य संघर्ष के बीच मूलभूत अंतर है। अंतरा–राज्य मामले में राज्य स्वयं संघर्ष का समाधान करता है, इस प्रक्रिया में संघर्ष का न्यायिक निपटारा महत्वपूर्ण भाग है। फिर भी यह प्रक्रिया तब कम प्रभावकारी बनती है जब अंतर्राज्य संघर्ष विशाल मात्रा में विद्रोहियों राजद्रोह या गृह युद्ध का रूप धारण करता है। अभिप्राय यह है कि अंतराराज्य संघर्ष में विवादों का न्यायिक निपटारा अभी हाल ही के समय में प्रचलन में आया है और अब भी इसकी भूमिका सीमान्तक है। अब राज्यों के बीच विवादों की पंच निर्णय और न्यायिक निर्णय अंतरा–राज्य विवादों का समाधान करने में केवल कुछ भी भूमिका निभाते हैं। इसलिए अंतर्राज्य विवादों की कूटनीति (राजनय) के बाद मध्यस्थता, पंच निर्णय, समझौता और न्यायिक निर्णय ऐसे महत्वपूर्ण तरीके हैं जिनसे विवाद निपटाए जाते हैं।

आइए, अब हम विवादों के परिणाम के रूप में युद्ध पर विचार का विश्लेषण करें।

NMDC-288

3.7 युद्ध की दृश्यसत्ता पर चिंतन

सामान्यतया, इस संदर्भ में युद्ध का कारण चर्चा का विषय है। चूँकि युद्ध के कारणों पर विवेचन पृथक इकाई में किया जा रहा है, यहाँ युद्ध के कुछ दार्शनिक पहलुओं पर विचार किया गया है। यहाँ उन लब्धप्रतिष्ठ विचारकों के विचारों का उल्लेख करना उपयुक्त होगा जिन्होंने युद्ध की अधिक गहन अभिप्रेरणों का विश्लेषण किया है। दो प्रकार के विश्लेषणों को प्रस्तुत किया जाएगा। पहले में संघर्ष (युद्ध) की नींव का वैचारिक विश्लेषण का विवेचन किया गया है, जैसा कि समकालीन राजनीतिक सिद्धान्तवादी केनेथ एन. वाल्ट्ज़ द्वारा सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। दूसरा आधुनिक युद्ध के प्रसिद्ध सिद्धान्तवादी, कार्ल वान कलाज़विच का विश्लेषण है। कलाज़विच विश्लेषण अधिक प्रत्यक्ष रूप से राज्य के सजग विकल्प के रूप में युद्ध से संबंधित है, अन्य कारणों को एक ओर रखते हुए इसके उद्देश्य और स्वरूप वे हैं जो युद्धों को अभिप्रेरित करते हैं।

3.7.1 वाल्ट्ज़ की समीक्षा (Waltz's Analysis of War)

केनेथ एन. वाल्ट्ज़ ने अपनी पुस्तक '*मैन, दी स्टेट एंड वारः ए थ्योरिटिकल एनालिसिस*' (*Man, the State, and War: A Theoretical Analysis*) में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और युद्ध के कारणों का बहुत अधिक विस्तृत विश्लेषण किया है। इतिहास के प्रारंभ से प्रमुख विचारकों द्वारा घोषित संघर्ष के सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए वाल्ट्ज़ ने युद्ध के तीन मुख्य स्रोतों का वर्गीकरण किया है। ये हैं: (क) मानव स्वभाव और व्यवहार; (ख) राज्यों की आंतरिक संरचना; और (ग) अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता। वह इन तीन कारकों का वर्णन अन्तर्राष्ट्रीय संबंध व्यवहार की तीन "धारणाओं" के रूप में करता है।

1) *मानव स्वभाव का व्यवहार (Human Nature and Behaviour)*

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की पहली धारणा के अनुसार, युद्ध के महत्वपूर्ण कारणों का केन्द्रण मनुष्यों के स्वभाव और व्यवहार में पाया जाता है। स्वार्थपरता, गलत निर्देशित आक्रमण आवेश, एवं नासमझी के परिणामस्वरूप युद्ध होते हैं - अन्य कारण गौण हैं और उनकी व्याख्या इन कारणों की दृष्टि में की जानी चाहिए।

2) *राज्यों की आंतरिक संरचना (The Internal Structure of States)*

"यह समाज ही है जो मनुष्यों के जीवन की अनवति करता है, परन्तु साथ ही यह सदाचारी बनाने वाली एजेंसी भी है।" यह धारणा स्वीकार करती है कि यद्यपि मानव स्वभाव को संघर्ष से बहुत कुछ करना है, फिर भी, यह समाज (राज्य) में लोगों के संगठन की प्रकृति है जो सामूहिक इच्छा के उस महत्वपूर्ण तत्व को शामिल करती है जो संघर्ष को अधिक स्पष्ट बनाता है। इस प्रकार संघर्ष का दूसरा स्रोत राज्य का आंतरिक है - अर्थात् सार्वजनिक विश्वास और प्रथाएँ, जनमत और अपेक्षाएँ, राजनीतिक प्रणालियाँ और सरकार की संस्थाएँ हैं। ये सभी मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं। वाल्ट्ज़ एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करता हैः "आंतरिक कलह से पीड़ित राज्य तब आकस्मिक आक्रमण के लिए कार्य करने के बदले ऐसे युद्ध का प्रयास करता है जो आन्तरिक शांति लाएगी।" यहाँ ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अन्तरा–सामाजिक संघर्ष को अंतर्राज्य संघर्ष का सहारा लेकर निपटाने का प्रयास किया जाता है।

3) *अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता (International Anarchy)*

यदि राज्य की संरचना और शासन व्यवस्था की प्रणाली मानव व्यवहार का निर्माण करती है तब अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली की संरचना को भी राज्य के व्यवहार का निर्माण करना चाहिए। 'बहुत से प्रभुता-सम्पन्न राज्यों के पास उनमें कानून लागू करने की कोई प्रणाली नहीं है, प्रत्येक राज्य अपने ही कारण या इच्छा के अनुसार शिकायतें और आकांक्षा का मूल्यांकन करता है, इसलिए कभी-कभी संघर्ष बढ़कर

युद्ध के रूप में अवश्यम्भावी हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक राज्य इसका अंतिम निर्णायक है कि उसके अपने ही उद्देश्य के लिए क्या आवश्यक है, कोई भी राज्य अपनी नीतियों के क्रियान्वयन के लिए किसी भी समय बल प्रयोग कर सकता है, सभी राज्यों को शक्ति का सामना शक्ति से करने या कमज़ोरी की कीमत चुकाने के लिए हर समय तैयार रहना चाहिए। इसलिए राज्य की कार्रवाई की अपेक्षिताएँ उन परिस्थितियों द्वारा थोपी जाती हैं जिसमें सभी राज्य रहते हैं।'

वाल्ट्ज़ की तीन धारणाएँ (images) युद्ध के कारणों का पता लगाने के तीन भिन्न तरीके हैं। यद्यपि वाल्ट्ज़ ने विश्लेषण प्रयोजनों के लिए तीनों को अलग-अलग किया है परन्तु वे वास्तव में परस्परच्छादी (overlapping) हैं, क्योंकि तीन में से कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के कारणों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने में अपने आपमें पर्याप्त नहीं है। कुछ विचारक एक पर बल देते हैं तो अन्य दूसरे पर और कुछ तीसरे पर बल देते हैं।

वास्तव में, ये तीनों धारणाएँ सभी मानव संघर्ष की व्याख्या करते हैं केवल अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की नहीं। उदाहरण के लिए, पहली दो धारणाएँ अंतरा–सामाजिक संघर्ष के कारणों की भी व्याख्या करती हैं। समाज (राज्य) के संगठन की प्रकृति से मिलकर मानव प्रकृति की स्वाभाविक आक्रामकता संघर्ष की बाहरी अभिव्यक्ति होती है। तीसरी धारणा अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का तात्कालिक कारण माना जा सकता है।

3.7.2 क्लाज़विच का युद्ध का सिद्धान्त

वाल्ट्ज़ की अंतिम धारणा है कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के अधीन राजनीतिक राज्य अपने आपमें प्रभुत्व-सम्पन्न हैं और एक-दूसरे के विरुद्ध अपनी इच्छा से बल प्रयोग करते हैं। यह सामान्यतः युद्ध संबंधी सिद्धान्त निर्माण करता है। 'वान क्रीज' ("On War") नामक पुस्तक के उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन लेखक, कार्ल वॉन क्लाज़विच ने इस कारक को बहुत दृढ़ता से प्रस्तुत किया है।

उसकी सुपरिचित परिभाषा "अन्य माध्यमों द्वारा राजनीति की निरंतरता" का उल्लेख पहले ही किया गया है। इस विश्लेषण के लिए अधिक महत्वपूर्ण उसका यह विचार है कि युद्ध राष्ट्रीय नीति का एक युक्तिसंगत उपाय है, अर्थात् राज्य नीति। इसलिए अंतिम विश्लेषण में "राज्य" युद्ध की प्रक्रिया में प्रारंभिक अभिकर्त्ता है। और युद्ध के उद्देश्य का संक्षिप्तीकरण आगे क्लाज़विच द्वारा किया है, अतः "युद्ध हिंसा का कार्य है जिसका अभिप्राय हमारी इच्छा को पूरा करने के लिए अपने शत्रु को विवश करना है।"

इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक युद्ध एक पक्ष का दूसरे पक्ष पर पूर्ण विजय में समाप्त होना चाहिए और यह कि "युद्ध में नियमन बेतुकापन है", एक के अधिकार पर समस्त बल का प्रयोग करने में विफलता युद्ध के प्रयोजन को पराजित करता है। इस तरीके में सोचे गए युद्ध को क्लाज़विच "निरपेक्ष युद्ध" या " सम्पूर्ण युद्ध" कहता है। वास्तविक अर्थ में, यह पूर्ण युद्ध के समीप है, जो पिछली शताब्दी के प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के निकट आते हैं। परन्तु यह भी उल्लेख किया जाना चाहिए कि क्लाज़विच स्वयं कहता है कि ***निरपेक्ष युद्ध*** (abstract war) से ***वास्तविक युद्ध*** (real war) भिन्न है, क्योंकि आदर्श परिस्थितियाँ कभी भी स्थापित नहीं होती हैं। इसलिए वास्तविक अनुभव में वास्तविक युद्धों और यांत्रिक प्रक्रियाओं के बीच सदा विसंगति होती है।

3.7.3 युद्ध के अन्य दर्शन (Other Philosophies of War)

क्लाज़विच की पुस्तक के अंग्रेज़ी संस्करण के सम्पादकों में से एक सम्पादक एनाटोल रेपोपॉर्ट युद्ध के दर्शनों को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं:

युद्ध का पारलौकिक दर्शन (The Eschatological Philosophy of War): यह सिद्धान्त इस मत पर आधारित है कि बहुत से मामलों में इतिहास, गुप्त दैवीय अभिकल्पना –प्राकृतिक या मानवीय – को प्रकट होने

का संकेत देते हुए "अंतिम युद्ध में चरम बिन्दु पर पहुँचेगा।" इस मत के उदाहरण "होली वार" और धर्म युद्ध हैं जिन्हें एक ही विश्वास (धर्म) या एक ही शासक के अधीन विश्व के कुछ भाग को सम्मिलित करने के रूप में किया जाता था। आधुनिक काल में अभिव्यक्त नियति का अमेरिकी सिद्धान्त (American doctrine of manifest destiny) (उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान घोषित) श्रेष्ठ प्रजाति का नात्सी सिद्धान्त मसीही मिशनों में दो भिन्न-भिन्न प्रकार के विश्वासों को निरूपित करता है।

महाक्रांति मत (The Cataclysmic View): यह सिद्धान्त युद्ध को महाविपत्ति के रूप में देखता है जो कुछ भाग या सम्पूर्ण मानव प्रजाति पर पड़ती है। किसी को भी विशेष रूप से युद्ध के लिए उत्तरदायी समझा जाता है और किसी को भी विशेष रूप से इससे लाभान्वित होने की आशा की जाती है। लियो टाल्सटाय की "*वार एंड पीस*" (*War and Peace*) (युद्ध और शांति) युद्ध को इस प्रकार से चित्रित करती है। टाल्सटाय अज्ञात ऐतिहासिक शक्तियों के कार्यों को युद्धों का कारण मानता है और स्वीकार करता है कि राजाओं के कार्यों तथा सैनिक कमाण्डरों की रणनीतियाँ युद्ध छिड़ने या परिणाम युद्ध के लिए बिल्कुल अप्रासंगिक हैं।

युद्ध का राजनीतिक दर्शन (The Political Philosophy of War): क्लाज़विच युद्ध के राजनीतिक दर्शन का प्रस्तावक है। यह "राजनीतिक" कहलाता है क्योंकि यह युद्ध की संस्था को राष्ट्रीय या राज्य नीति के उपाय के रूप में मानता है। इसके आदर्शीकृत मत में युद्ध तर्कसंगत होना चाहिए, अर्थात् अनुमानित लागत और लाभ पर आधारित होना चाहिए, इसे निश्चित लक्ष्य (अपने स्वार्थ के लिए कभी नहीं) प्राप्त करने के लिए करना चाहिए और अंत में, इसे इस दृष्टि से राष्ट्रीय होना चाहिए कि उसके उद्देश्य राष्ट्र-राज्य के हितों की प्रगति के लिए होने चाहिए। पाँचवी शताब्दी के विचारक मेकियावेली ने ऐसा ही सिद्धान्त प्रस्तुत किया परन्तु क्लाज़विच का पुनर्कथन महत्वपूर्ण है क्योंकि समाज के औद्योगिकीकरण और युद्ध एक ही समय में हुए थे (नए हथियारों के विकास, बहुत बड़ी सेना की भर्ती और युद्ध करने की नई रणनीतियाँ अपनाना)।

पारलौकिक और महाक्रांति सिद्धान्त या तो दैवीय या ऐतिहासिक कारणों के आधार पर युद्ध के बारे में दार्शनिक रूप प्रस्तुत करते हैं। क्लाज़विच का सिद्धान्त अंततः राष्ट्रों की मंशा और इच्छा को युद्ध का अभिप्राय बताता है। यह देखा जा सकता है कि उसका सिद्धान्त युद्ध के व्यक्त कारणों के अनुरूप है क्योंकि कोई भी युक्तियुक्त ढंग से युद्ध के अस्पष्ट और "दैवीय रूप से आरोपित कारणों की संक्रिया स्थापित नहीं कर सकता है।" क्लाज़विच स्वयं व्याख्या प्रदान करता है, आदर्शकृत पूर्ण युद्ध सदा वास्तविकता क्यों नहीं हो सकता है। फिर भी, छोटी मात्रा के युद्धों को भी क्लाज़विच के सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है।

यद्यपि क्लाज़विच के सिद्धान्त का सबसे बड़ा दावा राज्य या राष्ट्र की प्रभुसत्ता सम्पन्न इच्छा की धारणा पर आधारित वास्तविकता प्रतिबिम्बित करती है, राज्य की प्रभुसत्ता की वह धारणा पिछली शताब्दी और आधे से अधिक समय तक और अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के बहुत से अन्य क्षेत्रों में स्वतः चुनौती दी गई है। राष्ट्र संघ और बाद में संयुक्त राष्ट्र दोनों ने युद्ध पर जाने के लिए राज्यों के अधिकार पर कठोर प्रतिबंध लगाए हैं। जैसा कि हम बाद में देखेंगे वैश्विक नागरिक समाज आंदोलन के आविर्भाव ने भविष्य को विश्व में संघर्ष और अन्तर्वैयक्तिक क्षेत्र में राज्यों की कार्रवाई सीमित करने में योगदान दिया है। इसलिए बहुत से लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के बदलते हुए स्वरूप के प्रकाश में क्लाज़विज का युद्ध-सिद्धान्त संशोधित किया है।

3.7.4 उचित युद्ध का सिद्धान्त (The Doctrine of Just War)

युद्ध की सामान्य घोर प्रतिक्रिया के बावजूद युद्ध की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है। धार्मिक उपदेशों के आशावादी स्थिति भी एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध करने से समाज को नहीं रोक सकी। युद्ध के प्रति धर्म

की घृणा और युद्ध करने के लिए राज्यों की विवशताओं के बीच समझौता उचित युद्ध (न्यायसंगत युद्ध) के सिद्धान्त की उत्पत्ति बहुत पूर्ण परिवर्तनों में से एक है। वैसे अन्य धार्मिक परम्पराएँ भी उचित युद्ध की संकल्पना को स्वीकार करती हैं। फिर भी यह सिद्धान्त विशेष रूप से ईसाई धर्म से संबद्ध है। भारतीय धर्मयुद्ध का प्राचीन विचार (Indian idea of Dharma Yuddh) भी एक उदाहरण है। इसलिए उचित युद्ध सिद्धान्त को संक्षेप में ध्यान में लाना आवश्यक है जैसा कि यह पश्चिम में विकसित हुआ है।

उचित युद्ध सिद्धान्त धर्मविधान कानून (Canon Law) (चर्च स्थापित कानून) का विस्तार यूरोप में मध्यकाल में बहुत अधिक प्रचलित था। ये यूरोप के ईसाई प्रभुत्व के फैलने के साथ ईसाई धार्मिक शिक्षा के आशावाद का समायोजन करने के प्रयास के परिणामस्वरूप हुआ। चूँकि चर्च ने धर्मनिरपेक्ष राज्य में स्थान प्राप्त कर लिया था, इसलिए संगठित युद्ध का औचित्य मानव कार्यकलाप के क्षेत्र से जोड़ा गया था।

माइकेल वाल्जेर (Michael Walzer) ने '*जस्ट एंड अनजस्ट वार*' (*Just and Unjust War*) नामक अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक में राज्य द्वारा आक्रमण करने की अपेक्षा राज्य द्वारा आक्रमण का प्रतिरोध करने के संदर्भ में न्याय युद्धों के विषय का अधिक विवेचन किया है। वाल्ज़ेर छः आधारों पर आक्रमण के सिद्धान्त को व्यक्त करता है जिन्हें न्याय युद्ध का सार माना जाता है। ये हैं:

i) स्वतंत्र राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय समाज विद्यमान है।

ii) इस अन्तर्राष्ट्रीय समाज का कानून है जो उसके सदस्यों के अधिकार स्थापित करता है - अर्थात् राज्य क्षेत्रीय एकता और राजनीतिक प्रभुसत्ता के उपयुक्त सभी अधिकार हैं।

iii) एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य की अखंडता या राजनीतिक प्रभुसत्ता के विरुद्ध बल का कोई भी प्रयोग, या बल की स्पष्ट धमकी, आक्रमण और आपराधिक कार्य माने जाते हैं।

iv) आक्रमण दो प्रकार के व्यवहार प्रतिक्रिया को उचित ठहराता है: पीड़ित द्वारा आत्म रक्षा के लिए युद्ध और पीड़ित और अन्तर्राष्ट्रीय समाज के किसी अन्य सदस्य द्वारा दबाव का युद्ध है।

v) केवल किसी देश पर किया गया आक्रमण ही युद्ध को उचित ठहरा सकता है।

vi) जब आक्रमण को विफल कर दिया जाता है, तब आक्रमण को दंडित भी किया जा सकता है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि स्वतंत्र राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समाज में प्रभुसत्ता का अधिकार और राज्य क्षेत्रीय अखंडता अनिवार्य है। कथन iii-v आक्रमण की परिभाषा देते हैं जो अकेले पीड़ित द्वारा युद्ध करने को उचित मानता है। न्याय युद्ध की व्याख्या का महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसे रक्षात्मक युद्ध समझा गया है और इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा गया है कि युद्ध का प्रारंभ कब न्यायसंगत माना जा सकता है। संभवतः यह कभी भी नहीं है। इसलिए पहले से ही अधिकृत युद्धों के तर्क को नियम विरुद्ध कहा गया है।

फिर इस सामान्य-सी सच्चाई को याद रखना आवश्यक है कि युद्ध दुतरफा प्रक्रिया है और वह पक्ष जो युद्ध का सामना करता है और वह भी जो युद्ध आरंभ करता है, वे दोनों सदा अपनी-अपनी कार्रवाइयों को किसी न किसी तर्कसंगत तथ्यों के आधार पर उचित ठहराते हैं। और युद्ध प्रारंभ करने वाले का तर्क पूर्व-अधिकृत तर्क से सही नहीं है। किसी शक्तिशाली सम्राट द्वारा राज्य विस्तार के लिए प्राचीन भारतीय विजय यात्राओं को सदा अनौचित्य नहीं माना जाता था। युद्ध पर प्राचीन चीनी लेखक सुन ज़ार (Sun Tzar) युद्ध के औचित्य या अनौचित्य पर कोई टिप्पणी नहीं करते हैं। संभवतः सबसे अधिक प्रभावी उदाहरण पाँचवी शताब्दी ई.पू. में पेलोपोनिश्यन (Peloponnesian) युद्ध के दौरान अपनी शक्ति और प्रसिद्धि के शिखर पर एथेन्स का व्यवहार था। मुख्य विरोधी एथेन्स और स्पार्टा थे। एथेन्स अभियान के

NMDC-288

समय अपने आपको स्कूल ऑफ हेल्लास (School of Hellas) (टीचर ऑफ ग्रीस) कहता था परन्तु फिर भी उसने पड़ोस के छोटे से नगर-राज्य मेंलोस (जोकि उपनिवेश था और जिसने उस युद्ध में तटस्थ रहने का निर्णय किया था) पर एथेंस ने आक्रमण कर दिया। । एथेन्स के नेताओं ने मेलियनों (Melians) को कठोरतापूर्वक कहा था कि उन्हें निर्दोष मेलोस (Melos) को युद्ध की अनिवार्यता के कारण पराधीन करने का अधिकार था। यह सही ठहराता है और अपने हितों की रक्षा करने से संबंधित राष्ट्र को नैतिक विचारों का ध्यान में नहीं रखना चाहिए। एथेन्स ने मेलोस को पराधीन किया और उसके सभी स्वस्थ पुरुषों को मौत के घाट उतारा तथा उसकी सभी महिलाओं और बच्चों को गुलाम बनाया।

यूनानी इतिहासकार थ्यूसिडाइडस (Thucydides) ने यूनानी आचरण का विश्लेषण राजनीति के अध्ययन का नया तरीका स्थापित किया, यद्यपि उसने इसे यूनानी स्वभाव और लोकाचार के ग्रहणाधिकार के रूप में माना। यूनान के आधुनिक इतिहासकार मेलियन घटना को यह दिखाने के रूप में मानते हैं कि "बल का सिद्धान्त स्वयं अपना क्षेत्र बनाता है", "अपने स्वयं के कानूनों सहित बनाता है" नैतिक जीवन के नियम विशिष्ट और पृथक होते हैं जो व्यक्तिगत मानव आचरण को नियंत्रित करते हैं। भले ही, ईसाई युग का आगमन धर्मभीरुता जैसे उचित युद्ध का सिद्धान्त लाया। किंतु शीघ्र ही ये धर्मभीरुताएँ उस समय समाप्त हो गईं जब चर्च के नेताओं और यूरोप के सम्राटों ने स्वयं एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध आरंभ किए। न्याय युद्ध के सिद्धान्त श्रेष्ठता के आधार बन गए। तब जैसे ही मध्य काल का ह्रास हुआ और नवजागरण का उदय हुआ, मैकियावेली (Machiavelli) जैसे विचारकों ने दृढ़तापूर्वक व्यक्ति की नैतिकता और राज्य की "नैतिकता" के क्षेत्रों को पृथक किया। इससे वास्तव में उचित युद्ध कसौटी पर किसी भी बहाने युद्ध को समाप्त किया। भले ही राज्यों के बीच युद्ध रोकने के विचार बहुधा पुनः उत्पन्न होते हैं, इसलिए उचित युद्ध सिद्धान्त की ओर ध्यान देने की अपेक्षा अन्य तरीकों की ओर ध्यान मोड़ा जाता था।

3.8 वैश्विक युद्ध

वैश्विक (विश्वव्यापी) संघर्ष की अवधारणा भिन्न-भिन्न तरीकों में समझी जा सकती है। चूँकि हमने युद्ध पर ध्यान केन्द्रित किया है जो अन्तर्राज्य संघर्ष की चरम अभिव्यक्ति है, और इस अवधारणा का भी वैसा ही निरूपण किया गया है। तदनुसार हमारा ध्यान वैश्विक युद्ध पर है जिसे महाद्वीपीय अनुपात में स्थानीय युद्ध के परिमात्रात्मक विचार के रूप में निरूपित किया गया। ठीक जैसा अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के युद्धों ने पहले और दूसरे विश्व युद्ध का आकार ग्रहण किया था, इसलिए इस शताब्दी की भावी स्थितियों के वैश्विक होने की संभावना है।

यद्यपि महाशक्ति की धमकी शीत युद्धकालीन वर्षों के दौरान अपने आपमें महायुद्ध था, फिर भी परमाणु और अन्य अतिविध्वंसक अस्त्रों के अंतरण, स्थानीय और क्षेत्रीय कलहों में शीत युद्ध गठबंधनों के विस्तार ने स्थानीय युद्धों की चुनौती को नियंत्रण से बाहर होने का संकट खड़ा कर दिया। कोरिया और वियतनाम युद्धों के मामले में प्रत्येक महाशक्ति मूल युद्धरत से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े थे और अधिक व्यापक वैचारिक मुकाबला एक ऐसा कारक था जिसने वैश्विक युद्ध को रोका। भाग्यवश, वैश्विक संघर्ष के भय ने इन संघर्षों में प्रत्यक्षतः शामिल होने से महाशक्तियों को रोका। महाशक्ति "भय का संतुलन" जैसा कि भय दिखाकर निवारण सिद्धान्त पर आधारित है, नियंत्रण की इस प्रक्रिया में सहायक था।

कई अन्य उदाहरणों में भी, स्थानीय शक्तियों के साथ बड़ी शक्तियों के गठबंधन संबंध ने स्थानीय युद्धों (जैसे इज़राइल-अरब संघर्ष, उत्तरी और दक्षिणी अफ्रीकी क्षेत्रों में औपनिवेशिक संघर्ष और चीन-भारत युद्ध) ने विश्व युद्ध में बदलने की संभावना उत्पन्न की। इसे "नया युद्धोत्तर संबंद्ध प्रतिमान" भी कहा जा सकता है।

NMDC-288

3.8.1 वैश्विक युद्ध के गुणात्मक आयाम (The Qualitative Dimensions for Global Wars)

स्थानीय या क्षेत्रीय युद्ध के विस्तार के अलावा वैश्विक युद्ध के लिए मंच सामयिक अस्त्रों के स्वरूप द्वारा बहुत अधिक प्रत्यक्ष रूप से स्थापित किया गया है। यह केवल "वैश्विक अस्त्रों" और "वैश्विक रणनीतियों का परिणाम" है। परमाणु अस्त्रों की महाविनाशकारी क्षमता और इन क्षमताओं का लाभ उठाने के लिए तैयार की गई वैश्विक रणनीतियों के बाद अपरिहार्य उपपरिणाम आया। कोई भी इसे आसानी से समझ सकता है कि कोई भी युद्ध बहुत जल्दी विश्व युद्ध में परिवर्तित हो सकता है। कम से कम प्रत्यक्ष प्रभाव कैसे वैश्विक हो सकता है।

महाशक्तियों द्वारा "वैश्विक हितों" की संकल्पना में इसे जोड़ा जाना चाहिए। शत्रु की पहुँच के भय के कारण महाशक्तियों ने बहुधा अपने "सुरक्षा पैरामीटर" बढ़ाकर पृथ्वी के छोरों की प्रायः अपने रक्षा हितों के अंतर्गत किया। इस प्रकार संयुक्त राज्य के रणनीतिकारों ने दावा किया कि "संयुक्त राज्य अमेरिका के वैश्विक हित हैं, और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उसके पास उन सभी की रक्षा करने की क्षमता है।"

3.8.2 परमाणु अस्त्र और परिणामों की प्रचुरता (Nuclear Weapons & Cascades of Consequences)

परमाणु अस्त्रों का कारक युद्धों को वैश्विक युद्धों का बदलने में स्वतंत्र विकल्प है। चूँकि परमाणु अस्त्र सम्पन्न राज्य वास्तव में बढ़ रहे हैं, इसलिए वैश्वी युद्ध स्वतः अधिक समीप आ गए हैं। जोनाथन स्केल ने अपनी हाल ही की पुस्तक "*दी अनफिनिशड ट्वनटियथ सेन्चुरी*" (*The Unfinished Twentieth Century*) इस तथ्य को इस प्रकार उजागर करती हैं "वैश्विक नाटक, जिसमें विश्व के किसी भी भाग में परमाणु अस्त्रों के बारे में निर्णय किया जाता है, तत्काल विश्वभर में क्रमिक परिणामों का प्रयास शुरु हो जाता है। अर्थात् क्षेत्रीय संघर्ष में उलझे हुए राज्यों द्वारा जैसे ही परमाणु अस्त्र प्राप्त किए जा रहे हैं, वैश्विक युद्ध का संकट बढ़ रहा है।"

भले ही शीत युद्ध का परिदृश्य अब उतना प्रासंगिक नहीं रह गया है जितना पहले था, अकेली महाशक्ति अर्थात् अमेरिका के आविर्भाव से विश्व हितों के दावे और भी अधिक खतरे में पड़ गए हैं। बहुत से आलोचक कहते हैं कि अब अमेरिका स्वघोषित विश्व पुलिसमैन की भूमिका से ऐसे दावों को दृढ़ता से कहता है। विशेषकर 9/11 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध के नेतृत्व की उसकी मान्यता इस दावे की कुछ विश्वसनीयता प्रदान करती है। अब अमेरिका की रक्षा और विदेश नीतियाँ निस्संकोच रूप से इस दावे पर आधारित हैं कि एक ही प्रमुख शक्ति के रूप में उसके सर्वोच्च हित विश्व-व्यापी हैं और उसकी आर्थिक तथा सैन्य क्षमताएँ उसके दावे और हितों की रक्षा करने की आवश्यकता विश्व-व्यापी है।

3.8.3 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद - वैश्विक युद्ध का संयंत्र (A Trigger for Global War)

भले ही अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद सितम्बर 11, 2001 को अमेरिका के प्रमुख स्थलों पर अल कायदा के आक्रमण से ही अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद उत्पन्न नहीं हुआ, यह उस घटना का मील का पत्थर बना जिसने वस्तुतः वैश्विक संकट पैदा किया। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने वैश्विक आतंकवाद की परिभाषा इस प्रकार की: "राजनीतिक प्रयोजनों के लिए सामान्य जनता में, व्यक्तियों के समूह या खास व्यक्तियों में आतंक फैलाने के इरादे के आपराधिक कार्य, चाहे राजनीतिक, दार्शनिक, वैचारिक, प्रजातीय, नृजातीय, धार्मिक या अन्य विचार जो कुछ भी हों, उन्हें उचित ठहराने का आह्वान किया जा सकता है।" विश्व संस्था से स्वयं यह निर्दिष्ट परिभाषा आतंकवाद की वैश्विक क्षमता का मूल्यांकन स्पष्ट रूप से कर सकती है।

NMDC-288

आतंकवाद की संक्रियाएँ अधिकांशतः अनामक (annonymous) हैं परन्तु उसके प्रभाव स्पष्ट हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है, जिसकी उपज का केन्द्र कहीं भी हो सकता है परन्तु आतंक की संभावना हर जगह है।

इस संकट से दो विरोधाभासी रूप में वैश्विक युद्ध के लिए विपरीत आशय निकलते हैं। पहला, परमाणु अस्त्र अर्जित करने वाले आतंकवादी समूहों की आसन्न संभावना है और वे या तो इसका प्रयोग कर सकते हैं या उनके प्रयोग से अत्यंत भयंकर संभावनाएँ उत्पन्न करने का भय दिखाने के लिए कर सकते हैं। दूसरा इस धमकी की प्रतिक्रिया भी चिंता पैदा कर सकती है। 9/11 के बाद अमेरिका की प्रतिक्रिया मिश्रित इरादों की रही है, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की धमकी का दोहन स्पष्ट कारणों से किया गया है। वैश्विक युद्ध की महत्वपूर्ण जटिलताएँ आतंकवाद द्वारा और भी अधिक जटिल बना दी हैं।

3.8.4 सभ्यताओं का संघर्ष और वैश्विक युद्ध (Clash of Civilisation and Global Wars)

वैश्विक मात्रा की संघर्षों पर नई संभावनाएँ सभ्यताओं के विचारों के टक्कर के रूप में प्रकट हुई। 1993 में सैम्युअल हंटिंगटन ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आर्थिक और वैचारिक विरोधों पर संस्कृति और सांस्कृतिक पहचान के विरोध हावी होंगे। "राष्ट्र-राज्य विश्व में सबसे अधिक शक्तिशाली अभिकर्त्ता होंगे ... परन्तु राष्ट्रों और सभ्यताओं के समूहों के बीच वैश्विक राजनीति में सैद्धान्तिक संघर्ष होंगे।" आगे उसने इस पर बल देते हुए कहा कि "सभ्यताओं का संघर्ष वैश्विक राजनीति पर हावी होगा।" सभ्यताओं के बीच विद्वेष रेखा भविष्य की युद्ध रेखाएँ होगी। हंटिगटन ने संभवतः यह विचार इस्लामिक विश्व और अमेरिकी नेतृत्व के पश्चिमी राज्यों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष से लिया हो जैसा कि खाड़ी युद्ध (1990) द्वारा स्पष्ट हुआ है और अमेरिका के लिए भावी चुनौती के रूप में समझी गई महाशक्ति का उम्मीदवार चीन का आविर्भाव।

समकालीन क्षेत्रों के सांस्कृतिक और सभ्यता संबंधी आयाम अब वैसे नहीं हैं जैसे शताब्दियों पहले होते थे और हंटिंगटन की अपने सिद्धान्त के अधिकथन के लिए तीव्र आलोचना की गई है। उसके आलोचकों ने कहा है कि विश्व की भावी भ्रंश रेखा प्रमुख राज्यों या सभ्यताओं के बीच नहीं पड़ेगी। बल्कि लोकतांत्रिक बाज़ारोन्मुखी समाजों के बढ़ते हुए संबंध और उन "होल्ड आउट" (hold out) राज्यों के बीच जिन्होंने लोकतंत्र से परहेज किया है या किसी अन्य तरीके में विश्व समुदाय का विरोध किया। इस दृष्टि से यह वह होल्ड आउट राज्य है जिनकी पहुँच सामूहिक विनाश के अस्त्रों तक है, जो युद्धों को वैश्विक स्तर पर छेड़ सकते हैं। क्लिंटन के राष्ट्रपति-काल के दौरान अमेरिका द्वारा तैयार किए गए भावी युद्धों के कारणों का अध्ययन अब बुश प्रशासन में नवरूढ़िवादियों (neo-conservatives) द्वारा भी लागू किया गया है। इमसें अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद और तथाकथित 'दुष्ट राज्य' को लक्ष्य बनाया है तथा विश्व-भर में लोकतंत्र स्थापित करने का प्रयास कर रहा है, यदि आवश्यक हो तो युद्ध से।

3.9 इसके अस्तित्व के बारे में निरतंर अनिश्चितता

युद्ध की उत्पत्ति और सिद्धान्तों के पूर्ववर्ती विश्लेषण केवल संगठित मानव संस्था के रूप में युद्ध की बड़ी दुविधा को आगे लाता है। आधारभूत मुद्दों पर कोई निश्चियात्मकता नहीं हो सकती है। शायद मानव दशा से संबंधित सभी मुख्य मुद्दों के मामले में केवल सच्चाई का अनुमान ही संभव है। विद्यमान अनिश्चितता लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा दो स्पष्टतः विपरीत दृष्टिकोणों द्वारा उदाहरण सहित दर्शायी जा सकती है।

युद्ध के अग्रगण्य इतिहासकार और सिद्धान्तवादी, माईकेल हावर्ड अपनी हाल ही की पुस्तक *दी इन्वेंशन ऑफ पीस* (*The Invention of Peace*) (2000) में कहते हैं कि शांति की खोज, एक कृत्रिम खोज है,

इसकी अंतिम सफलता अनिश्चित होती है। फिर भी मानवतावाद के मूल्यों और अभिबोध से इस खोज की सफलता की केवल आशा की जा सकती है।

प्रसिद्ध मानव वैज्ञानिक, मार्गेट मीड (Margaret Mead) इसके विपरीत कहती है कि यह युद्ध है, न कि शान्ति जो मनुष्य का आविष्कार है। विभिन्न मानव समुदायों के अध्ययन से एकत्र की गई पूरी जानकारी रखते हुए वह अपनी पुस्तक *वार इज ओनली एन इंवेंशन - नॉट ए बायोलॉजिकल नेसेसिटी* (*War is only an Invention – Not a Biological Necessity*) (1940) में यह प्रश्न करती है, क्या युद्ध जैविक आवश्यकता है, समाज वैज्ञानिक अनिवार्यता या केवल बुरी खोज है? आशा पुनः जागृत करते हुए वह निष्कर्ष निकालती है कि "यदि हम उस तरीके पर निराश होते हैं जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध अधिकांश मानव जाति में गहरे पैठे हुए हैं, हम इस तथ्य से सांत्वना ले सकते हैं कि घटिया आविष्कार सामान्यतया बेहतर आविष्कार को स्थान देता है।

क्या अब मानव जाति उस बेहतर आविष्कार के अधिक समीप है जिसका उल्लेख मीड ने किया और माईकेल हावर्ड भी इससे निराशा नहीं हुए?

3.10 सारांश

इस इकाई में हमने अंतरा-राज्य संघर्ष, अंतरा-राज्य और वैश्विक संघर्षों के स्वरूप और प्रकार पर चर्चा की है। अंतरा-राज्य या अंतरा-सामाजिक संघर्षों के स्रोतों पर चर्चा में हमने देखा कि हमारी दिनचर्या में सम्पत्ति के वितरण, भौतिक संसाधनों के सामाजिक स्तर या मान्यता से जुड़े मामलों में असंतोष और संघर्ष बढ़ता जा रहा है।

यद्यपि अधिकांश अंतरा-सामाजिक संघर्षों के समाधान सामाजिक समूह के अंदर ही किए जाते हैं और जब वे गंभीर आयाम ग्रहण कर लेते हैं तो समाज के अंदर उच्चतम संगठन, अर्थात् राज्य उनके प्रबंधन और समाधान के लिए आगे आता है। राज्यों के पास पारिवारिक कलह (जो सामूहिक हिंसा तक हिंसात्मक रूप ले लेती है), से लेकर विद्रोह और क्रान्तिकारी हिंसा तक अन्तर्सामाजिक संघर्ष की व्यापक श्रेणी से निपटने के लिए व्यापक आधारभूत नेटवर्क है। जैसा कि हमने देखा, राज्य ऐसे संघर्षों का सामना करने के लिए बल प्रयोग सहित विभिन्न प्रकार की क्रियाविधियों पर निर्भर रहता है। कुछ छोटे स्तर के संघर्ष अनियंत्रित हो सकते हैं और राज्य के अस्तित्व के लिए ही खतरा बन सकते हैं। यद्यपि विकसित या 'परिपक्व' समाज भी गंभीर अंतरा-सामाजिक संघर्षों से अछूते नहीं हैं। जो राज्य टिकाऊ बने रहने में असक्षम है, उन्हें "भंगुर राज्य" या "विफल राज्य" कहा जाता है।

संघर्ष निवारण, नियंत्रण और समाधान में नागरिक समाज की महत्वपूर्ण भूमिका होती है इस तथ्य के बावजूद कि राज्य संघर्ष नियंत्रण में सदा प्रभावकारी नहीं हो सकता है, नागरिक समाज के नेटवर्कों के कार्यों को जो प्रोत्साहन तथा वैधता देती है वह है-सहयोगात्मक लोकतांत्रिक विचारधारा का प्रचार और प्रसार। जैसा कि हमने देखा, पिछली तीन शताब्दियों में नागरिक समाज-राज्य संबंध में बहुत बड़ा रूपांतरण हुआ है। हाल ही के समय में पिछले कुछ कार्यों से राज्य के अप्रभावीपन से सामाजिक और आर्थिक संकट के क्षेत्र में लोग असुरक्षित हुए हैं। इससे नागरिक समाज ने सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों में दृढ़ निश्चय के साथ दावे करने शुरू कर दिए हैं।

इकाई में अन्तर्राज्य संघर्ष, खास-तौर पर ऐसे संघर्ष अर्थात् युद्ध के चरम प्रकटीकरण पर ध्यान केन्द्रित किया है। इस इकाई में युद्ध के अध्ययन के कुछ महत्वपूर्ण दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि वाल्ट्ज़ द्वारा संघर्ष के और क्लाज़विच द्वारा युद्ध के विश्लेषण पर ध्यान दिया गया है फिर भी अन्य महत्वपूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोणों और युद्ध के सिद्धान्तों का भी यहाँ उल्लेख किया गया है।

NMDC-288

इकाई में वैश्विक संघर्ष का भी विश्लेषण किया गया है। इस समय इस नए शब्द ने काफी लोकप्रियता अर्जित की है। यद्यपि अवधारणा के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं फिर भी यहाँ इसे अन्तर्राज्य संघर्ष - युद्ध के परिमात्रात्मक विस्तार के रूप में प्रयुक्त किया गया है। वैश्विक युद्ध के मुख्य सिद्धान्तों और कारणों का भी यहाँ उल्लेख किया गया है।

3.11 अभ्यास प्रश्न

1) लेखक के अनुसार अंतरा–सामाजिक संघर्षों के प्रमुख स्रोत क्या हैं?

2) संघर्ष प्रबंधन में राज्य की भूमिका का विवेचन कीजिए।

3) नागरिक समाज क्या है? हाल ही में इसे प्रमुखता क्यों मिली है?

4) संघर्षों के समाधान में नागरिक समाज की भूमिका पर विचार व्यक्त कीजिए।

5) वाल्ट्ज़ द्वारा विश्लेषित युद्ध के प्रमुख मन्तव्यों का वर्णन कीजिए।

6) वैश्विक युद्ध की संभावनाओं पर विभिन्न व्याख्याएँ और सिद्धान्त क्या हैं?

इकाई 4 युद्ध के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 युद्ध क्या है?

4.3 युद्ध के कारणों संबंधी सिद्धान्त
- 4.3.1 प्रणाली-स्तरीय विश्लेषण
- 4.3.2 राज्य-स्तरीय विश्लेषण
- 4.3.3 व्यक्ति-स्तरीय विश्लेषण

4.4 युद्ध का आदर्शवादी दृष्टिकोण

4.5 युद्ध का यथार्थवादी दृष्टिकोण

4.6 युद्ध का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

4.7 न्यायसंगत युद्ध

4.8 युद्ध की बदलती प्रकृति

4.9 सारांश

4.10 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

कूटनीति और प्रचार इत्यादि की भांति युद्ध भी राष्ट्रीय नीति का एक माध्यम है जिसका उपयोग राज्य राष्ट्रीय उद्देश्यों, आशाओं और हितों की पूर्ति के लिए करते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को समझने के लिए युद्ध और शांति के प्रश्न अहम हैं क्योंकि इन्हीं के इर्द-गिर्द उत्तरजीविता निर्भर है।

युद्ध क्या है? आज "युद्ध" का प्रयोग कई रूपों में किया जा रहा है। शीत युद्ध, प्रचण्ड युद्ध, सीमित युद्ध, समग्र युद्ध, पारम्परिक व गैर-पारम्परिक युद्ध, गृह युद्ध, छापामार युद्ध, टाला जा सकने वाला युद्ध इत्यादि। युद्ध करने वालों के परिप्रेक्ष्य में इसे साम्राज्यवादी युद्ध अथवा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए युद्ध भी कहा जाता है। कई सांख्यिकीय विश्लेषणों से पिछली कुछ शताब्दियों के दौरान विश्व में युद्ध के बार-बार घटित होने का पता चलता है। बीसवीं शताब्दी में दो विश्व युद्धों और परमाणु विस्फोट की भयानक त्रासदियों के बावजूद युद्धों में कमी नहीं आई है। यद्यपि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महाशक्तियों के बीच शांति बनी रही है तथापि क्षेत्रीय अथवा गृह युद्धों तथा सशस्त्र संघर्षों में वृद्धि हुई है जो वर्ष 2000 में अपने सर्वोच्च स्तर 68 के आंकड़े पर रही। इनमें से अधिकांश संघर्ष कम निचले स्तर के और अन्तर्राज्यीय थे और अधिकांशतः विश्व के विकासशील भागों में हुए। 1968 में इतिहासविदों विल एवं एरियन ड्यूरैंट (Will & Ariel Durant) ने गणना की कि पिछले 3421 वर्षों में केवल 268 वर्ष ही युद्ध मुक्त रहे। ऐसा भी हो सकता है कि उन्होंने कम युद्धों की गणना की हो। निश्चित तौर पर कोई भी वर्ष बिना युद्ध के नहीं बीता होगा।

इस इकाई में युद्ध के दो पहलुओं, युद्ध क्या है और इसके क्या कारण हैं, का विश्लेषण युद्ध के विभिन्न सिद्धान्तों तथा संकल्पनाओं के आधार पर किया गया है। अगली दो इकाइयों में हम विभिन्न प्रकार के युद्धों का अध्ययन करेंगे और यह जानेंगे कि उनका वर्गीकरण इस प्रकार क्यों किया गया है।

NMDC-288

4.2 युद्ध क्या है?

आज युद्ध का अर्थ केवल पारम्परिक सैनिक युद्ध नहीं अपितु राजनीतिक और आर्थिक तथा मनावैज्ञानिक युद्ध भी हो सकता है, परन्तु युद्ध की पारम्परिक परिभाषाएं सीमित दृष्टिकोण पर आधारित है। हॉफमैन निक्लरसन (Hoffman Niclerson) ने "एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" में लिखा है – "युद्ध दो विरोधाभासी नीतियों का अनुपालन करने वाले दो मानव समूहों के मध्य संगठित शक्ति का उपयोग है जिसमें प्रत्येक समूह अपनी नीतियों को दूसरे पर थोपना चाहता है।" जबकि मलिनॉस्की (Malinowski) ने युद्ध को "जनजातीय अथवा राष्ट्रीय नीति की प्राप्ति के लिए संगठित सैन्य बल के द्वारा दो स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयों के मध्य सशस्त्र विवाद" के रूप में परिभाषित किया है।

युद्ध के संबंध में कार्ल वॉन क्लॉजविट्ज (Karl von Clausewitz) के तर्क का वर्णन उपयुक्त होगा। उनके अनुसार "युद्ध राजनीतिक संसर्ग का केवल एक भाग है, अतः यह किसी भी प्रकार से अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। युद्ध का अर्थ अन्य माध्यमों के साथ-साथ राजनीतिक संसर्ग को जारी रखने से है।" इस परिभाषा से युद्ध की व्यापकता को समझने में सहायता मिलेगी।

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने माना है कि युद्ध कूटनीतिक, आर्थिक और प्रचार के साथ-साथ सैनिक स्तर पर लड़ा जाता है और युद्ध कला में इन सभी तत्वों का समन्वय विजय के उद्देश्य से किया जाता है। उन्होंने यह भी तर्क दिया है कि संकीर्ण अर्थों में युद्ध कला केवल सैनिक पहलू तक सीमित है। इसमें सशस्त्र बलों के मनोबल को संगठित करना, अनुशासित करना और इसे बनाए रखना (हथियारों की खोज, विकास और प्रतिप्राप्ति), सेना की आवाजाही का प्रावधान (युद्ध संबंधी प्रचार नीतियां तथा युद्ध नीतियां) इत्यादि शामिल हैं। सैनिक नीति की वृहत समस्याओं जैसे राष्ट्रीय नीति, राष्ट्रीय सार्वजनिक विचार, अर्थव्यवस्था, कूटनीति इत्यादि का निर्धारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत आता है।

4.3 युद्ध के कारणों संबंधी सिद्धान्त

युद्ध के कारणों की जांच के संबंध में कई अध्ययन किए गए हैं परन्तु इस पर भी विद्वान एकमत नहीं है जिसका प्रमुख कारण तात्कालिक और दीर्घावधि अथवा अप्रत्यक्ष कारणों में विभेद न हो पाने के कारण अस्पष्टता है। कई मामलों में विश्लेषण सैद्धान्तिक आधार पर किया गया है और एक ही कारण पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। कुछ कारण तत्काल होते हैं जबकि कुछ मूल। कुछ देशों की कुछ विशिष्ट घटनाओं तथा कार्यों से संबंधित होते हैं जबकि कई बार विभिन्न शक्तियां और अप्रत्यक्ष कारण युद्ध के लिए जिम्मेदार होते हैं। प्रत्येक कारण की गहराई तक पहुंचा जाना चाहिए। अतः इस प्रश्न का कोई अंतिम उत्तर नहीं हो सकता कि युद्ध का कारण क्या है?

सामान्यतया युद्ध के कारणों को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारणों में वर्गीकृत किया जाता है। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के अनुसार युद्ध के कारणों का कई दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जाना चाहिए। युद्ध के राजनीतिक-प्रौद्योगिकीय, वैधिक-सैद्धान्तिक, सामाजिक-धार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक-आर्थिक कारण होते हैं। मार्क्सवादी मान्यताओं के अनुसार राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए लड़े जाने वाले युद्धों में विभेद किया गया है। युद्ध के मूल कारण पूंजीवाद और साम्राज्यवाद में निहित हैं जबकि अन्य विद्वान मनोवैज्ञानिक कारणों तथा राष्ट्रों की असुरक्षा की भावना को कारण मानते हैं। मार्क्सवादी कुछ अन्य प्रकार के युद्धों में अंतर बताते हैं। वे हैं: साम्राज्यवादी युद्ध, क्रांतिकारी युद्ध तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए युद्ध। युद्ध के कारण राष्ट्रीय नीति के माध्यम के रूप में युद्ध से संबंधित रहते हैं क्योंकि युद्ध राष्ट्रीय उद्देश्यों, लक्ष्यों और आकांक्षाओं के रक्षोपाय के रूप में लड़े जाते हैं। उनका संबंध भूखंड से, या पहचान से, फिर राष्ट्र-राज्य की उत्तरजीविता हो सकता है।

NMDC-288

युद्ध के कारणों से संबंधित सैद्धान्तिक दृष्टिकोण विश्लेषण के निम्नलिखित स्तरों पर आधारित है : (1) प्रणाली-स्तरीय, (2) राज्य-स्तरीय; और (3) व्यक्ति-स्तरीय कारण।

4.3.1 प्रणाली-स्तरीय विश्लेषण

प्रणाली स्तरीय विश्लेषण में विश्व राजनीति का अध्ययन करने के लिए "ऊपर से नीचे" के दृष्टिकोण को अपनाया जाता है। इसका प्रमुख तर्क यह है कि राज्य तथा गैर-राज्य कर्ता वैश्विक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक पर्यावरण में कार्य करते हैं तथा प्रणाली की विशेषताएं युद्ध निर्णयकर्ताओं के व्यवहार का निर्धारण करती हैं। प्रणाली के कार्यकलापों पर चार कारक प्रभाव डालते हैं : प्रणाली की संरचनात्मक विशेषताएं; प्रणाली के विभिन्न सदस्यों के सत्ता संबंध; प्रणाली की आर्थिक वास्तविकताएं तथा कर्ताओं के व्यवहार को "संचालित" करने की संभावना वाले मानदण्ड और परम्पराएं।

प्रणाली के संरचनात्मक कारकों का संबंध प्रणाली के भीतर कर्ताओं के मध्य सत्ता और परस्पर सम्पर्क के स्तर के संगठन से है। अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली सत्ता की लम्बवत प्रणाली नहीं है बल्कि इसे "अराजकतापूर्ण" कहा जा सकता है, जहां अराजकता से अभिप्राय केन्द्रीकृत अंतर्राष्ट्रीय प्राधिकारी का न होना तथा अपने राष्ट्रीय हितों की इच्छा रखने वाले प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों की मौजूदगी है। आज अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अहम भूमिका निभाने वाले गैर-राज्य कर्ताओं की मौजूदगी को पहचानने की आवश्यकता है। एमनेस्टी इंटरनैशनल अथवा ग्रीन पीस जैसी कई गैर-राज्य संस्थाओं ने मानवधिकार तथा पर्यावरण के क्षेत्रों में अहम भूमिका निभाई है। अब आतंकवादी संगठनों को भी गैर-राज्य कर्ताओं की श्रेणी में रखा जा रहा है। कुछ प्रमुख गैर-राज्य कर्ताओं में अंतर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय संकाय जैसे विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू टी ओ) अथवा क्षेत्रीय आर्थिक/व्यापार ब्लॉक जैसे एपेक (EPEC), यूरोपीय संघ इत्यादि शामिल हैं। पिछले कुछ वर्षों से राज्य तथा गैर-राज्य शक्तियों के बीच परस्पर सम्पर्क बढ़ा है जोकि प्रमुखतः गैर सैनिक क्षेत्रों जैसे आर्थिक, सामाजिक और मानवतावादी क्षेत्रों में है।

प्रणाली के भीतर सत्ता संबंध से अभिप्राय शक्तियों के वितरण से है। आज हम विश्व युद्ध से पूर्व के यूरोपीय वर्चस्व वाले युग से गुजरकर संयुक्त राज्य अमेरिका–सोवियत संघ के शीत युद्ध के वर्षों के द्विध्रुवीय विश्व से होते हुए सोवियत संघ के विघटन के बाद के अमेरिका प्रधान युग में हैं। इस प्रकार से शक्ति संबंधों के बदलने और परिणामस्वरूप विश्व में शक्ति संतुलन में परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की सतत वास्तविकता है।

आर्थिक वास्तविकता से अभिप्राय किसी देश के प्राकृतिक संसाधनों और उसके आर्थिक व औद्योगिक विकास से है। विश्व का उत्तर-दक्षिण में वर्गीकरण उत्तर के विकसित विश्व तथा दक्षिण की विकासशील (अथवा अल्प विकसित) आर्थिक वास्तविकताओं के आधार पर किया गया है। यह सत्य है कि आज हम आर्थिक रूप से परस्पर-निर्भर विश्व के बाशिंदे हैं किन्तु विकसित केन्द्र के वर्चस्व से नकारा नहीं जा सकता। आज संघर्ष केवल कम संसाधनों पर नहीं अपितु विश्व के उपलब्ध संसाधनों के नियंत्रण को लेकर भी है। उपनिवेशवाद के इतिहास को नियन्त्रण करने की आर्थिक वास्तविकताओं के रूप में समझा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर आज के विश्व में तेल प्रमुख आर्थिक माध्यम के रूप में उभरा है।

विश्व व्यवस्था के संचालन में मानदण्ड तथा परम्पराएं कितनी अहम हैं, यह अत्यंत विवादास्पद विषय रहा है। आम धारणा यह है कि राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को तब तक नहीं छेड़ते जब तक कि कोई मजबूरी न हो। इराक युद्ध (2003) के संबंध में यह चर्चा का विषय रहा है कि क्या संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन ने इराक के विरूद्ध युद्ध छेड़कर संयुक्त राष्ट्र के अंतर्राष्ट्रीय मानदण्डों का उल्लंघन किया है?

अतः, प्रणाली स्तरीय विश्लेषण में युद्ध के कारणों के रूप में निम्नलिखित मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है:

NMDC-288

i) सत्ता का वितरण: तुलनात्मक सत्ता तथा सत्ता विहीनता, शक्ति संतुलन की राजनीति से संबंध इत्यादि को युद्ध के संभावित कारण माना गया है।

ii) अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली की अराजकतावादी प्रकृति को भी युद्ध का कारण माना गया है। किसी केन्द्रीकृत शक्ति के न होने के कारण राष्ट्रों में पनपी असुरक्षा की भावना युद्ध का रूप ले सकती है। विकासशील विश्व की परमाणु अस्त्र नीति को इसी असुरक्षा की भावना को दूर करने के माध्यम के रूप में समझा जा सकता है।

iii) आर्थिक स्तर पर तेल व प्राकृतिक गैस और प्रमुख खनिजों को आधुनिक विश्व के विवादों के संभावित स्रोत के रूप में देखा जाता है। ईरान–इराक युद्ध, तथा इराक में अमेरिकी हमले को कई बार तेल की राजनीति के ढांचे में देखा जाता है।

iv) सैम्युल हंटिंगटन (Samuel Huntington) की सभ्यताओं में संघर्ष की संकल्पना युद्धों के क्रमबद्ध परिप्रेक्ष्य से जुड़ी है। इसका प्रमुख मत है कि भावी युद्धों के प्रमुख कारण नृजातीय-धार्मिक होंगे और इस प्रकार से सभ्यतापरक होंगे, न कि राज्यपरक।

4.3.2 राज्य-स्तरीय विश्लेषण

राज्य-स्तरीय विश्लेषण में राष्ट्र-राज्य तथा विश्व राजनीति के प्रमुख निर्धारक के रूप में राज्य की आंतरिक प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के मामले में राज्यपरक दृष्टिकोण है। पूर्ववर्ती राज्य स्तरीय विश्लेषणों की मान्यता थी कि राज्य अपनी प्रणाली की विवशताओं का परिणाम थी परन्तु यह दृष्टिकोण भी इस मान्यता पर आधारित है कि निर्णय लेने में राज्य कहीं अधिक स्वतंत्र हैं।

नीति निर्माण में संरचनात्मक तथा गैर-संरचनात्मक दोनों निर्धारक तत्व होते हैं। संरचनात्मक का अर्थ सरकार की प्रकृति से है जबकि गैर-संरचनात्मकता से अभिप्राय राज्य की ऐतिहासिक और राजनीतिक संस्कृति से है। अधिनायकवादी तथा लोकतांत्रिक सरकारों के नीति-निर्धारण में अंतर है। इसी प्रकार से शांति तथा युद्ध के समय की नीतियां भी भिन्न होती है।

राज्य स्तरीय विश्लेषण में युद्ध के कारण निम्नलिखित परिस्थितियों में निहित होते हैं:

i) इस स्तर पर राष्ट्रीय हित सर्वोच्च होता है और यह दो स्तरों पर कार्य करता है—प्रथम, शत्रु द्वारा आक्रमण की स्थिति में राष्ट्र-राज्य की अस्मिता सुनिश्चित करने के लिए युद्ध, और द्वितीय स्तर विस्तारवादी राष्ट्रीय हित का है जहां सीमाओं के विस्तार को सुरक्षा से जुड़ा राष्ट्रीय हित माना जाता है। इज़राइल में दोनों प्रकार की स्थितियां हैं। 1948 के युद्ध को अस्मिता के युद्ध तथा 1967 और 1973 के युद्धों को सुरक्षा कारणों से सीमा विस्तार के रूप में देखा जा सकता है।

ii) घरेलू तथा विदेशी नीतियों में ससंपर्क स्थापित किया जाता है। कई बार यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्र घरेलू परिस्थितियों से ध्यान हटाने के लिए युद्ध का सहारा लेते हैं।

iii) एक अन्य विश्लेषण में किसी देश में देश की प्रकृति और उसके आक्रामक हो जाने की संभावना के बीच संपर्क पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस संबंध में यह तर्क दिया गया है कि अधिनायकवादी देशों की तुलना में लोकतांत्रिक देश युद्ध की ओर कम अग्रसर होते हैं।

4.4.3 व्यक्ति-स्तरीय विश्लेषण

यूनेस्को का मूल मंत्र है – "चूंकि युद्ध मनुष्यों के दिमाग की उपज है अतः मनुष्य के दिमाग में ही शांति के रक्षा-कवचों का निर्माण किया जाना चाहिए।" व्यक्ति स्तरीय विश्लेषण में मानव प्रकृति और इस प्रकार निर्णय लेने में अहम मनोवैज्ञानिक कारकों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसके साथ ही मनुष्य की आक्रामक प्रवृत्ति को समझने के लिए जैविक कारकों का अध्ययन आवश्यक है। क्या आक्रामकता मनुष्य का स्वभाव है? यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है। जैव-राजनीति में भौतिक प्रकृति और राजनीतिक व्यवहार के संबंधों का अध्ययन किया जाता है। यहां अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नारीवादी दृष्टिकोण का उल्लेख करना भी उपयुक्त होगा जिसमें यह तर्क दिया जाता है कि आक्रामक मानव व्यवहार मूलतः पुरुष प्रवृत्ति है।

सामूहिक व्यवहार से संबंधित व्यक्ति स्तरीय विश्लेषण का एक और पहलू है कि भीड़ हिंसक क्यों हो जाती है? यह तर्क दिया जाता है कि कोई व्यक्ति आक्रामक प्रवृत्ति का इतना प्रदर्शन नहीं करता जितना कि दंगा कर रही भीड़ का हिस्सा बनने पर वह नृशंसता के स्तर पर उतर आता है।

इस स्तर के विश्लेषण का सर्वाधिक उल्लेखनीय रूप नेतृत्व व्यवहार के संदर्भ में देखा जाता है। क्यूबा प्रक्षेपास्त्र संकट के समय अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ कैनेडी 1965 के भारत-पाक युद्ध के दौरान भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री (बांग्लादेश युद्ध के संदर्भ में इंदिरा गांधी का अध्ययन नेतृत्व व्यवहार को समझने के प्रयास का हिस्सा है। इसी प्रकार से इज़राइल के संदर्भ में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादत के शांति प्रयास) राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन द्वारा चीन के साथ बातचीत आरम्भ करने अथवा हेनरी किसिंगर की शटल कूटनीति नेतृत्व व्यवहार के उदाहरण हैं।

व्यक्ति के स्तर पर युद्ध के कारण निम्नलिखित स्थितियों में निहित हैं :

1) नेतृत्व के द्वारा लिया गया तर्कसंगत निर्णय तथा राष्ट्र हित की रक्षा के लिए जानबूझकर लिए गए निर्णय प्रमुख कारण हैं। यहां तर्क यह दिया जाता है कि यदि युद्ध की स्थिति बन भी जाए तो भी अंतिम निर्णय तो एक नेता द्वारा ही लिया जाएगा, जैसा कि राष्ट्रपति कैनेडी ने तर्क दिया था कि " यहाँ आकर उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है" **(buck stops here)**।

2) इसका विपरीत सिद्धान्त तर्कसंगतता के तर्क पर ही प्रश्न चिह्न लगाता है। युद्ध करने का निर्णय नेतृत्व का नितान्त अतर्कसंगत निर्णय हो सकता है।

3) कई जीव-वैज्ञानिक युद्ध का मूल कारण मानव की आक्रामक प्रवृत्तियों को मानते हैं। यह सिद्धान्त पशु प्रयोगों पर आधारित है। डार्विन के इस विषय पर लिखने के बाद इस क्षेत्र में काफी साहित्य रचना हुई है।

4) मनोवैज्ञानिक हताशा, गलत धारणा तथा मनोस्थिति में परिवर्तन का अध्ययन आक्रामक व्यवहार के मूल कारण के रूप में किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, फ्रायड अपनी मान्यता मनुष्य की हिंसा अथवा विनाश प्रवृत्ति पर केन्द्रित करते हैं जिसे प्रेम अथवा जीवन की प्रवृत्ति संतुलित करते हैं।

4.4 युद्ध का आदर्शवादी दृष्टिकोण

राजनीतिक आदर्शवाद दो विश्व के युद्धों के मध्य के वर्षों के दौरान अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में उभर कर आया। राजनीतिक आदर्शवादियों का मानना था कि मनुष्य प्राकृतिक रूप से अच्छा प्राणी है और वह अपने तथा दूसरे का सामान्यतया हित चाहता है। उनका यह भी मत था कि विश्व के संरचनात्मक तथा संस्थागत

प्रबंधों के कारण मनुष्य का व्यवहार बुरा हो जाता है। उनके अनुसार, युद्ध को टाला नहीं जा सकता और यह खराब संरचनात्मक प्रबंधों का परिणाम है।

अतः आदर्शवादियों का तर्क था कि उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय संरचनाएं विकसित कर युद्ध रोका जा सकता है। ये संरचनाएं सहकारी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं थीं। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत "राष्ट्र संघ" का गठन इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास था। सामूहिक सुरक्षा की सैद्धान्तिक प्रणाली को अपनाकर युद्धों से बचा जा सकता है जिसके लिए सामूहिक प्रयासों और सभी सदस्य राज्यों की निष्ठा की आवश्यकता होती है। कई आदर्शवादी विचारक युद्ध टालने के माध्यम के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पक्षधर थे। राष्ट्रों को युद्ध न करने के लिए राष्ट्रीय नीति बनानी होगी जबकि अन्य आदर्शवादी चिन्तकों के अनुसार सशस्त्रीकरण की होड़ सभी विवादों की जड़ है जिसके कारण उन्होंने प्रणालीगत ढंग से सशस्त्रीकरण पर रोक लगाने और निरस्त्रीकरण की नीति अपनाने का समर्थन किया है।

4.5 युद्ध का यथार्थवादी दृष्टिकोण

"राष्ट्र संघ" की विफलता और द्वितीय विश्व युद्ध की ओर धीरे–धीरे, परन्तु निश्चित तौर, पर बढ़ रहे कदमों के कारण आदर्शवादी दृष्टिकोण की आलोचना हुई। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा परस्पर निर्भरता और सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रमुख विशेषताएं मानी गईं जबकि यथार्थवादियों ने शक्ति की राजनीति, राष्ट्रों के सुरक्षा मुद्दों, आक्रामकता, विवाद और युद्ध पर बल दिया।

हंस मोर्गेनथाऊ (Hence Morgainthou) के यथार्थवाद के छह सिद्धान्त यथार्थवाद की स्थिति की स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। ये सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं :

- राजनीति का मूल स्थायी और अपरिवर्तनशील मानव प्रकृति है जोकि मूलतः अपने में स्व-केन्द्रित, स्व-संबंधी तथा स्व-हित भी है।
- राजनीति का मूल शक्ति के लिए संघर्ष है। इसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विशेषता राज्यों के बीच में राष्ट्रीय शक्ति के लिए संघर्ष है।
- यद्यपि राज्य की शक्ति का रूप और प्रकृति निर्धारित नहीं है तथा समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार इनमें परिवर्तन आता रहता है परन्तु हित की परिसंकल्पना सदैव बनी रहती है।
- व्यक्ति विशेष पर नैतिक प्रभाव पड़ते हैं परन्तु राज्य नैतिक एजेन्ट नहीं है क्योंकि उनके कार्यों का मूल्यांकन राष्ट्रीय उत्तरजीविता के मापदण्ड के अनुसार किया जाता है।
- यद्यपि राज्य अपने व्यवहार को नैतिकता का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं तथापि इनका उद्देश्य लाभ प्राप्ति और वैधता प्राप्त करना तथा राज्य के राष्ट्रीय हित को आगे बढ़ाना है।
- राजनीतिक क्षेत्र मानव संबंधी किसी भी अन्य क्षेत्र से स्वायत्त है। इसके सोच के अपने मानक हैं और राज्य के व्यवहार का विश्लेषण करने के मापदण्ड हैं।

उनका तर्क है कि राष्ट्रीय हित की संकल्पना में न तो प्राकृतिक रूप से सौहार्दपूर्ण विश्व और न ही युद्ध की सुनिश्चितता की मान्यता है। यदि सभी राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्र हित को देखें तो भी "शक्ति संतुलनों" के कारण प्रमुख समस्याएं न पनपने से व्यवस्था तुलनात्मक रूप से स्थिर होगी। यथार्थवादी सक्षम सैनिक बल तथा राष्ट्रवाद पर अधिक ध्यान देने का तर्क देते हैं। उनके अनुसार राष्ट्र-राज्य प्रमुख हैं तथा राष्ट्रीय सुरक्षा सबसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दा है। यथार्थवाद तथा नवायथार्थवाद में अन्तर यह

है कि नव-यथार्थवादियों के अनुसार राज्य को शक्ति की लालसा रहती है और वे सुरक्षा के प्रति जागरूक होते हैं परन्तु ऐसा उनकी मानव प्रकृति के कारण नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली की संरचना के कारण होता है। इस प्रकार से राज्य के नेता और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का उनका व्यक्तिपरक विश्लेषण यथार्थवादी सिद्धान्त का मूल मुद्दा है। नवा-यथार्थवाद में प्रणाली के अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे पर ध्यान दिया जाता है विशेषकर शक्ति के सापेक्षिक वितरण पर। इसके कर्ता कम महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि संरचना उन्हें विशेष प्रकार से कार्य करने के लिए बाध्य करती है।

4.6 युद्ध का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

युद्ध के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार राज्य स्वायत इकाइयां नहीं हैं, उन पर सत्ताधारी वर्ग के हित हावी रहते हैं और पूंजीवादी राज्य प्रमुखतः अपने पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करना अपना धर्म मानते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यों के बीच संघर्ष को विभिन्न राज्यों के पूंजीपति वर्गों के बीच प्रतियोगिता के आर्थिक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य संघर्ष की अपेक्षा, वर्ग संघर्ष युद्ध का अधिक मूलभूत वास्तविक कारण है।

मार्क्सवादी विश्लेषण के अनुसार राजनीति का निर्धारण शोषक राज्य की सामाजिक-आर्थिक प्रणाली के रूप में उभरे विभिन्न वर्गों के प्रमुख हितों से होता है। इसी प्रणाली के कारण युद्ध होते हैं। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध पूंजीवाद में निहित सामाजिक विरोध का परिणाम थे तथा पूंजीवादी राज्यों के कारण पूंजीवाद कई द्वेषपूर्ण संगठनों में विभक्त हो गया। विश्व युद्धों की समाप्ति पर दो विरोधी सामाजिक प्रणालियों के बीच प्रमुख विरोधाभास था – पूंजीवाद व समाजवाद। इनमें मूलतः वर्ग विरोध था जिसका सभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रभाव पड़ा।

मार्क्सवादियों ने पूंजीवाद की विस्तारवादी प्रकृति की ओर भी ध्यान केन्द्रित किया है जिसने शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का रूप ले लिया था। उत्तर-औपनिवेशिक काल में यह परा-राष्ट्रीय निगमों के माध्यम से आर्थिक वैश्वीकरण का रूप ले चुका है।

4.7 न्यायसंगत युद्ध

कोई युद्ध कब न्यायसंगत होता है? किन परिस्थितियों में विधि, नीतिशास्त्र तथा नैतिक सिद्धान्त आक्रामकता को न्यायसंगत ठहराते हैं? माइकल वैल्ज़र (Michel Velger) ने आक्रामकता के सिद्धान्त को छह प्रस्तावों के रूप में प्रस्तुत किया है :

क) स्वतंत्र राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय समाज है जोकि प्रभुसत्ता सम्पन्न है। राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य राष्ट्र होते हैं न कि नागरिक।

ख) इस अन्तर्राष्ट्रीय समाज का कानून होता है जोकि अपने सदस्य और इन सबसे बढ़कर क्षेत्रीय एकता और राजनीतिक संप्रभुता के अधिकार तय करता है।

ग) किसी राज्य द्वारा किसी अन्य राजनीतिक संप्रभुता अथवा अन्य की क्षेत्रीय एकता के विरूद्ध बल प्रयोग अथवा बल प्रयोग की आसन्न धमकी आक्रामकता मानी जाएगी तथा यह आपराधिक कार्य है। इसमें सीमा में घुसपैठ तथा आक्रमण पर ध्यान केन्द्रित किया गया है (आधुनिक युग में इसमें कम सघनता वाली संघर्ष अवस्थाएं जैसे – स्थानीयकृत संघर्ष का रूप लेने वाले जन विद्रोह और विसम्मति आंदोलन शामिल हैं)।

घ) आक्रामकता के अन्तर्गत दो प्रकार की हिंसक प्रतिक्रियाओं को न्यायसंगत ठहराया गया है : युद्ध थोपे जाने पर स्वयं रक्षा के लिए युद्ध तथा उसके द्वारा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समाज के किसी सदस्य द्वारा कानून लागू करने के लिए युद्ध। इस सिद्धान्त में यह पूर्वधारणा रहती है कि आक्रामकता के विरूद्ध युद्धात्मक प्रतिक्रिया आवश्यक नहीं कि संबंधित समूह से हो अपितु यह किसी भी ऐसे राज्य से हो सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज में स्थिरता की वापसी के लिए विवश हो।

ड.) केवल आक्रामकता युद्ध को न्यायसंगत ठहरा सकती है। इस सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य युद्ध के अवसर कम करने से है। बल प्रयोग को न्यायसंगत ठहराने के लिए अवश्य कुछ गलती हुई होगी और यह गलती परिणामतः दूसरे तक पहुंची होगी।

च) आक्रामक राज्य को सैन्य बल से पीछे धकेलने के उपरांत उसे दंड भी दिया जा सकता है। दंड के रूप में न्यायसंगत युद्ध की परिकल्पना पुरानी है परन्तु पारम्परिक अथवा सकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कभी भी दंड की प्रक्रिया अथवा रूप निर्धारित नहीं किए गए। इस प्रकार की सजा के उद्देश्य भी नहीं बताए गए हैं – क्या यह प्रतिशोध के लिए है, किसी दूसरे राज्य को सबक सिखाने के लिए है अथवा मूल आक्रामक को सुधारने के लिए?

4.8 युद्ध की बदलती प्रकृति

युद्ध को समझने के लिए अपनाए जाने वाले दृष्टिकोणों में परिवर्तन के दो कारक हैं: राष्ट्रवाद की भूमिका तथा प्रौद्योगिकीय क्रान्ति। पहले का संबंध युद्ध के सैद्धान्तिक पक्ष से है जबकि दूसरा युद्ध में उपयोग में लाए जाने वाले उपकरण प्रदान करने से संबंधित है। प्रौद्योगिकी में परिवर्तन का युद्ध की रणनीति और युक्तियों पर तत्काल प्रभाव पड़ा है। इस इकाई में इस पर हम इसकी व्यापक चर्चा नहीं करेंगे।

19वीं शताब्दी में यूरोप में निरन्तर संघर्ष का कारण नृजातीय राष्ट्रवाद पर आधारित आत्म-निर्णय का अधिकार रहा है। अन्तर्युद्ध के वर्षों में उपयोग में लाई गई आत्म-निर्णय की परिकल्पना को वुडरो विल्सन (Woodro Wilson) के 14 सूत्रों से स्पष्ट पहचान मिली। सोवियत युग के उपरांत इसी सिद्धान्त के आधार पर नए राज्यों के उभरने से इस परिकल्पना को हाल ही में पुनः वैधता मिली है। सोवियत राज्यों के विघटन की प्रक्रिया तथा नए राज्यों को वैधता नृजातीय राष्ट्रवाद और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर मिली। चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया के विघटन तथा जर्मनी के एक होने की प्रक्रिया को वैध बनाने के लिए भी इसी सिद्धान्त को उपयोग में लाया गया। विश्व के कई पृथकतावादी आंदोलन अपने संघर्ष को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कहने में इसे सैद्धान्तिक आधार के रूप में उपयोग में लाते हैं।

राष्ट्रवाद की परिकल्पना प्रणाली राज्य और व्यक्ति के स्तर पर युद्ध के विश्लेषण से कहीं बढ़कर है। इसे पहचान मिल रही है और आगामी वर्षों में युद्ध को समझने के दृष्टिकोणों में इसका वर्चस्व बने रहने की संभावना है।

किसी स्तर पर किसी अन्यायसंगत सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को बदलने के लिए किए जाने वाले युद्ध को न्यायसंगत ठहराया जाता है। इस मामले में आक्रामकता प्रत्यक्ष सैनिक आक्रमण तक सीमित नहीं होती अपितु आंतरिक मामलों में भी इसका दखल होता है। यह अधिकार तभी वैध है जबकि इसका उद्देश्य अन्याय दूर करना हो। अन्याय को अधिकांशतः मानवाधिकारों का उल्लंघन करने के रूप में देखा जाता है। न्यायसंगत कारणों से संबंधित सिद्धान्त अन्याय दूर करने की आवश्यकता पर आधारित हैं। यह अत्याचार का विरोध करने के सिद्धान्त से अच्छी तरह से जुड़ा है। अत्याचार विरोध तथा आत्म-निर्णय के अधिकार के बीच सशक्त आंतरिक संबंध है। आत्म-निर्णय का अधिकार मानवाधिकारों के अन्तर्गत आता है। इस अधिकार के उपयोग के आधार हैं – (क) किसी समूह पर अत्याचार हुआ है,

प्रणालीगत भेदभाव अथवा शोषण हुआ हो, (ख) क्षेत्र पर गैर कानूनी ढंग से अधिकार, (ग) क्षेत्र पर पुख्ता दावा हो, (घ) समुदाय की संस्कृति को खतरा हो, (ड.) संवैधानिक उपायों की अनुपस्थिति।

उपरोक्त कुछ दृष्टिकोण संघर्ष के परोक्ष कारणों की जांच में सहायक हो सकते हैं, जबकि कुछ संकट के व्यवहार की व्याख्या कर सकते हैं। ये सैद्धान्तिक दृष्टिकोण युद्ध की प्रकृति को समझने में सहायक हैं। आगे के इकाइयों में युद्ध के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया जाएगा।

4.9 सारांश

युद्ध अपेक्षाकृत लोगों के बड़े समूहों के बीच संघर्ष है जिसमें हथियारों के प्रयोग के माध्यम से शारीरिक बल शामिल होता है। हमने इस मूल परिकल्पना से आरम्भ किया कि युद्ध राष्ट्रीय नीति का माध्यम है और बाद में यह पाया कि यद्यपि युद्ध कूटनीति, राजनीति तथा प्रचार के स्तर पर लड़ा जाता है तथापि युद्ध का पारम्परिक सैनिक पहलू शान्ति और संघर्ष के अध्ययनों में चर्चा का विषय रहा है। इस इकाई में हमने प्रणाली, राज्य और व्यक्ति स्तर के विश्लेषण के आधार पर युद्ध के कारणों की समीक्षा की है। प्रणाली के स्तर पर विश्लेषण के अंतर्गत वैश्विक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक पर्यावरण पर ध्यान केन्द्रित किया गया जिसमें राज्य और गैर-राज्य के कार्यशील तत्व कार्य करते हैं। दूसरी ओर राज्य स्तर के विश्लेषण में राष्ट्र-राज्य और राज्य की आतंरिक प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित किया गया। व्यक्ति स्तर के विश्लेषण में मानव प्रकृति और इस प्रकार से निर्णय करने की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले मनोवैज्ञानिक और जैविक कारकों का विश्लेषण किया है। इन सब विभिन्न स्तरों से बढ़कर है राष्ट्रवाद जोकि आज भी सबसे सशक्त बल है। नृजातीय राष्ट्रवाद और आत्म-निर्णय अधिकार बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में प्रमुख रहा जो आज भी सशक्त बल है और जिसे सोवियत संघ के विघटन तथा विश्व के आर्थिक रूप से एकजुट हो जाने के कारण शीतयुद्ध के बाद के वर्षों में नए रूप में वैधता प्राप्त हुई है। इस इकाई में युद्ध के आदर्शवादी, यथार्थवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों का वर्णन किया गया जो युद्ध के अप्रत्यक्ष कारणों अथवा राज्यों के संकट का व्यवहार का आवंटन करने में उपयोगी हैं।

4.10 अभ्यास प्रश्न

1) युद्ध की परिभाषा दीजिए।

2) युद्ध के कारणों के संबंध में प्रणाली स्तरीय सिद्धान्त क्या है?

3) युद्ध के कारणों के संबंध में राज्य स्तरीय सिद्धान्त क्या है?

4) युद्ध के कारणों के संबंध में व्यक्ति स्तरीय सिद्धान्त क्या है?

5) आदर्शवादियों की दृष्टि में युद्ध क्या है?

6) यथार्थवादियों की दृष्टि में युद्ध क्या है?

7) युद्ध के संबंध में मार्क्सवादी विचारधारा क्या है?

8) राष्ट्रवाद के महत्व का वर्णन कीजिए।

इकाई 5 युद्ध के प्रकार : परंपरागत युद्ध, सीमित युद्ध एवं परमाणु युद्ध

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 परमाणु युग में युद्धः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

5.3 परमाणु युग में पारम्परिक युद्ध

5.4 क्षेत्रीय संघर्ष

5.5 सीमित युद्ध

- 5.5.1 नीति के निर्धारक तत्व
- 5.5.2 सीमितता प्रक्रिया
- 5.5.3 संघर्ष वर्धन की संकल्पना

5.6 परमाणु युद्ध

- 5.6.1 प्रमुख शब्दावली
- 5.6.2 रणनीतियां

5.7 सारांश

5.8 अभ्यास प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

परमाणु युग में समकालीन युद्ध की चर्चा दो स्तरों पर की जा सकती है : प्रथम, द्वितीय युद्ध के बाद संघर्ष के तरीकों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुके पारम्परिक युद्ध को जारी रखने से संबंधित है। इसके अन्तर्गत हम युद्ध प्रणाली के पारम्परिक तरीके पर चर्चा करते हैं जो परमाणु अस्त्रों के आगमन के बाद भी जारी रहा। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाएगा कि परमाणु अस्त्रों ने दो विश्व युद्धों की समग्र युद्ध की विशेष संकल्पना को सीमित कर दिया। इसी से ही "सीमित युद्ध" की संकल्पना उभरकर सामने आई। इसके अतिरिक्त परमाणु युद्ध की संकल्पना पर भी चर्चा होगी। हालांकि हमने देखा है कि हिरोशिमा-नागासाकी (1945) के उपरांत परमाणु हथियार उपयोग में नहीं लाए गए परन्तु हमें इन विनाशक हथियारों से बचने के कारणों पर भी ध्यान देना होगा जिसके लिए हमें परमाणु नीति पर भी ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है जिसके कारण परमाणु हथियारों को उपयोग में न लाने को वास्तविक रूप दिया जा सका।

इस प्रकार से, जब हम युद्धों का वर्गीकरण करते हैं तो हम वास्तव में "समग्र" युद्ध और "सीमित" युद्ध के मध्य भेद करते हैं। इस वर्गीकरण का आधार संबंधित युद्ध पर विश्व की दो प्रमुख शक्तियों अर्थात् संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस की स्थिति है। समग्र युद्ध से अभिप्राय उस युद्ध से है जिसमें दोनों महाशक्तियों की मातृभूमि पर आक्रमण हुआ हो। युद्ध के उद्देश्यों अथवा माध्यमों की सीमाएं न होने के कारण इसे "समग्र युद्ध" कहा जाएगा। दूसरी ओर सीमित युद्ध वह युद्ध है जिसमें दोनों महाशक्तियां शामिल न हों। युद्ध के उद्देश्यों तथा तरीकों, दोनों की दृष्टि से युद्ध सीमित हो। समग्र युद्ध के स्थान पर "सामान्य युद्ध" और सीमित युद्ध के स्थान पर "स्थानीय युद्ध" शब्द भी प्रयोग में लाए जाते हैं।

चर्चा के दूसरे स्तर पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से उभरी युद्ध की पूर्णतः नई प्रणाली पर ध्यान केन्द्रित किया जाएगा। यह युद्ध प्रणाली "आन्तरिक सुरक्षा" के बड़े दायरे में आती है और इसके अन्तर्गत क्रान्तिकारी युद्ध, गृह युद्ध, विद्रोह तथा आधुनिक युग के आतंकवाद से जुड़े असीमित युद्ध शामिल हैं। इस अध्याय में युद्ध से संबंधित उपरोक्त पहले स्तर पर ध्यान केन्द्रित किया जाएगा और पारम्परिक युद्ध (परमाणु युग में), सीमित युद्ध और परमाणु युद्ध पर चर्चा होगी।

5.2 परमाणु युग में युद्ध : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

द्वितीय विश्व युद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों में युद्ध को समझने के दृष्टिकोण पर दो विश्व युद्धों के अनुभवों की छाप थी। ये युद्ध "समग्र युद्ध" थे क्योंकि इनमें दोनों महाशक्तियों ने अपनी उत्पादकता लगाई थी और ये युद्ध लगभग वैश्विक थे। अन्तर्युद्ध के वर्षों के दौरान वायु शक्ति और यंत्रीकृत युद्ध के सिद्धान्त अत्यंत महत्वपूर्ण बन गए थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के जनरल आर्नोल्ड ने तर्क दिया था कि अणु ऊर्जा ने वायु शक्ति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बना दिया था। फिनलेटर रिपोर्ट (संयुक्त राज्य अमेरिका, 1948) में भी वायु शक्ति को सैनिक सुरक्षा का आधार माना गया। परमाणु नीति पर लिखी गई कुछ प्रारम्भिक पुस्तकों में 1959 में प्रकाशित बर्नार्ड ब्रोडी **(Bernard Brodie)** की पुस्तक में भी बम गिराने की रणनीति पर विश्व युद्ध के सिद्धान्तों और युद्ध के बाद की परमाणु रणनीति के मध्य सम्पर्क पर बल दिया गया। वास्तव में, 1952 में हाइड्रोजन बम के आविष्कार तक द्वितीय विश्व युद्ध के विजेता अपनी सेनाओं को वायु, जल, थल अभियानों के पारम्परिक तरीकों का प्रशिक्षण देते रहे।

अमेरिका तथा रूसी हाथों में परमाणु हथियारों के आ जाने से दो मत बने हैं—पारम्परिक भूमि युद्ध अप्रचलित हो गए हैं तथा अणु बम की मौजूदगी ने संबंधित देश को आक्रमण से बचाया है अथवा विलक्षण शक्ति आधार प्रदान किया है परन्तु कोरियाई युद्ध (1950–53) ने इन दोनों भ्रमों को तोड दिया है। अमेरिका दो कारणों से युद्ध को सीमित रखना चाहता था। सबसे पहली बात तो यह है कि वह सोवियत संघ के साथ सीधा युद्ध नहीं चाहता था और दूसरा वह चीन के साथ लम्बे युद्ध को टालना चाहता था। परिणामस्वरूप कोरियाई युद्ध परम्परागत ढंग से लड़ा गया। यह युद्ध 38वें समानांतर रेखा (Parellel) के आसपास स्थित हो गया और इसमें दोनों पक्षों को लाभ हुआ और उनकी स्थिति मजबूत हुई। कोरियाई युद्ध और 1950 के दशक के आरम्भिक वर्षों की घटनाओं से ही परमाणु हथियारों को सैनिक नीति के साथ समेकित करने के प्रयास किए गए।

सन् 1950 के दशक में हुई प्रगति के कारण देशों को भविष्य में अपनी सेनाओं को उपयोग में लाने के संबंध में पुनः विचार करना पड़ा। अमेरिका यह बात सुनिश्चित करने के लिए कटिबद्ध था कि युद्ध के पुराने तरीके से उसे कोई लाभ नहीं होगा और कोरिया में युद्ध की भांति उसके सैनिकों को अपनी जान गंवानी पड़ेगी। यूरोप में अमरीकियों को उत्तरी यूरोप से अपनी सेनाएं हटाने के लिए सोवियत संघ की ज़िद को झेलना पड़ा। चीन में कम्यूनिस्ट क्रान्ति से माओ-से-तंग (Mao-Tse-Tung) सत्ता में आए जबकि एशिया के अन्य देशों में साम्राज्यवादी शक्तियां अपनी उपनिवेशों से तेज़ी से हाथ धो रहे थे। सोवियत संघ ने भी परमाणु युग में प्रवेश किया और थोड़े ही समय में अमेरिका को दोनों महाशक्तियों के पास में परमाणु शस्त्रों की वास्तविकता का सामना करना पड़ा।

सन् 1950 में लिडेल हार्ट ने अपनी संकलित निबंध पुस्तक "Defence of the West" में यह तर्क दिया कि परमाणु अस्त्रों ने अन्य हथियारों को अप्रचलित नहीं किया था। उन्होंने पश्चिमी देशों को यह भी चेतावनी दी कि वे परमाणु हथियारों पर अत्यधिक विश्वास न करें। उन्होंने तर्क दिया कि सोवियत संघ की तुलना में पश्चिमी देशों पर परमाणु आक्रमण का खतरा अधिक था। हालांकि इतना अवश्य हुआ कि दोनों पक्षों के पास परमाणु अस्त्र होने से वे देश उन्हें एकाएक प्रयोग में नहीं लाएंगे। हार्ट ने फील्ड मार्शल

NMDC-288

मोन्टगोमेरी की उस परिकल्पना पर अपनी असहमति व्यक्त की जिसमें उन्होंने संभावित तृतीय विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय की बात कही थी। उन्हें इस बात का आभास हो गया था कि परमाणु हथियारों वाला समग्र युद्ध विनाशक होगा। अतः उन्होंने युद्ध को सीमित करने के पक्ष में तर्क दिया।

सन् 1950 के दशक के मध्य के वर्षों के अनुभवों का परमाणु युग में युद्ध की स्थिति को समझने में योगदान रहा। कोरियाई युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया था कि परमाणु अस्त्र होने से युद्ध की दिशा पर कोई फर्क नहीं पड़ा। सन् 1954 में फ्रांस को वियतनाम में दिएन बिएन फू (Dein Bein Phu) में शर्मनाक हार का मुंह देखना पड़ा। उसके बाद फ्रांस द्वारा वियतनाम से वापसी और अमेरिका के युद्ध में शामिल होने पर भी परमाणु हथियार प्रयोग में नहीं लाए गए। कोरिया में राष्ट्रपति ट्रूमन (Truman) द्वारा परमाणु हथियार प्रयोग में न लाने तथा राष्ट्रपति आईज़नहॉवर (Eisenhower) द्वारा 1955 में वियतनाम में इन्हें प्रयोग में न लाने के पीछे एक ही सोच थी। दोनों ही मामलों में रणनीतिगत कारणों से युद्ध को सीमित किया गया – सोवियत संघ के साथ प्रत्यक्ष युद्ध अथवा चीन के साथ लम्बे समय तक चलने वाले युद्ध से बचाव। 1956 के स्वेज युद्ध में अंग्रेज-फ्रांसीसी सेनाओं पर इसी प्रकार का दबाव था। उन्होंने परमाणु हथियार प्रयोग नहीं किए और न ही घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के कारण नागरिक ठिकानों पर हमला किया।

5.3 परमाणु युद्ध में पारम्परिक युद्ध

पिछले तीन सौ वर्षों में पारम्परिक युद्धों के तीन चरण दृष्टिगोचर होते हैं। पहली पीढ़ी के युद्ध छोटी बन्दूक तथा आर-पार की (Line and Column) युक्तियों के युद्ध थे। इनकी युक्तियां उन दिनों की प्रौद्योगिकी का परिणाम थीं और इसमें गोली की शक्ति भी जुड़ गई। दूसरी पीढ़ी के युद्धों में छोटी बन्दूकें राइफल, ब्रीचलोडर, कांटेदार तार, मशीनगन और अप्रत्यक्ष गोलीबारी थी। इसकी युक्तियां नई प्रौद्योगिकी के आंदोलन पर आधारित थीं। पहली पीढ़ी के मुद्दों में जहां थल सेना प्रमुख थीं, वहीं दूसरी पीढ़ी के युद्ध में तोपखानों का महत्व बढ़ा। तीसरी पीढ़ी के युद्धों में पूर्व के प्रौद्योगिकीय आधार को उपयोग में लाया जाता रहा परन्तु बेहतर प्रौद्योगिकी के आने से भीषण गोलाबारी पर अधिक बल दिया जाता रहा। तृतीय पीढ़ी के मुद्दों में मूलभूत अंतर युद्ध की संकल्पनाओं और विचारों में आया। उदाहरण के तौर पर जर्मनी में अनुशय (attrition) की तुलना में सैन्यव्यूहन (manouvre) पर आधारित एकदम नई युक्तियां विकसित कीं। ब्लिट्ज़क्रीग इसका सुन्दर उदाहरण है।

आज हम युद्ध प्रणाली की चतुर्थ पीढ़ी में कदम रख रहे हैं। इस युग में युद्ध का मैदान पूर्व की पीढ़ियों की भांति सीमित नहीं होगा अपितु इसमें पूरा समाज शामिल होगा। यह पीढ़ी केन्द्रीकृत लॉजिस्टिक्स पर भी कम निर्भर होगी। पूर्व की बड़ी सेनाओं की तुलना में सैनिक मशीनें हल्की और नवीन प्रौद्योगिकी की होंगी। एक अन्य प्रमुख युक्तिगत परिवर्तन पूरी शत्रु सेना को पराजित करने की अपेक्षा शत्रु को आंतरिक दृष्टि से कमजोर करने में होगा। विचारों और प्रौद्योगिकी, दोनों में युद्ध प्रगति कर चुके होंगे।

1950 के अंतिम वर्षों में परमाणु अस्त्रों के युग में पारम्परिक युद्ध की स्थिति पर अधिक चर्चा होने लगी। अमेरिका तथा फ्रांस अपने पूर्वी अनुभवों से निराश थे। ब्रिटेन भी मध्य पूर्व में अपना सिक्का कायम रखने के प्रयासों में हताश था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों और उपनिवेश-विरोधी आंदोलनों का पश्चिमी शक्तियों पर प्रभाव पड़ा। यह तब अधिक जटिल हो गया जब इन आंदोलनों को सोवियत संघ तथा चीन का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग मिला।

ब्रिटेन में विश्व युद्ध के अनुभवों के आधार पर तैयार की गई सेनाएं अप्रचलित हो गई थीं। अब सेनाओं को युद्ध जीतने के लिए नहीं अपितु युद्ध रोकने के लिए लड़ना था। पहले के अभियान और समग्र युद्ध

की संकल्पना आज के समय में तर्कसंगत नहीं रह गए थे। लिडेल हार्ट (Liddell Hart) का तर्क था कि यदि युद्ध को रोका नही जा सकता तो उसे सीमित रखा जाए ताकि समग्र विनाश से बचा जा सके। हेनरी कीसिंगर (Henry Kissinger) का तर्क था कि किसी राष्ट्र को अपनी नीतियों के समर्थन के लिए सैनिक शक्ति को उपयोग में लाना चाहिए। उन्होंने सीमित परमाणु हथियारों का समर्थन किया था लेकिन साथ ही वे युद्ध को सीमित रखने के भी पक्षधर थे। परमाणु युद्ध से संबंधित अमेरिकी नीतियों और सोवियत संघ की धमकियों का सामना करने के लिए बनाई गई रणनीतियों में कुछ वर्षों में परिवर्तन आया (परमाणु युद्ध की चर्चा में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है)।

आन्द्रे बोफेर (Andre Beaufre) ने अपनी पुस्तक "इन्ट्रोडक्शन टू स्ट्रेटिजी (Introduction to Strategy) में समग्र रणनीति के पांच विकल्प बताए हैं। उन्होंने पश्चिमी देशों को "समग्र" रणनीति अपनाने का सुझाव दिया जिसमें राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक कार्यकलाप शामिल हों, साथ ही बल प्रयोग की धमकी अथवा इसका वास्तविक प्रयोग भी इसी का हिस्सा हो। उनके द्वारा बताए गए पांच विकल्प ये थे :

1) प्रत्यक्ष धमकी का प्रयोग तब किया जा सकता है जब संसाधनों की कोई कमी न हो और उद्देश्य का अत्यधिक महत्व न हो। इस प्रकार की धमकी कोई परमाणु शक्ति अपरमाणु शक्ति को दे सकती है, हालांकि यह धमकी अधिक व्यावहारिक नहीं है (जैसा कि कोरिया के मामले में हुआ)।

2) दूसरा विकल्प अप्रत्यक्ष दबाव का है। इसका प्रयोग तब किया जाता है जब उद्देश्य अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हो और साथ ही संसाधन भी पर्याप्त न हों। बल प्रयोग की धमकी के साथ-साथ लगातार कूटनीतिक, राजनीतिक और आर्थिक दबाव डाला जाता है। इस संबंध में बोफर ने हिटलर का उदाहरण दिया है।

3) तीसरा विकल्प अपने शत्रु को कमजोर बनाने के निरन्तर प्रयासों का है। इस विकल्प के अंतर्गत यह माना जाता है कि संसाधन अपेक्षाकृत कम हैं और आर-पार की बात घातक हो सकती है।

4) कम सघनता वाला दीर्घावधि संघर्ष चौथा विकल्प है। तीसरी दुनिया के क्रान्तिकारी युद्ध इसी क्षेणी में आते हैं। इस संदर्भ में, माओ-से-तंग (Mao-Tsu-Tung) का युद्ध के प्रति दृष्टिकोण इसका बढ़िया उदाहरण है। इस विकल्प की मान्यता यह है कि संसाधन वास्तव में कम हैं और दुश्मन के साथ कम सघन संघर्ष किया जाए न कि प्रत्यक्ष युद्ध।

5) अंतिम विकल्प आर-पार की लड़ाई का है। इसका उद्देश्य सैनिक विजय है। इसमें हर प्रकार की श्रेष्ठता आंकी जाती है और परमाणु हथियारों के प्रयोग का डर अथवा खतरा नहीं रहता।

बोफर का मानना था कि रणनीति का उद्देश्य अपने लिए काम करने की स्वतंत्रता प्राप्त करना, उसे बरकरार रखना और दुश्मन की स्वतंत्रता कम करना है।

1917 की रूसी क्रान्ति के बाद सोवियत संघ की स्थिति पर तत्कालीन सैद्धान्तिक चर्चाओं का प्रभाव पड़ा। अनुशासित, प्रशिक्षित और व्यावसायिक सेना समय की मांग थी परन्तु यह क्रान्ति के मूल सिद्धान्तों के ही विरूद्ध होता जोकि मध्यमवर्गीय सेना की पक्षधर थी। अंत में समय की मांग को देखते हुए रूसी शासक, ज़ार (Czar) के अधिकारियों को वापस सेना में नौकरी दी गई।

पारम्परिक युद्ध के प्रति सोवियत संघ की विचारधारा में परम्परागत दृष्टि से आक्रमण की उपयोगिता को सर्वोत्तम रणनीति माना गया है। उनके अनुसार शत्रु पर हावी होने के लिए आक्रमण करने की क्षमता और इच्छा दोनों अनिवार्य हैं। जब तक स्टॉलिन जिन्दा रहा, परम्परागत संकल्पना महा देशभक्ति

NMDC-288

संबंधी युद्ध के रूप में प्रधान रही, यहां तक कि परमाणु हथियार भी इसे बदल नहीं पाए। रणनीति के संबंध में सोवियत संघ की संकल्पना को विशिष्ट राष्ट्रीय दृष्टिकोणों की चर्चा के लिए उपयोग में लाया जा रहा है। इसे भू-राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में देखा जाता है। इस रणनीति में यह माना जाता है कि रूस का कई शताब्दियों तक दमन किया जाता रहा और आज भी यह शत्रु-शक्तियां से घिरा हुआ है।

5.4 क्षेत्रीय संघर्ष

क्षेत्रीय संघर्षों की संकल्पना परमाणु युग में पारम्परिक युद्ध के प्रमुख पहलुओं में से एक है। इसमें संघर्षरत देश को महाशक्तियों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समर्थन मिला। ये दो प्रकार के संघर्ष हैं – एक, जिसमें कोई बाह्य क्षेत्रीय शक्ति अप्रत्यक्ष घुसपैठ करती है और दूसरे, जिसमें कोई महाशक्ति प्रत्यक्ष रूप से किसी क्षेत्रीय शक्ति का मुकाबला करती है।

इस संदर्भ में हम कई उदाहरण ले सकते हैं। पहले स्तर पर मध्य-पूर्व के युद्धों तथा भारत द्वारा लड़े गए युद्धों (चीन तथा पाकिस्तान के साथ) को शामिल किया जा सकता है जबकि अन्य स्तर पर महाशक्तियों द्वारा छोटी शक्तियों के विरूद्ध छेड़े गए युद्ध जैसे – फॉकलैण्ड्स संघर्ष और इराक युद्ध (1990 तथा 2003)।

मध्य-पूर्व में अरब राज्यों और इज़राइल के मध्य कई युद्ध हुए। पहला युद्ध 1948 में इज़राइल के गठन के समय लड़ा गया, उसके बाद 1967 और 1973 में युद्ध हुए। अमेरिका इज़राइल का परम्परागत समर्थक रहा है। यह सहयोग हथियारों अथवा इनके रख-रखाव व आर्थिक सहायता के रूप में रहा। युद्ध के वर्षों से ही अरब राज्यों को सोवियत संघ का समर्थन मिला है। विशेषकर मिस्र और सीरिया को सोवियत सहयोग के कारण इज़राइल के विरूद्ध लड़ने में लाभ पहुंचा।

भारत-पाकिस्तान युद्धों का मामला भी इसी प्रकार का है। हालांकि 1947–48 तथा 1965 के युद्धों में स्पष्ट अमेरिकी और सोवियत सहयोग देखने को नहीं मिला तथापि 1971 में यह अति स्पष्ट था, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन ने भी कहा था कि अमेरिका का पाकिस्तान के प्रति "झुकाव" है। दूसरी ओर भारत और रूस के बीच शान्ति, मित्रता और सहयोग पर भारत-रूस संधि (1971) पर हस्ताक्षर इस बात का प्रतीक थे कि दोनों महाशक्तियों का उपमहाद्वीप में हित है परन्तु चीन के साथ 1962 के युद्ध में भारत को अमेरिका का सहयोग भी मिला।

अन्य स्तर पर बड़ी शक्तियों द्वारा छोटी शक्तियों के विरूद्ध युद्ध लड़े जाते हैं। ब्रिटेन और अर्जेंटीना के बीच हुआ फॉकलैण्ड्स युद्ध इसका उदाहरण है। मुद्दा फॉकलैण्ड द्वीप का था जो ब्रिटेन के अधिकार में था और जिस पर अर्जेंटीना ने कब्जा जमा लिया था। अर्जेंटीना का मत था कि यह औपनिवेशिक समाप्ति की प्रक्रिया का हिस्सा था जबकि ब्रिटेन का मानना था कि फॉकलैण्ड द्वीप के नागरिकों को अपने संबंध में निर्णय लेने दिया जाए और इस प्रकार से स्वतंत्रता प्रदान की जाए।

इन युद्धों की प्रमुख विशेषता भू-राजनीतिक कार्यक्षेत्र की स्थानीय/क्षेत्रीय प्रकृति थी और ये मुद्दे विश्वव्यापी युद्धों का रूप नहीं ले पाए।

5.5 सीमित युद्ध

विश्व युद्धों के बाद से ही यह लगने लगा था कि अब यदि युद्ध होंगे तो समग्र युद्ध ही होंगे। परमाणु अस्त्रों के युग में और विशेषकर अमेरिका के परमाणु एकाधिकार के कारण यह धारणा बन गई थी कि यदि युद्ध

NMDC-288

हुआ तो इसका अर्थ "व्यापक प्रतिशोध" होगा (इससे तथा संबंधित संकल्पनाओं के विस्तृत विवरण के लिए अगली इकाई देखें)। लेकिन बाद में अमेरिका और सोवियत संघ जब दोनों ही परमाणु हथियार शक्तियां बन कर उभरे तो इन देशों की युद्ध में आगे न बढ़ने की सुरक्षा नीति रही जोकि परस्पर आक्रमण के तर्क पर आधारित थी। अन्य शब्दों में, यदि एक देश आक्रमण करता है तो दूसरा भी उसके प्रत्युत्तर में आक्रमण करेगा। इस संभावना से पहला देश युद्ध में आगे नहीं बढ़ता। इसको अंग्रेजी में deterrance कहते हैं, अर्थात् एक देश की विशाल शक्ति दूसरे को उस पर आक्रमण करने से रोकती है।

तथापि, कोरियाई युद्ध (वर्ष 1950–1953) ने यह दिखा दिया कि परमाणु हथियार तथा शीत युद्ध लड़ रहे देशों द्वारा युद्ध में आगे न बढ़ने की भावना के बावजूद दोनों के बीच के अप्रत्यक्ष संघर्ष को टाला नहीं जा सका। यह सत्य था कि दोनों महाशक्तियां एक-दूसरे के प्रत्यक्ष रूप से सामने नहीं थीं परन्तु फिर भी वे सीमित आधार पर एक-दूसरे की शक्ति का निर्धारण तथा परीक्षण करते रहते थे न कि विश्व युद्ध की भांति असीमित तरीके से। युद्ध संयम से लड़ा गया और बातचीत के रास्ते खुले रखे गए ताकि यह बड़े युद्ध का रूप न ले। इस प्रकार से "सीमित युद्ध" के युग की शुरूआत हुई।

मूल रूप में विकसित हुई सीमित युद्ध की संकल्पना के अंतर्गत दो महाशक्तियों के बीच युद्ध पर ध्यान केन्द्रित किया गया जो न तो उनकी धरती पर और न ही विश्व के दूसरे क्षेत्रों में सीधे तौर पर लड़े गए। अतः जब हम सीमित युद्ध की "सीमित" प्रकृति का अध्ययन करते हैं तो प्रमुख ध्यान दोनों शक्तियों की प्रचुर सैनिक शक्ति पर होता है जिसका युद्ध में वास्तव में प्रयोग नहीं किया जाता।

सीमित युद्ध सामान्य युद्ध से कैसे भिन्न है ? सीमित युद्ध की सबसे प्रमुख बात यह है कि इसमें दोनों पक्ष समझकर संयम से कार्य करते हैं और यह संयम उस राष्ट्र की युद्ध लड़ने की क्षमता से सीधे तौर पर जुड़ा होता है। यदि उसकी क्षमता सीमित है तो संयम सीमित क्षमता के कारण होता है न कि अन्य कारण से। इसी कारण से सीमित युद्ध की संकल्पना में महाशक्तियों के संदर्भ को लिखा गया जो अप्रतिबंधित युद्ध लड़ तो सकती थीं परन्तु जिन्होंने कई कारणों से (जिन पर हम बाद में चर्चा करेंगे) युद्ध नहीं लड़ा। तार्किक दृष्टि से शहरों पर नीतिगत बमबारी से जुड़े परमाणु सिद्धान्त इस संदर्भ में लागू नहीं होंगे। अन्य शब्दों में, इसे युद्ध के समय फूंक-फूंक कर कदम रखने के रूप में देखा जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह सीमितता क्यों और कैसे प्राप्त की जा सकती है? "क्यों" में नीति निर्धारकों पर और "कैसे" में सीमितता की वास्तविक प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

5.5.1 नीति के निर्धारक तत्व

सन् 1957 में आयोजित सेमिनार "सीमित युद्ध के लिए अमेरिकी आयुध क्षमताएं और तकनीक" में युद्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गई है : "सीमित युद्ध का उद्देश्य सीमित उद्देश्यों की प्राप्ति है और इसकी प्राप्ति के लिए राष्ट्र से अपने राष्ट्रीय संसाधनों में से सीमित का व्यय करने की संभावना होती है तथा युद्ध लड़ते समय युद्ध को सीमित भौगोलिक क्षेत्र तक रखने की आशा की जाती है।"

अतः, सीमित युद्ध सीमित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लड़ा जाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि युद्ध सीमित रखने के लिए आवश्यक संयम माध्यम है न कि लक्ष्य। यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि उद्देश्यों को सीमित रखने की इच्छा युद्ध को सीमित रखने के उद्देश्य से है न कि इसके विपरीत। ये सीमितताएं इस भावना के कारण नहीं होती कि युद्ध के उद्देश्य कम महत्वपूर्ण हैं और इस प्रकार से उन्हें सीमित रखने की इच्छा भी। इसका तर्क उन समस्याओं में है जो युद्ध के सीमित न होने और बड़े युद्ध का रूप लेने की अवस्था में निहित हैं।

सामान्य युद्ध का भय ही 1950 के दशक में पश्चिमी शक्तियों की चिंता का विषय रहा जिसे "संघर्ष वर्धन" **(escalation)** का नाम दिया गया। उद्देश्यों को सीमित रखने और जान-बूझकर संयम बरतने के पीछे सीमित स्थानीय युद्ध के सामान्य युद्ध में परिवर्तित होने से रोकने का उद्देश्य था।

सीमित युद्ध के उद्देश्यों के मद्देनजर सामान्यतया अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में बल प्रयोग की भूमिका चर्चा का विषय रही। अमेरिका का तर्क था कि अमेरिका को अपना बल प्रयोग सीमाओं के विस्तार के लिए नहीं करना चाहिए अपितु इतना ही प्रयोग किया जाए जिससे शत्रु सेनाओं को रोका जा सके। दूसरी ओर, रूस और चीन बल प्रयोग को वैध नीति मानते हैं और समाजवादी नियंत्रण बढ़ाने के लिए इसके प्रयोग को उचित ठहराते हैं। इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का सीमित युद्ध के सिद्धान्त पर प्रभाव पड़ा।

सीमित युद्ध के उद्देश्यों पर अन्य प्रभाव घरेलू सार्वजनिक विचार का पड़ा। कोरियाई तथा वियतनाम युद्ध दोनों ही मामलों में इन युद्धों में अमेरिका के दृष्टिकोण पर घरेलू स्तर पर सार्वजनिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा। 1979 के बाद अफगानिस्तान में रूस और 1990 और 2003 के दौरान इराक में अमेरिकी कार्रवाई को इसी प्रकार का सोचा समझा संयम कहा जा सकता है। इन सभी मामलों में घरेलू स्तर पर विवशताओं ने अलग-अलग स्तर की भूमिका निभाई।

5.5.2 सीमितता प्रक्रिया

सीमित युद्ध की सीमितता प्रक्रिया में युद्ध के कार्य-क्षेत्र बढ़ने के पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है (नीति की सीमाएं वास्तविक शब्दों में भूगोल, लक्ष्यों, हथियारों तथा बड़ी शक्तियों की भागीदारी पर लगी सीमितताओं के रूप में देखी जाती हैं)।

भौगोलिक सीमाओं से अभिप्राय उस क्षेत्र से है जिसमें युद्ध हो रहा है। कोरियाई युद्ध कोरियाई प्रायद्वीप, वियतनाम युद्ध इंडो-चीन, और अफगानिस्तान व इराक युद्ध उन देशों तक सीमित रहे और महाशक्तियों के देशों में इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त आक्रमण के लक्ष्यों में भी सीमितता रही। वियतनाम के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर जहां नागरिक जनसंख्या भी लक्ष्य थी उनके लक्ष्य या तो सैनिक अड्डे अथवा औद्योगिक एवं ढांचागत सुविधाएं थीं और ये लक्ष्य उस क्षेत्र के भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित थे। उनमें अमेरिका, सोवियत संघ अथवा चीन के अपने देश शामिल नहीं थे।

सीमित युद्ध में परमाणु हथियारों के प्रयोग पर काफी विवाद हुआ है। एक समय पर तो यह माना गया कि हिरोशिमा-नागासाकी की घटना के उपरांत देश का जनमत काफी सीमा तक इस प्रकार की किसी घटना का समर्थन नहीं करेगा। इसमें अतिरिक्त व्यापक पैमाने पर युद्ध छिड़ जाने का भी खतरा था। कोरिया में अमेरिका द्वारा परमाणु हथियार प्रयोग में न लाने के तीन कारण बताए गए हैं : प्रथम, अमेरिका का यह सैनिक मूल्यांकन था कि कोरिया युद्ध की युक्तियों की दृष्टि से सशक्त था और उसे रूस का समर्थन मिल रहा था तथा वास्तविक युद्ध कहीं और लड़ा जाना था। दूसरे, व्यावहारिक स्तर पर यह मूल्यांकन किया गया था कि इस प्रकार के हथियारों के उपयोग के लिए कोई स्पष्ट लक्ष्य नही थे और यह मूल्यांकन इस अवधारणा पर किया गया कि परमाणु हथियारों को व्यापक विनाश के अंतिम अस्त्र के रूप में प्रयोग में लाया जाए न कि छोटे स्तर के युद्ध के लिए। तीसरे, इस संबंध में अमेरिका का सहयोगी इंग्लैण्ड इसके विरोध में था। आज के परमाणु हथियारों तथा किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र में इनके प्रयोग में संयम बरतने की संभावना बनने से युद्ध में परमाणु हथियारों के प्रयोग की संभावित वास्तविकता पर चर्चा अनिवार्य हो गई है।

NMDC-288

विभिन्न राज्यों की भागीदारी के मामले में यह उल्लेखनीय है कि जहां तक दो महाशक्तियों का प्रश्न है उनकी भागीदारी तटस्थता से लेकर सहयोग और वास्तविक भागीदारी की रही है। भारत-पाकिस्तान युद्धों में इन देशों ने पूर्णतः अप्रत्यक्ष तरीके से भाग लिया जिनमें कूटनीतिक दबाव और आर्थिक प्रतिबंध शामिल हैं। दूसरी ओर अमेरिका ने कोरिया, वियतनाम और इराक में तथा रूस ने अफगानिस्तान में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करते हुए सेनाएं भेजीं।

5.5.3 संघर्ष वर्धन की संकल्पना

यह सत्य है कि सीमित युद्ध की प्रमुख चिंता संयम की है जिसकी हमने पहले चर्चा की है। फिर भी कई कारणों से कोई राष्ट्र सीमित संघर्ष को बढ़ाना चाहता है। संघर्ष वर्धन का प्रयोग दूसरे पक्ष को आर-पार की लड़ाई की धमकी देने; समग्र हार को रोकने अथवा दूसरे पक्ष द्वारा युद्ध को बढ़ाने की संभावना के कारण प्रतिक्रिया के रूप में किया जा सकता है।

हर्मन कॉन (Herman Kahn) ने सीमित युद्ध के वर्धन को चित्र के रूप में प्रस्तुत किया है। संघर्ष वर्धन के तीन तरीके हैं:

1) युद्ध में तकनीकी केन्द्रों अथवा शहरों को लक्ष्य बनाकर आक्रमण अथवा परमाणु हथियारों का प्रयोग, इनसे सीमित युद्ध की सघनता बढ़ जाएगी।

2) दूसरा तरीका युद्ध क्षेत्र बढ़ाने का है। इसका संबंध युद्ध क्षेत्र के भौगोलिक विस्तार से है।

3) तीसरा तरीका नया संकट पैदा करके युद्ध को विस्तृत करने का है। इसमें सहयोगियों पर आक्रमण अथवा शत्रु के राज्य की सीमा के बाहर उसके स्थलों पर आक्रमण शामिल है।

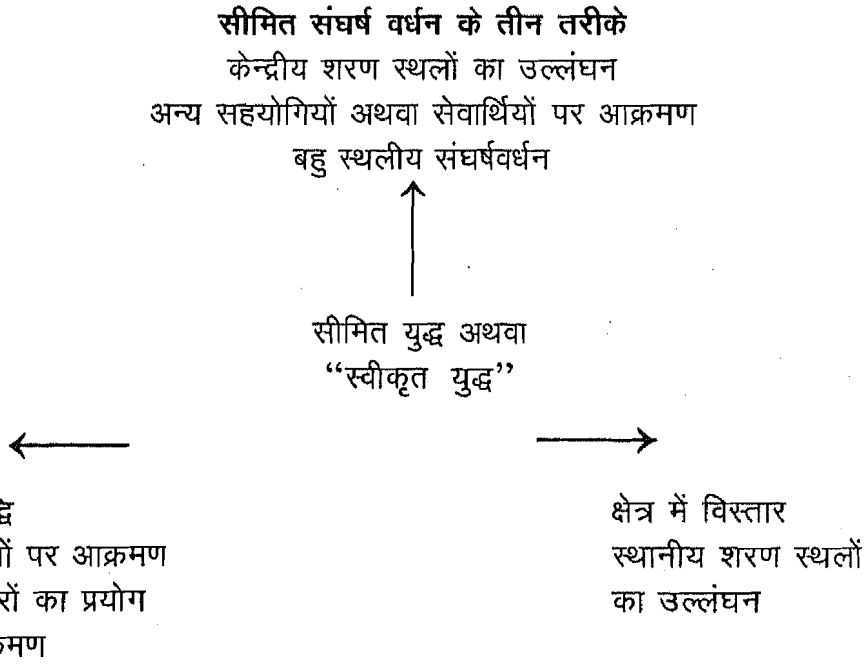

(स्रोत : हर्मन कॉन (1970) "द कॉनसेप्ट ऑफ एस्केलेशन" इन जॉन गार्नेट (John Garnett) की पुस्तक "थ्योरीज ऑफ पीस एण्ड सिक्योरिटी : ए रीडर इन कन्टैम्पोरेरी स्ट्रेटिजिक थॉट (Theories of Peaeh and Security : A Reader in Contemporary Strategic Thought) मैक्मिलन, सेंट मार्टिन प्रेस, पृष्ठ 249।)

क्या सीमित युद्ध में कोई विजेता होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं होगा। चूंकि दोनों पक्ष सीमित उद्देश्यों और संयम से लड़ रहे होते हैं अतः युद्ध से अंतिम परिणाम मिलने की संभावना कम होती है। जनरल डगलस मैक्आर्थर (General Douglas MacArthur) ने कोरियाई युद्ध के संदर्भ में कहा था कि विजय का कोई विकल्प नहीं है तथापि यह कथन आधुनिक समय के प्रतिमान को परिलक्षित नहीं करता।

5.6 परमाणु युद्ध

आज के संदर्भ में केवल हिरोशिमा और नागासाकी ऐसे उदाहरण हैं जब परमाणु हथियार का वास्तविक प्रयोग हुआ और यह भी तब हुआ जब अमेरिका का परमाणु हथियारों के मामले में एकाधिकार था। सोवियत संघ ने 1949 में, इंग्लैण्ड ने 1952 में, फ्रांस ने 1960 और चीन ने 1964 में अपने प्रथम परमाणु प्रशिक्षण किए। हाल ही में भारत और पाकिस्तान ने 1998 में इस दिशा में कदम रखा। आज इज़राइल और उत्तरी कोरिया के पास परमाणु हथियार होने की आशंका है तथा ईरान जैसे कई अन्य देश इसे प्राप्त करना चाहते हैं।

हालांकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से परमाणु अस्त्र प्रयोग में नहीं लाए गए परन्तु उनके डिजाइन और विनाशक शक्ति में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। युद्धकर्त्ता देशों द्वारा इन हथियारों की विनाशक क्षमता और इस अनुभूति के विचार से कि परमाणु युद्ध दोनों पक्षों के विनाश का कारण बनेगा, दोनों पक्षों को तबाह करने के साथ-साथ सामान्य विनाश का भी कारण बनेगा, परमाणु युद्ध के होने की अपेक्षा न होने पर अधिक रणनीतियां बनाई गई हैं। युद्ध को रोकने तथा एक-दूसरे को नीचा दिखाने के सिद्धान्त अब विकसित होकर परमाणु युद्ध से बचने के गंभीर तरीके बता रहे हैं।

परमाणु युद्ध पर यह भाग परमाणु रणनीति के मूल्यांकन, विशेष रूप से अमेरिका और सोवियत रणनीतियों के संदर्भ पर आधारित है, जहां परमाणु रणनीति अध्ययन वास्तव में परमाणु हथियारों का प्रयोग न करने से है।

5.6.1 प्रमुख शब्दावली

परमाणु रणनीति पर चर्चा के दौरान उपयोग में लाई गई प्रमुख संकल्पनाओं को समझना अनिवार्य है। वे हैं:

युद्ध अवरोधन (Deterrence) :- परमाणु हथियारों ने सुरक्षा संबंधी सभी अवधारणाओं को बदल डाला। सुरक्षा के प्रति परम्परागत दृष्टिकोणों में प्रतिरक्षा अथवा आक्रमण की रणनीति बताई गई थी। इस प्रकार से कोई राष्ट्र आक्रमण की प्रतिरक्षा अथवा दूसरे द्वारा आक्रमण से बचने के लिए आक्रामक रुख अपनाकर स्वयं की रक्षा कर सकता था। परमाणु हथियारों ने सुरक्षा के लिए राष्ट्रों द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियां ही बदलकर रख दी। यहां तक मान्यता थी कि दोनों पक्षों के पास परमाणु हथियार हैं और वे इनका प्रयोग एक-दूसरे पर कर सकते हैं।

रणनीति के रूप में प्रतिरक्षा का अर्थ सरल शब्दों में इतना ही है कि शत्रु पक्ष उस युद्ध से जो प्राप्त करना चाहता है, उसे वह प्राप्त न करने दिया जाए। दूसरी ओर युद्ध अवरोधन भिन्न रणनीति है। यदि एक देश कुछ प्राप्त करना चाह रहा है तो दूसरा पक्ष उसे यह दिखाकर कि उसकी कार्रवाई के प्रति प्रत्याघात होगा, पहले पक्ष को प्रथम आक्रमण करने से रोकेगा। सरल शब्दों में, एक देश ने जो कदम सोचा है, उसकी उसे कीमत चुकानी होगी। यह एक प्रकार की धमकी है जिससे दूसरे को बल प्रयोग से रोका जाता है।

NMDC-288

यदि हम यह कहें कि यदि शत्रु अपने क्षेत्र में विस्तार के बारे में सोच रहा है तो उसे उसकी कीमत चुकानी होगी। यदि वह कोई कदम उठाएगा तो उसे उसकी सजा मिलेगी। एक और बात महत्वपूर्ण यह है कि शत्रु पक्ष को यह उचित तरीके से बताना होगा कि उसकी प्रस्तावित कार्रवाई की सजा क्या हो सकती है। सजा विश्वसनीय प्रतीत होनी चाहिए। धमकी भी विश्वसनीय होनी चाहिए। दी गई धमकी गीदड़ भभकी नहीं लगनी चाहिए और शत्रु को यह लगना चाहिए कि अगर उसने ग़लत कदम उठाया तो उसे उसकी कीमत चुकानी होगी। अंत में शत्रु के लिए कुछ विकल्प खुले रखे जाने चाहिए ताकि बाद में भी कोई हल ढूंढा जा सके। इसमें कोई कार्रवाई करने से पहले शत्रु को मानसिक रूप से तैयार करने की प्रक्रिया शामिल है। किसी भी पक्ष द्वारा वास्तविक कार्रवाई करने से पहले यह पूरी प्रक्रिया चलाई जानी चाहिए। शत्रु के साथ मनोवैज्ञानिक संबंध स्थापित किया जाना चाहिए। इसी मनोवैज्ञानिक संबंध को युद्ध अवरोधन कहा जाता है। यह युद्ध के वास्तविक रूप से आरम्भ होने से पहले ही उपयोगी है। युद्ध अवरोधन को उद्देश्य युद्ध को रोकना है और यदि फिर भी युद्ध हो जाए तो यह अवरोधन की विफलता है।

एक प्रकार से युद्ध अवरोधन में दो विरोधाभासपूर्ण संकल्पनाएं निहित हैं। एक स्तर पर दोनों देश परमाणु हथियारों से सुसज्जित हैं। दोनों में ही दूसरे पर आक्रमण करने और उसे नष्ट करने तथा आक्रमण किए जाने की अवस्था में प्रत्याघात करने की क्षमता है। दोनों को एक-दूसरे की क्षमताओं का अनुमान है क्योंकि ये छुपी नहीं हैं अपितु स्पष्ट और प्रदर्शित हैं। दोनों पक्षों के बीच बातचीत का रास्ता खुला रखा जाता है ताकि धमकी की सभी संभावनाओं को दूसरे तक पहुंचाया जा सके। फिर भी अन्य स्तर पर इसके साथ ही साथ दोनों उस युद्ध को टालना चाहते हैं जिसकी वे तैयारी कर रहे हैं। ऐसा इसलिए है कि वे मूल कार्रवाई की "इतनी बड़ी" कीमत चुकाने को तैयार नहीं। दोनों को ही एक-दूसरे की क्षमताओं का पूर्वानुमान है। इस प्रकार से वे उस युद्ध के लिए तैयार होते हैं जिसे वे टालना चाहते हैं। यदि युद्ध होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि अवरोधन विफल हो गया है और प्रतिरक्षा के लिए कदम उठाने होंगे।

सीमांतवर्तिता (Brinkmanship) : सीमांतवर्तिता को पानी के गिलास के उदाहरण से समझा जा सकता है। गिलास एक सीमा तक भरा जा सकता है। यदि उससे अधिक पानी डाला जाए तो पानी बाहर गिर जाएगा। इसी प्रकार से दो राष्ट्रों की निश्चित सीमा होती है जिस तक वे तनाव झेल पाते हैं। यदि उससे अधिक तनाव बना रहता है तो युद्ध हो जाता है।

सीमांतवर्तिता की संकल्पना में अर्थ छिपा होता है और अवधारणा भी निहित रहती है। दोनों शत्रु राष्ट्रों को तनाव बढ़ने की जानकारी होती है। शायद दोनों अपना हित साधने के लिए उसे बढ़ाने में रुचि लेते हैं। दोनों को उस सीमा का भी पता होता है जहां तक वे तनाव को झेल सकते हैं। जब वे उस सीमा तक पहुंच जाते हैं तो वे संभावित युद्ध को टालने के लिए तनाव रोकना सुनिश्चित करते हैं।

क्यूबा प्रक्षेपास्त्र संकट (1962) सीमांतवर्तिता का बढ़िया उदाहरण है। अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ही अमेरिका द्वारा क्यूबा पर लगाए गए समुद्री मार्ग अवरोध के मुद्दे पर एक-दूसरे के साथ तनाव में थे। दोनों ही तनाव को झेलने की सीमा तक ले गए और उस सीमा पर उन्हें संभावित युद्ध की आशंका और भय लगा। यदि यह युद्ध होता तो परमाणु युद्ध ही होता। तब उन्होंने युद्ध की ओर से कदम पीछे हटाने शुरू किए।

NMDC-288

उत्पीड़क कूटनीति **(Coercive diplomacy) :** उत्पीड़क कूटनीति के चार तत्व हैं –

क) **दंड :** अपनी मांगों को मनवाने के लिए शत्रु के नागरिकों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कष्ट देना।

ख) **जोखिम :** नागरिक अर्थव्यवस्था व समाज को लक्ष्य बनाना। यद्यपि शत्रु पर अचानक आक्रमण कर सजा दी जा सकती है, परन्तु जोखिम रणनीति धीमी सजा है जो लम्बे समय तक दी जाती है।

ग) **इन्कार :** शत्रु को युद्ध के मैदान में पराजित करने की क्षमता का प्रदर्शन।

घ) **शीषोच्छेदन :** यह शत्रु राष्ट्र के शीर्षस्थ नेताओं की हत्या करने अथवा उन्हें पदच्युत करवाने, अथवा देश की कमान और नियंत्रण प्रणाली को नष्ट करने की रणनीति है।

बाध्यता (Compellence) : यह रणनीति तब अपनाई जाती है जब युद्ध अवरोधन नीति विफल हो जाती है। इस रणनीति में शत्रु से कोई विशेष कार्रवाई करने के लिए बल प्रयोग किया जाता है। युद्ध अवरोधन में शत्रु को कोई कार्रवाई करने से रोका जाता है जबकि बाध्यता के अन्तर्गत शत्रु द्वारा आरम्भ की गई कार्रवाई में परिवर्तन लाने की रणनीति होती है। इस रणनीति के अंतर्गत शत्रु को सकारात्मक रूप से कार्रवाई करनी पड़ती है। यह युद्ध अवरोधन से पूर्ण रूप से भिन्न है क्योंकि अवरोधन के अंतर्गत केवल कार्रवाई न करने के लिए कहा जाता है जबकि बाध्यता के अंतर्गत शत्रु से सकारात्मक कार्रवाई का आह्वान किया जाता है। यदि शत्रु इसे नहीं मानता तो उसे सजा भी दी जा सकती है।

5.6.2 रणनीतियां

परमाणु युद्ध लड़ने अथवा इसे रोकने के लिए क्या रणनीतियां हैं? इस उद्देश्य से जिन रणनीतियों की पहचान की गई है, वे हैं– (i) न्यूनतम अवरोधन; (ii) विश्वसनीय आक्रमण की पहल ; तथा (iii) सुनिश्चित विनाश। कौन-सी रणनीति के कई रूप हो सकते हैं। किस रूप में यह रणनीति अपनाई जाए यह सम्बद्ध राष्ट्र की सक्षमता पर निर्भर करेंगे।

न्यूनतम अवरोधन (Minimum deterrence) की रणनीति से अभिप्राय है कि शत्रु के आम नागरिकों पर आक्रमण करने के लिए लघु रणनीतिगत परमाणु शक्ति को प्रयोग में लाया जाए। इस आक्रमण का उद्देश्य शत्रु को यह बताना होता है कि यदि वह आक्रमण की पहल करेगा तो उसे छोड़ा नही जाएगा। इसका अर्थ यह है कि देश पर आक्रमण होने की स्थिति में वापस जवाब देने की उसकी क्षमता होनी चाहिए। इसका अर्थ यह भी हुआ कि देश पर आक्रमण किए जाने की स्थिति में वह इतना सशक्त हो कि एक तो वह उस आक्रमण को झेल जाए और फिर वापसी आक्रमण के लिए उठ खड़ा हो। वापस आक्रमण करने की क्षमता ही न्यूनतम अवरोधन स्थिति बनने में अहम है।

आक्रमण की पहल (First strike) करने की सक्षमता के लिए बड़े रणनीतिगत बल की आवश्यकता होती है जोकि पहले आक्रमण में ही शत्रु की उल्लेखनीय क्षति कर दे और उसके अधिकांश रणनीतिक बलों को नष्ट कर दे। आक्रमण की पहल की उपयोगिता शत्रु को यह बताने में है कि किसी भी गंभीर उत्तेजनात्मक कार्रवाई के कारण ऐसा आक्रमण किया जाएगा कि उसके रणनीतिक बल नष्ट हो जाएंगे।

सुनिश्चित विनाश (Assured Destruction) की रणनीति इस अवधारणा पर आधारित हैं कि यदि शत्रु अपनी ओर से आक्रमण की पहल करता है तो दूसरा पक्ष इतना सशक्त होना चाहिए कि वह उस आक्रमण को झेलकर वापस ऐसा हमला करे कि शत्रु का नागरिक समाज नष्ट हो जाए। यह प्रतिशोधात्मक

NMDC-288

आक्रमण उपरोक्त न्यूनतम आक्रमण नहीं अपितु व्यापक रणनीति के तहत किया गया हमला होगा। अन्य शब्दों में, अचानक हुए हमले को झेलकर इतनी शक्ति जुटाना कि आक्रमणकारी को गम्भीर क्षति पहुंचाई जा सके।

अमेरिका का मानना था कि परमाणु हथियारों की संभावना की धमकियों के कारण अंत में कोरिया युद्ध समाप्त हो गया (अध्ययन के पूर्व भाग में कोरियाई युद्ध का विवरण देखें) और चीन बातचीत करने के स्तर पर आ गया। बाद में राष्ट्रपति आइज़नहॉवर (Eisenhower) ने सुरक्षा की समस्या के समाधान के लिए अवरोधक रणनीति अपनाई। 1954 में अमेरिका के जॉन फोस्टर डलेस (John Foster Dulles) ने **व्यापक प्रतिघात** का सिद्धान्त दिया। इस रणनीति का उद्देश्य सहनीय कीमत पर अवरोध को अधिकतम करना था। तर्क यह था कि स्थानीय प्रतिरक्षा व्यापक प्रतिशोध के पूर्ण अवरोधन द्वारा की जाए ताकि संभावित आक्रामक आक्रमण का मार्ग न चुन सकें। इस प्रकार से कोरिया जैसा परोक्ष युद्ध होने की स्थिति में अमेरिका, रूस अथवा चीन के विरूद्ध परमाणु हथियारों के प्रयोग द्वारा प्रतिघात लेगा।

परन्तु व्यापक प्रतिघात के सिद्धान्त के अनेक आलोचाक हुए हैं। सर्वाधिक अहम आलोचना यूरोपवासियों द्वारा की गई थी जिसमें अमेरिका के सोवियत संघ के प्रति व्यवहार की विश्वसनीयता पर ही प्रश्न चिह्न लगाया गया। क्या अमेरिका यूरोपीय क्षेत्र में स्थानीय संघर्ष होने की अवस्था में समग्र परमाणु युद्ध का जोखिम लेगा? इस विचारधारा के पनपने से मूल सिद्धान्त में संशोधन किया गया। यह संशोधन रोबर्ट मैकनमारा (Robert MacNamara) ने **सुनिश्चित विनाश, क्षति, सीमितता और लोचदार प्रतिक्रिया** की रणनीतियों के अंतर्गत किया।

व्यापक प्रतिघात की संकल्पना के सीमित विकल्प थे। मैकनमारा का मत था कि इसके अंतर्गत अन्य ठिकानों पर आक्रमण करने की योजना बनाना अनिवार्य था न कि शहरों पर जैसा कि व्यापक प्रतिघात में होता है। इसके अतिरिक्त आरम्भिक हमले के प्रति लोचदार प्रतिक्रिया व्यक्त करने की आवश्यकता थी जिसमें परम्परागत और परमाणु प्रतिघातक हमला होगा, न कि किसी सन्देहास्पद आक्रमण के विरूद्ध केवल व्यापक प्रतिघात। अमेरिका और रूस दोनों दूसरे हमले (प्रतिघातक) के लिए सक्षम थे परन्तु सुनिश्चित विनाश की रणनीति नहीं अपनाई गई। 1970 के दशक तक अमेरिका ने भी मान लिया था कि परमाणु क्षेत्र में वह सोवियत संघ से आगे नहीं था। इसी के उपरांत परमाणु हथियारों को सीमित करने की बात आई जिसका परिणाम स्ट्रेटिजिक आर्म्स लिमिटेशन टॉक्स (SALT) के रूप में सामने आया।

सोवियत परमाणु सिद्धान्त और रणनीति के तीन प्रमुख मूल संघटक थे:

क) राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक शक्ति का सामान्य संतुलन तथा समाज और आम नागरिकों की सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विशेषताओं पर आधारित रणनीति को महत्वपूर्ण निर्धारक माना जाएगा। यह सोवियत संघ की विचारधारा पर आधारित होगी। रणनीति तैयार करने मे लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव अथवा ब्रेझनेव द्वारा प्रतिपादित समाजवाद की अहम भूमिका होगी।

ख) सैनिक सिद्धान्तों और रणनीति के कुछ अपने नियम होंगे। सोवियत संघ का मानना था कि अमेरिकी नेतृत्व वाली नाटो (NATO) शक्तियों और सोवियत संघ के नेतृत्व वाली वारसा (Warsaw) शक्तियों के बीच युद्ध साम्राज्यवादियों और समाजवादियों के मध्य तीसरा और निर्णायक युद्ध होगा और यह युद्ध सोवियत संघ के लिए "न्यायसंगत" युद्ध होगा। सोवियत संघ इस युद्ध को आरम्भ नहीं करेगा और न ही एकाएक आक्रमण करेगा। दूसरी ओर क्रान्तिकारी आंदोलन और अन्य न्यायसंगत युद्धों को वह समर्थन देता रहेगा। सोवियत संघ के पास युद्ध अवरोधन की क्षमता थी परन्तु युद्ध

NMDC-288

को इतना अवश्यंभावी नहीं माना जा सकता। विशेषकर ख्रुश्चेव के शांतिपूर्ण तरीके से मिलकर चलने के विचारों ने युद्ध होने के संबंध में सोवियत सोच को ही बदलकर रख दिया। ख्रुश्चेव के अनुसार विश्व में परमाणु परिदृश्य के परिप्रेक्ष्य में कोई भी युद्ध दोनों पक्षों के लिए विनाशक होगा। तथापि, इसका अर्थ यह नहीं होगा कि सोवियत संघ समाजवाद के प्रचार के लिए कार्य न करे और रणनीति के लाभों को प्रयोग में न लाए।

ग) सोवियत संघ का मत था कि युद्ध का आरम्भ सोवियत संघ पर अचानक आक्रमण से होगा और यह लम्बे समय तक चलने वाला संघर्ष नहीं होगा। सोवियत संघ पहले से युद्ध तभी करेगा जब नाटो (NATO) के हमले की स्पष्ट चेतावनी हो या फिर वह प्रत्युत्तर में हमले की अपनी क्षमता पर विश्वास रखेगा परन्तु इनके लक्ष्य सैनिक केन्द्र अथवा संचार अड्डे होंगे न कि आम नागरिक। परमाणु धमकी की पृष्ठभूमि में सोवियत संघ परमाणु हथियारों को बढ़ाने और इनकी गुणवत्ता सुधारने के कार्य में जुटा रहेगा।

घ) सैनिक संतुलन के संबंध में सोवियत संघ का उद्देश्य मात्रात्मक और गुणात्मक "श्रेष्ठता" रहा है। साल्ट (SALT) वार्ता के उपरांत ही सोवियत संघ अमेरिका पर अपनी श्रेष्ठता की स्थिति की बात को छोड़ पाया।

परमाणु युद्ध के संबंध में अमेरिका और सोवियत संघ की विचारधारा और सिद्धान्तों में "विजय" के मुद्दे पर अंतर था। सोवियत संघ के लिए "विजय" का अर्थ सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति था। इससे अभिप्राय सोवियत संघ का कम से कम नुकसान, नाटो/अमेरिका की हार तथा युद्ध के बाद के विश्व पर वर्चस्व स्थापित करना था जबकि अमेरिका की दृष्टि से युद्ध का अर्थ यथास्थिति बनाए रखने से था। यह वैश्विक संतुलन को बनाए रखना चाहता था तथा विश्व में अमेरिका की श्रेष्ठता स्थापित करने के उपरांत अवरोधन की नीति के माध्यम से वैश्विक व्यवस्था कायम रखने के लिए कार्य करना चाहता था।

1983 के एक बहुचर्चित भाषण में अमरिकी राष्ट्रपति, रोनल्ड रीगन ने प्रश्न किया था : "क्या बदला लेने की अपेक्षा जीवन बचाना बेहतर नहीं है?" उन्होंने दीर्घावधि अनुसंधान कार्यक्रम की बात की ताकि अमेरिका आक्रामक रणनीतिक परमाणु अस्त्रों की धमकी समाप्त करने के उद्देश्य को प्राप्त कर सके। सोवियत संघ के परमाणु शक्ति बनने के बाद से दोनों पर आक्रमण की संभावना से पीड़ित रहे। आक्रमण की पहल के तर्क और प्रत्युत्तर में आक्रमण की क्षमता ने यह सुनिश्चित कर दिया था कि अवरोधन के माध्यम से स्थिरता लाई जा सकती है। अब अमेरिका की योजना नई प्रौद्योगिकियों पर आधारित उच्च तकनीक वाली अंतरिक्ष रक्षा क्षमता विकसित करके रूस के किसी संभावित प्रक्षेपास्त्र हमले से प्रतिरक्षा करने की थी। आक्रमणकारी परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को अप्रचलित होने के तरीके बताने के लिए वैज्ञानिक समुदाय को सम्बोधित करते हुए रीगन वास्तव में, परमाणु युग में सुरक्षा रणनीति के रूप में युद्ध अवरोध पर ही प्रश्न चिह्न लगा रहे थे। अमेरिका का नया मत था कि शत्रु को व्यापक क्षति पहुंचा सकने वाली प्रतिघात क्षमता की अपेक्षा प्रतिरक्षा क्षमता पर आधारित युद्ध अवरोधन बेहतर विकल्प था। इन अनुसंधान कार्यक्रम को रणनीतिगत रक्षा पहल (strategic Defence Initiative (SDI) और अन्य शब्दों में स्टार युद्ध कार्यक्रम (Star War Programme) कहा गया।

एस डी आई एक अनुसंधान कार्यक्रम था, जिसके के अंतर्गत अंतरिक्ष पर आधारित नई प्रतिरक्षात्मक प्रौद्योगिकियों की संभाव्यता का पता लगाया जाना था। नई प्रौद्योगिकियों का उद्देश्य रूसी प्रक्षेपास्त्रों की पहचान करना, पीछा करना और नष्ट करना था। प्रक्षेपास्त्रों के कार्यशील होने के समय पर ही उनकी पहचान की जा सकती थी। इसकी उड़ान के मार्ग पर पीछा किया जाएगा और इसके उड़ान भरने से

NMDC-288

लेकर अपने लक्ष्य तक पहुंचने के बीच कभी भी इसे नष्ट कर दिया जाएगा। पूरी प्रणाली अंतरिक्ष में स्थित पहचान प्रणालियों पर आधारित होगी और इसके लिए जो हथियार प्रयोग में लाए जाएंगे वे लेज़र किरणों, उच्च ऊर्जा कण किरणों, काइनेटिक ऊर्जा इत्यादि सहित अपरमाणु होंगे। यह कार्यक्रम बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र विरोधी संधि, 1972 (Anti Ballistic Missile Treaty,1972) से भी बेहतर कार्यक्रम था जिसमें अमेरिका तथा सोवियत संघ के कमांन और नियंत्रण केन्द्रों की एंटी बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र रक्षा प्रणाली से रक्षा की जाएगी। ए बी एम ने प्रत्येक देश में एक कमांड और नियंत्रण केन्द्र के लिए रक्षा प्रणाली विकसित करने की औपचारिक रूप से पहचान की जबकि एस डी आई (स्टार वार) का उद्देश्य पूरे राष्ट्र की रक्षा था।

सोवियत संघ ने अमेरिका के कार्यक्रम को गंभीरता से लिया और उसे यह लगने लगा कि अमेरिका इस क्षेत्र में 1950 के दशक का एकाधिकार पुनः प्राप्त करने का प्रयास कर रहा था। इस कार्यक्रम के प्रतिपादकों द्वारा प्रौद्योगिकीय विकास संबंधी दावे व्यावहारिक नहीं बन पाए जिसके परिणामस्वरूप कार्यक्रम का कार्यक्षेत्र और आकार कम किया गया। उसके बाद अमेरिका ने एस डी आई के अधीन थियेटर प्रक्षेपास्त्र रक्षा प्रणाली (Theatre Missile Defence System) तथा राष्ट्रीय प्रक्षेपास्त्र रक्षा प्रणाली (National Missile Defence system) विकसित कीं। पहली रक्षा प्रणाली विशिष्ट भू-राजनीतिक क्षेत्रों जैसे पश्चिमी यूरोप और अमेरिका और कनाडा की प्रमुख भूमि की रक्षा करने के लिए बनाई गई।

5.7 साराश

परमाणु अस्त्रों के निर्माण के लगभग 50 से अधिक वर्षों के बाद भी यह माना जा रहा था कि पहले से प्रयोग में लाए जा रहे हथियार पारम्परिक युद्ध को अप्रचलित बना देंगे, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। पारम्परिक युद्ध आज भी संघर्षों में अपना वर्चस्व बनाए हुए है तथापि दोनों महाशक्तियों के संदर्भ में परमाणु हथियारों ने दो विश्व युद्धों की प्रमुख विशेषता – समग्र युद्ध – की संकल्पना पर सीमाएं लगा दी हैं और इसी से ही "सीमित युद्ध" की संकल्पना ने जन्म लिया।

इस इकाई में परमाणु युद्ध में पारम्परिक युद्ध की स्थिति की समीक्षा की गई है। हमने देखा कि पारम्परिक युद्ध में भी प्रौद्योगिकीय परिवर्तन आए हैं। हम युद्ध प्रणाली की पूर्व पीढ़ियों से निकलकर चौथी पीढ़ी की युद्ध प्रणालियों में प्रवेश कर चुके हैं, जिसमें समग्र समाज ही युद्ध का मैदान है। इस चरण में केन्द्रीकृत तकनीकों तथा कम और प्रौद्योगिकीय दृष्टि से संवेदनशील सेनाओं के उपयोग पर निर्भरता कम हुई है। इस युद्ध प्रणाली का उद्देश्य शत्रु को युद्ध में पूरी तरह से पराजित करने की अपेक्षा की बजाय आंतरिक रूप से नष्ट करना है।

हमने परमाणु हथियारों की सोच, विशेषकर परमाणु रणनीति की संकल्पनाओं और तत्वों की समीक्षा की जिनके कारण परमाणु शस्त्रागार के अनुप्रयोग की विचित्र अवस्था का जन्म हुआ है। तथापि यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि नए परमाणु हथियार राज्यों के उदय और परमाणु क्षमता के बढ़ने के बावजूद परमाणु रणनीतिविद युद्ध के समय परमाणु हथियारों के उपयोग की प्रणाली पर आज भी चर्चा कर रहे हैं। अस्त्र प्रणाली के संबंध में आई आधुनिक समय की संवेदनशीलता का अर्थ यह है कि इन हथियारों का "युक्तिपूर्ण" उपयोग संभव है। हम भौगोलिक सीमाओं के संदर्भ में विनाश का कुछ सीमा तक सुनिश्चितता से पूर्वानुमान लगा सकते हैं तथापि इनके प्रयोग के प्रतिकूल प्रभावों के क्षेत्र का पता नहीं लगाया जा सकता। यदि अवरोधन विफल हो जाता है तो क्या होगा? परमाणु रणनीति का मूल असमंजस आज भी बना हुआ है – अवरोधन की विफलता के बाद अगले विकल्प के रूप में पारम्परिक युद्ध की ओर मुड़ना होगा न कि परमाणु हथियारों की ओर। अगली इकाई में हम द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उभरी युद्ध

प्रणाली की पूर्ण रूप से नई पद्धति का विश्लेषण करेंगे। यह युद्ध प्रणाली "आंतरिक सुरक्षा" के व्यापक क्षेत्र के अंतर्गत आती है और इसमें क्रान्तिकारी युद्ध, गृह युद्ध, विद्रोह तथा आधुनिक समय के असमानता के युद्ध और आतंकवाद को शामिल किया गया है।

5.8 अभ्यास प्रश्न

1) पारम्परिक युद्ध के विकास की व्याख्या कीजिए।

2) आन्द्रे बोफर (Andre Beaufre) के समग्र रणनीति के विकल्पों पर टिप्पणी कीजिए।

3) सीमित युद्ध क्या है? सीमित युद्ध कैसे बढ़ता है?

4) निम्नलिखित संकल्पनाओं की व्याख्या कीजिए–

   क) युद्ध अवरोधन (Deterrence)

   ख) सीमांतवर्तिता (Brinkmanship)

   ग) उत्पीडक कूटनीति **(coercive Diplomacy)** एवं बाध्यता (Compellence)।

5) 1945 के बाद की अमेरिका की परमाणु रणनीति पर टिप्पणी कीजिए।

6) सोवियत संघ परमाणु सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं क्या थीं?

इकाई 6 युद्ध के प्रकार एवं उपाय: क्रान्तिकारी युद्ध, गृह युद्ध, छापामार युद्ध, विद्रोह एवं प्रत्याद्रोह, असमान युद्ध एवं आतंकवाद, परोक्ष युद्ध

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 क्रान्तिकारी युद्ध

6.2.1 इतिहास

6.2.2 विशेषताएं

6.3 गृह युद्ध

6.3.1 अर्थ

6.3.2 कार्यात्मक एवं संरचनात्मक पहलू

6.4 विद्रोह एवं प्रत्याद्रोह

6.4.1 विद्रोह के प्रमुख रूप

6.5 छापामार युद्ध

6.6 असमान युद्ध एवं आतंकवाद

6.6.1 आतंकवाद

6.7 परोक्ष युद्ध

6.8 सारांश

6.9 अभ्यास प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

युद्ध के प्रकार विषय पर पूर्व इकाई में हमने "युद्ध" की चर्चा दो स्तरों पर की। पहले स्तर पर चर्चा राष्ट्र-राज्यों के संघर्ष से संबंधित है। जैसा कि सामान्यतया माना जाता है कि युद्ध "अन्तर्राष्ट्रीय" होता है और इसमें दो अथवा अधिक राष्ट्र अलग-अलग राष्ट्रीय हितों के मुद्दों पर लड़ते हैं। ये हित आदर्शों, सत्ता, क्षेत्र अथवा एक-दूसरे से संबंधित सामान्य अवधारणाओं से संबंधित हो सकते हैं। जबकि दूसरे स्तर पर चर्चा राष्ट्रों के भीतर संघर्षों पर केन्द्रित रहती है। इन संघर्षों के कारण सत्ताधारियों को पद से हटवाया जा सकता है अथवा किसी राष्ट्र में जनसाधारण के किसी भाग को जो अधिकार प्राप्त नहीं हैं, वे उपलब्ध करवाए जा सकते हैं। कुछ मामलों में आंतरिक संघर्षों को बाह्य शक्तियों का समर्थन मिलता है जबकि कई मामलों में ऐसा नहीं होता। सरकार अथवा शासन में परिवर्तन की दृष्टि से वे राष्ट्र-राज्य में परिवर्तन ला सकते हैं; विकेन्द्रीकरण के माध्यम से अधिक शक्तियां प्राप्त कर सकते हैं; अथवा वे आत्म-निर्णय के और नए राष्ट्र-राज्य की स्थापना के लिए लोगों का आह्वान कर सकते हैं। संक्षेप में, किसी एक अथवा सभी मामलों में, आंतरिक सुरक्षा की समस्या रहती है। हालांकि इनके विविध नाम हो सकते हैं – क्रान्तिकारी युद्ध, गृह युद्ध, छापामार युद्ध, विद्रोह, असमान युद्ध अथवा आतंकवाद।

NMDC-288

वर्गीकरण अथवा युद्ध की प्रणाली के अनुसार युद्ध के प्रकारों में अन्तर किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर "क्रान्तिकारी युद्ध" अथवा "गृह युद्ध" को पिछले कुछ वर्षों से इनके राजनीतिक उद्देश्यों की दृष्टि से वर्गीकृत किया जाता है। दूसरी ओर, छापामार युद्ध, आतंकवाद, कम सघनता के युद्ध, परोक्ष युद्ध को कुल मिलाकर व्यापक अर्थों में विद्रोह कहा जा सकता है। **विद्रोह** प्राथमिक रूप से राजनीतिक घटना है जिसमें हिंसा को "न्यायसंगत" माध्यम माना जाता है। हिंसा का माध्यम छापामार युद्ध, आतंकवाद अथवा कम सघनता के संघर्ष हो सकता है। हिंसा के इस प्रकार के माध्यमों से लड़े गए युद्ध को **असमान युद्ध** भी कहा जाता है। यह **असमान** इसलिए है क्योंकि युद्ध बिना "वास्तविक नियमों" के तथा दोनों पक्षों की सेना क्षमता में अन्तर होने के बावजूद लड़ा जाता है। योद्धा (combatants) और गैर-योद्धा (non-combatants) के बीच कोई भेद नहीं किया जाता। आतंकवाद के प्रयोग तथा इससे होने वाले विनाश के संबंध में कोई मूल्यांकन नहीं किया जाता। संघर्ष के माध्मम के रूप में **परोक्ष** युद्ध का अर्थ थोड़ा भिन्न है। इसका अप्रत्यक्ष राजनीतिक उद्देश्य होता है तथा इसे आम तौर पर किसी देश द्वारा राजनीतिक संघर्ष के लिए एक देश द्वारा दूसरे देश को अथवा दूसरे देश के विरुद्ध अप्रत्यक्ष सहायता से जोड़ा जाता है।

संघर्ष के गैर-परम्परागत रूप

क्रान्तिकारी युद्ध		**गृह युद्ध**
↓	**उद्देश्य**	↓
राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए राज्य के विरुद्ध		सत्ता बनाए रखने अथवा इसे हथियाने के लिए आंतरिक सामाजिक उथल-पुथल
युद्ध की प्रणालियों का विवरण		
राजनीतिक-सैनिक		राजनीतिक-सैनिक व सामाजिक

युद्ध की प्रणालियों का विवरण

असमान युद्ध/विद्रोह

परोक्ष युद्ध

युद्ध में अपनाए जाने वाले रूप

छापामार युद्ध, आतंकवाद, कम सघनता के संघर्ष

6.2 क्रान्तिकारी युद्ध

क्रान्तिकारी युद्ध की सरल परिभाषा यह है कि यह ऐसा युद्ध है जिसमें सेना के प्रयोग से राजनीतिक सत्ता हथियाने की कोशिश की जाती है। इस परिभाषा में राजनीतिक सत्ता हथियाने के कई आशय हैं। सर्वप्रथम, सोच-समझकर प्रचार किया गया राजनीतिक कार्यक्रम होता है जिसके अंतर्गत काफी बड़ी संख्या में लोग सत्तारूढ़ सरकार के विरुद्ध लड़ते हैं। शासक वर्ग के विरुद्ध लड़ने को इस भावना के साथ न्यायसंगत ठहराया जाता है कि अतीत में क्रान्ति का बिगुल बजाने वाला वर्ग वंचित रहा है अथवा हिंसा सहन करता रहा है। इसके अतिरिक्त, यह भी तर्क दिया जाता है कि चूँकि शान्तिपूर्ण ढंग से परिवर्तन नहीं लाया जा सका अतः लोगों ने हथियार उठाए हैं। यह संघर्ष आम तौर पर छोटा युद्ध नहीं अपितु दमनकारी शासन के विरुद्ध दीर्घावधि संघर्ष होता है। अधिकांश मामलों में संघर्ष के हिंसापूर्ण होने

NMDC-288

की संभावना होती है (यद्यपि सभी क्रान्तियां हिंसापूर्ण नहीं होतीं)। मूलतः संघर्ष के उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा प्रणाली की पूर्ण जानकारी होती है। इसका उद्देश्य अवश्य क्रान्तिकारी होना चाहिए क्योंकि यह मूल रूप से सत्ता की वर्तमान प्रणाली में मूल परिवर्तन लाने के संबंध में है।

क्रान्तियां समाज की राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था को हिलाकर रख देती हैं। लियोन ट्रॉटस्की (Leon Trotsky) ने एक बार यह तर्क दिया था कि विश्व में अंतिम क्रान्ति का कारण संभवतः कई पीढ़ियों तक चलने वाले कई छोटे और हिंसापूर्ण विद्रोह होंगे। अमेरिका में कोई आधुनिक राजनीतिक क्रान्ति नहीं हुई है जिसमें कि स्थापित सरकार का तख्ता पलट कर नए समाज की स्थापना की जाए (न कि केवल नई सरकार)। अमेरिकी क्रान्ति वास्तव में स्वतंत्रता की लड़ाई थी जिसने अमेरिका को स्वतंत्रता और नई सरकार दी परन्तु इससे अमेरिकी समाज में मूल रूप में कोई परिवर्तन नहीं आया। फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद से ही "क्रान्ति" शब्द को इसका आधुनिक अर्थ मिला। यह क्रान्ति न केवल गलत को ठीक करने के लिए थी अपितु यह समग्र सामाजिक परिवर्तन तथा नए समाज के पुनर्जन्म और नई राजनीति की भविष्यवाणी थी।

क्रान्तिकारी युद्ध मूलतः घरेलू स्तर पर होता है तथा दो राज्यों में युद्ध की भांति अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध नहीं होता। ऐतिहासिक दृष्टि से क्रान्तिकारी युद्ध, राष्ट्र-राज्यों के लम्बे जीवन में चलते रहे। इन युद्धों की अपनी विचारधारा, भ्रम और इतिहास होता है; साथ ही इनकी अपनी सफलताएं व विफलताएं भी हो सकती हैं। क्रान्तिकारी युद्ध के विफल होने पर इसे शासक वर्ग विद्रोह का नाम दे देता है जबकि सफल होने पर इसे स्वतंत्रता संघर्ष कहा जाता है। भारत में 1857 की घटना को ब्रिटिश वर्ग ने "गदर" का नाम दिया जबकि आज स्वतंत्र भारत के इतिहासविद् इसे स्वतंत्रता की पहली लड़ाई के रूप में देखते हैं। ये संघर्ष अक्सर चुपचाप चलाए जाते हैं अतः इनसे संबंधित आंकड़े उस समय के मौखिक इतिहास के अतिरिक्त अन्यत्र मौजूद नहीं हो पाते।

क्रान्तिकारी युद्धों में भाषा ने सदैव अहम भूमिका अदा की है। ऐसे युद्धों में विचारों की प्रस्तुति, जनता तक "क्रान्तिकारी विचारों" को पहुंचाने शासक वर्ग को निम्न बताने, घृणित पात्र सृजित करने इत्यादि प्रमुख भूमिका निभाते हैं। सहयोग प्राप्ति के लिए शब्दों का खेल खेला जाता है और इस प्रकार से सरकारी शक्तियां "व्यावसायिक शक्तियां"; "जनता की शक्तियां"; "कठपुतली सरकारें"; "फासीवादी" कहलाती हैं और आधुनिक समय में इन्हें "मौलिक मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वाला" कहा जाता है। इसके लिए किसी राजनीतिक अथवा सामान्य शब्दावली की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि भाषा अपनें आप में ही हथियार का काम करती है।

6.2.1 इतिहास

रणनीति अध्ययन करने वाले चीनी सैनिक-दार्शनिक सुन सु (Sun Tsu/Sun Wu) को ऐसे रणनीतिविज्ञों में अग्रणी मानते हैं जिन्होंने क्रान्तिकारी युद्ध के सिद्धान्त तैयार किए। सुन सु ने शत्रु पर नीतिगत ढंग से विजय पाने पर बल दिया न कि केवल शक्ति के बल पर। इसका अर्थ यह हुआ कि राजनीतिक, आर्थिक, कूटनीतिक और वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय गैर-सैनिक माध्यमों से शत्रु को झुका दिया जाए। इसी प्रकार का कार्य भारत में चाणक्य (कौटिल्य) द्वारा किया गया। सुन सु और चाणक्य दोनों ने युद्ध लड़ने की संकल्पनाएं प्रस्तुत कीं जिनमें युद्ध में सफलता के लिए अपनाई जाने वाली रणनीतियों पर ध्यान केन्द्रित किया गया था परन्तु ये रणनीतियाँ क्रान्तिकारी युद्ध की आधुनिक समय की संकल्पना संबंधी विश्लेषण का हिस्सा नहीं हैं जोकि राष्ट्र-राज्य में ही संघर्ष का एक रूप है।

1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति नियोजित अथवा षड्यंत्रकारियों के षड्यंत्र का हिस्सा नहीं थी अपितु यह आम जनता, विशेषकर किसानों द्वारा अचानक आरम्भ की गई। इसमें वे अधिक भूमि और कम बोझ की

NMDC-288

मांग कर रहे थे। साथ ही यह क्रांति उन शहरी लोगों का विरोध भी था जो गरीबी और निम्न स्तर के जीवन से तंग आ चुके थे। यह आंशिक रूप से मध्य वर्गों का संघर्ष था जिन्हें सामंती समाज ने राजनीतिक सत्ता से वंचित रखा था। क्रान्ति के समय में फ्रांस कोई गरीब देश नहीं था बल्कि यहां की सत्ता कुछेक अभिजात वर्ग के हाथों में थी। व्यापार और उद्योग फल-फूल रहे थे फिर भी एक बहुत बड़ा वर्ग वंचित था जिसे राजनीतिक सत्ता से दूर रखा गया था और जो अपनी भूख को शांत करना चाहता था। मध्य वर्ग की इस क्रान्ति ने फ्रांस को सामन्ती समाज का अंत करके, उसके स्थान पर पूंजीवादी समाज की स्थापना की।

1848 में पेरिस में क्रान्ति तब शुरू हुई जब सेनाओं ने प्रदर्शनकारियों की भीड़ पर गोलियां चलाईं। 1848 की क्रान्तियों में कालेज के छात्रों ने अहम भूमिका अदा की थी। बर्लिन में उन्होंने मार्गों पर बाधाओं (barricade) की देखभाल का कार्य संभाल लिया, और वियना में छात्रों ने श्रमिकों के अग्रणी बन कर साम्रज्यवादी ताकतों के विरुद्ध जंग छेड दी। फ्रांसीसी राजा लुई फिलिप (Louis Philippe) को देश निकाला देकर ब्रिटेन भेज दिया गया; आस्ट्रिया के राजकुमार मैटरनिक (Metternich) नष्ट होते हैब्सबर्ग साम्राज्य को छोडकर भाग गए; क्रोएशिया में राजा फ्रेडरिक विलियम (Fredrick William) को व्यापक सुधारों को लागू करने के लिए बाध्य किया गया; हंगरी, चेक, आस्ट्रिया के नागरिक क्रान्ति का बिगुल बजा चुके थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे सारा यूरोप एक हो गया हो जैसा कि फ्रांस के मामले में 1798 में हुआ था। तथापि, एक वर्ष के भीतर ही इन क्रान्तियों का दमन कर दिया गया। सेना ने क्रान्ति की लहर में शामिल होने से मना कर दिया परन्तु सबसे अहम बात यह थी कि नए श्रमिक वर्ग के बढ़ते हुए प्रभाव से शासक वर्ग भयभीत हो गए थे। इस श्रमिक वर्ग ने कई आंदोलनों में भाग लिया था। एक ओर जहां मध्य वर्ग नागरिक अधिकारों की मांग कर रहा था तो दूसरी ओर श्रमिक वर्ग समाज में कही अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहता था।

समाज में इस प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तनों का ही कार्ल मार्क्स ने समर्थन किया है। 1871 के पेरिस कम्यून में मार्क्स का श्रमजीवी वर्ग क्रान्तिकारी वर्ग के रूप में उभरा। पेरिस के निवासियों ने इस संबंध में पहला कदम यह घोषणा करके उठाया कि वे शेष फ्रांस से स्वतंत्र थे। इस प्रकार से देश-भर में एक शहर का हावी होना क्रान्तिकारियों के लिए अटपटी बात थी। फ्रांसीसी राष्ट्रवादी सरकार द्वारा की गई तीव्र और निर्णायक सैनिक कार्रवाई के कारण 25000 से अधिक लोगों की जान चली गईं। सशस्त्र लोगों के भय के कारण शासक वर्ग ने उन्हें शस्त्रविहीन करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कोई समझौता हो नहीं सकता था। फिर भी पेरिस कम्यून की यादें अमिट रहीं। क़ार्ल मार्क्स ने इस संबंध में अपने पत्रों में लिखा था कि "अपने कम्यून सहित, श्रमिक वर्ग का पेरिस सदैव नए समाज के अग्रदूत के रूप में याद किया जाएगा"।

अंत में रूस में श्रमजीवी वर्ग को कम्यून का वचन लगभग 40 साल बाद पूरा करने में सफलता प्राप्त हुई। 1917 की रूसी क्रान्ति सहज रूप में राजा तथा सामंतवादी साम्राज्य के विरुद्ध शहरी क्रान्ति थी क्योंकि इस साम्राज्य का अपने कार्यों तथा प्रथम विश्व युद्ध के बाद पतन हो चुका था। फिर भी लेनिन यह जानते थे कि अभिजात वर्ग के नेतृत्व के बिना श्रमजीवी वर्ग विजय नहीं प्राप्त कर सकता था। यह सत्य है कि बोल्शेविक पार्टी (Bolshevik Party) ने उन्हें सत्ता दिलाई थी न कि श्रमजीवी वर्ग ने जिसको विजय का स्वाद चखने को मिला।

इसके बाद 1949 में चीन में साम्यवादियों की विजय तथा माओ-से-तुंग (Mao-Tse-tung) (Mao Zedong) के लेखों ने आधुनिक समय में क्रान्तिकारी युद्ध की संकल्पना को समकालीन संदर्भ दिया। माओ-से-तुंग ने यह माना कि चीन के कृषक समाज में केवल श्रमजीवी क्रान्ति का मार्क्सवादी दृष्टिकोण सफल नहीं हो सकता था, अतः उन्होंने क्रान्ति में प्रमुख सहयोग देने के लिए कृषक वर्ग का समर्थन मांगा।

क्रान्तिकारी युद्ध का चीनी सिद्धान्त कृषकों के आसपास छापामार युद्ध पर आधारित था। कृषक वर्ग का सहयोग प्राप्त करना राजनीतिक कार्य था न कि सैनिक। और सैनिक चिंता की अपेक्षा राजनीतिक चिंता को प्राथमिकता देना माओ के विचारों की प्रमुख अभिव्यक्ति थी।

माओ के विचारों में सेना की भूमिका लोगों का राजनीतिकरण करने के अतिरिक्त उन पर विश्वास करने की हो गई थी। चूंकि शहरों में प्रतिक्रियावादी और साम्राज्यवादी मौजूद थे, अतः गांवों में आधार तैयार करना अनिवार्य था ताकि देश का नियंत्रण अपने हाथ में लेने के लिए नीतिगत कार्य के रूप में माध्यम उपलब्ध हो सके। माओ का अधिक विश्वास गांवों और क्षेत्रीय ताकतों पर था न कि सैनिक तकनीक पर, युद्ध पर था न कि केवल राजनीतिक कार्रवाई पर। उसके विचार में राजनीतिक शक्ति बन्दूक की गोली से निकलती है। माओ का यह भी विश्वास था कि क्रान्तिकारी नेता को ज्ञान, बुद्धि, लालसा और अनुशासन को मिलाकर एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करना चाहिए। सिद्धान्त और व्यवहार में कोई भेद नहीं रह गया था। क्रान्तिकारी रणनीति के सिद्धांत बनाना भी अपने आप में क्रान्ति का हिस्सा था।

6.2.2 विशेषताएं

क्रान्तिकारी युद्ध की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएं मानी जा सकती हैं:

1) **राजनीतिक विशेषताएं:** क्रान्तिकारी युद्ध कुछ विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लड़ा जाता है और इसमें राजनीतिक नेतृत्व केन्द्र बिन्दु होता है। यद्यपि क्रान्तिकारी युद्ध का सैनिक पक्ष भी महत्वपूर्ण है तथापि यह राजनीतिक नियंत्रण में होता है। क्रान्तिकारी युद्ध के साथ-साथ राजनीतिक कार्यकलापों के माध्यम से लोगों के साथ सम्पर्क बनाए रखा जा सकता है क्योंकि जनसाधारण ही अधिकांशतः क्रान्तियों का मूल आधार होते हैं।

2) **सैनिक विशेषताएं:** छापामार युद्ध क्रान्तिकारी युद्ध का प्रमुख भाग है। चूंकि क्रान्तिकारियों को राज्य की शक्ति का सामना करना होता है अतः वे राज्य के साथ प्रत्यक्ष रूप से नहीं टकरा सकते। क्रान्तिकारी युद्ध के रणनीतिविदों के लिए समय की आवश्यकता के अनुसार भू-सीमाओं का युक्तिपूर्ण उपयोग करना होता है। वह समय की पुकार के अनुसार अपनी रणनीति तैयार करना क्रांतिकारी युद्ध के लिए आवश्यक होता है।

3) **सामाजिक-आर्थिक विशेषताएं:** क्रान्तिकारी युद्ध सदैव वास्तविक अथवा अनुभव किए गए अन्याय के विरुद्ध लड़े जाते हैं। संघर्ष के उद्देश्य इस प्रकार से तैयार करने के प्रयास किए जाते हैं जिनसे एक तो शोषित समाज को लाभ पहुंचे और दूसरे राज्य द्वारा लगाए गए बोझ से समाज को राहत का अनुभव हो। सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र ही तार्किक दृष्टि से मुख्य लक्ष्य क्षेत्र होता है। उस क्षेत्र में अनेक वादे किए जा सकते हैं।

4) **वैचारिक विशेषताएं:** विचारधारा क्रान्तिकारी युद्ध का प्रमुख आधार होती है। इससे लोगों को शामिल करने तथा दीर्घावधि संघर्ष में रुचि बनाए रखने का तर्क मिलता है। विचारधारा जोखिम उठाने के कार्य में जनसाधारण को एक सूत्र में बांध कर रखती है, तथा जोखिम उठाने की प्रेरणा देती है। वैसे कई बार ये घातक भी हो सकती हैं।

5) **मनोवैज्ञानिक विशेषताएं:** क्रान्तिकारी युद्ध लोगों के मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। अतः यह लोगों के मस्तिक से संबंधित संघर्ष है जिसके लिए सामान्यतया प्रचार का माध्यम अपनाया जाता है। एक अन्य स्तर पर क्रांतिकारियों की प्रतिबद्धता है, जोकि दीर्घकालीन संघर्ष से तथा इसकी संभावित असफलता से चिंतित रहते हैं।

6.3 गृह युद्ध

6.3.1 अर्थ

गृह युद्ध में सामाजिक संघर्ष होता है जोकि किसी देश के भीतर दो समूहों के बीच लड़ा जाता है। इसका उद्देश्य शक्ति और शासन को बनाए रखना और इस प्रकार से स्थापित सरकार को वैधता प्रदान करना है। दूसरा पक्ष जिनके पास सत्ता है उनको इससे वंचित कर, स्वयं सत्ता में आना होता है। सत्ता में बने रहने अथवा हथियाने के लिए मूलतः कानून से बाहर के माध्यम अपनाए जाते हैं क्योंकि हिंसा संघर्ष का प्रमुख तत्व है। यह "गृह" इसलिए है क्योंकि यह समाज के अन्दर लड़ा जाता है और भावी समाज से संबंधित होता है। यह कोई अंतर्राष्ट्रीय युद्ध नहीं होता और न ही इसमें दो अथवा अधिक राष्ट्र-राज्य शामिल होते हैं।

गृह युद्ध अचानक उभरा युद्ध हो सकता है, अथवा सोचा-समझा नियोजित युद्ध भी हो सकता होता है। कई देशों में, जहां राजनीतिक प्रणालियां अस्थिर हैं, सहज विद्रोह से सरकारों का तख्ता-पलट किया जा सकता है जिसके कारण उत्पन्न हुए सत्ता शून्य को एक अथवा अन्य समूह भर सकते हैं और युद्ध कई वर्षों तक चल सकता है। दूसरी ओर, नियोजित गृह युद्ध प्रणालीगत संघर्ष होता है जो पूर्णतः सोचा-समझा होता है।

नियोजित गृह युद्ध क्यों होते हैं? इसके दो कारण बताए गए हैं जिनमें यह माना जाता है कि युद्ध का अंतिम उद्देश्य सरकार में परिवर्तन लाना, अधिकार प्राप्ति (न केवल सत्ता) तथा वैधता प्राप्त करना होता है। ये कारण हो सकते हैं:

क) शासन की मौजूदा प्रणाली में शिकायतों को दूर करने के सामान्य और प्रभावी तरीके नहीं होते। ऐसा भी संभव है कि शिकायत व्यक्त करने को सत्ता के विरुद्ध अथवा विरोध के रूप में देखा जाए और उसका बल से दमन कर दिया जाए।

ख) लोगों के मन में धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से यह बात घर कर जाती है कि अपनी शिकायतें दूर करवाने के लिए उन्हें हिंसा का रास्ता अपनाना पड़ेगा क्योंकि सभी शान्तिपूर्ण तरीके विफल हो चुके होते हैं।

6.3.2 कार्यात्मक एवं संरचनात्मक पहलू

दीर्घावधि नियोजित गृह युद्ध के कार्यात्मक विकास में तीन चरणों की पहचान की गई है। ये चरण गृह युद्ध की योजना बनाने अथवा कार्यान्वयन करने या पहले से मौजूद हिंसा के बढ़ने के संदर्भ में विविध चरण हैं।

पहला चरण प्रतिरोधिता आंदोलन (resistance movement) की संरचना तैयार करने का है जिसमें हिंसा की घटनाएं इक्का-दुक्का तथा असमन्वित होती हैं। प्रतिरोधिता की संरचना तैयार करने में कई कारक उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार की संरचना आम तौर पर गुप्त होती है। शहरी अथवा ग्रामीण स्तर पर इसे क्रियान्वित किया जाए, इसके लिए जनसंख्या का घनत्व तथा वितरण प्रमुख विचारणीय मुद्दा रहता है। लोगों का नृजातीय संघटन जनसंख्या संबंधी एक अन्य मुद्दा है। रीति-रिवाज़ तथा परम्पराएं समुदाय के लिए सहयोग आधार का निर्धारण करती हैं। जनसंख्या के साथ-साथ देश की भौगोलिक परिस्थितियां भी कार्य प्रणाली की योजना बनाने में सहायक रहती हैं।

NMDC-288

इन मुद्दों के आधार पर संरचनात्मक तत्व इस प्रकार होंगे – नागरिक नेतृत्व; सैनिक मुख्यालय; बुद्धि; संचार; प्रचार; काडर (cadre); तकनीकी सहयोग; हथियार (छापामार) तथा सेवाएं उपलब्धकर्त्ता जैसे – चिकित्सा सुविधाएं, प्रलेखन इत्यादि। कमान संरचना का केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण भी विचारणीय मुद्दा है। उदाहरण के तौर पर श्रीलंका में एल टी टी ई (LTTE) की अपेक्षाकृत सुविकसित केन्द्रीकृत कमान है।

इसके दूसरे चरण में हिंसा का प्रयोग होता है। संरचना सुरक्षित रहती है और गोपनीय आंदोलन चलाए जाते हैं तथा तोड़-फोड़ शुरू हो जाती है। इनके लक्ष्य आम तौर पर राज्य के अधिकार का प्रतिनिधित्व करने वाले केन्द्र होते हैं जैसे संचार केन्द्र, पुलिस स्टेशन, सरकारी कार्यालय इत्यादि। युद्धकर्त्ताओं द्वारा प्रयोग में लाई गई तकनीकें सामान्यतया सैनिक कार्रवाई की भांति संगठित होती है और भय उत्पन्न करने के तरीके में सबसे अधिक ध्यान जनता की प्रतिक्रिया पर रखा जाता है। भय के चयनित प्रयोग और राज्य द्वारा की जा रही विरोधी-विद्रोह कार्रवाई को समझने की आवश्यकता है। युद्धकर्त्ताओं को सबसे बड़ा समर्थन जनता से मिलता है और यदि वे इस समर्थन को खो देते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे युद्ध हार गए। अतः क्रान्तिकारियों अथवा विद्रोहकारियों को यह सुनिश्चित करना होता है कि लोग राज्य के विरुद्ध खड़े हो जाएं न कि क्रान्तिकारियों के विरुद्ध। आधुनिक समय में अधिकांश विद्रोह कार्रवाइयों में राज्य तंत्र को लक्ष्य बनाने के लिए मानवाधिकारों के हनन को हथियार बनाया गया है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहानुभूति प्राप्त करने में सफल हुए है। यदि वे राज्य द्वारा वास्तविक अथवा काल्पनिक मानवाधिकार उल्लंघन की बात करते हैं तो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति मिलती है। कश्मीर तथा उत्तर-पूर्व में विद्रोह कार्यकलाप के कई ऐसे उदाहरण है जहां आतंकवादियों ने संगठनों में मानवाधिकारों के आह्वान का दुरुपयोग किया है।

तीसरा चरण सबसे मुख्य एवं महत्वपूर्ण चरण है जिसमें विद्रोह खुलकर सामने आ जाता है। सत्ता प्राप्त करने के लिए यह अंतिम चरण होता है तथा इसे सार्वजनिक कर दिया जाता है। गृह युद्ध का अंत सफलता के रूप में अर्थात सरकार को अपदस्थ कर शासन का नियंत्रण हाथ में लेकर, अथवा विफलता में अर्थात बदले में नष्ट होकर हो सकता है। हालांकि सफलता के बाद की समस्याएं कायम रहती हैं क्योंकि जिस क्रान्तिकारी उत्साह से संघर्ष चला जाता है उससे राज्य की भावी सरकार चलाने में सहायता नहीं मिलती क्योंकि सरकार चलाना संघर्ष करने से बिल्कुल भिन्न है।

दक्षिण एशिया में पूर्वी पाकिस्तान के गृह युद्ध के परिणामस्वरूप औपचारिक युद्ध हो गया, और मुक्तिवाहिनी को सत्ता प्राप्त करने में सफलता मिली और स्वतंत्र बांग्लादेश की सरकार बन सकी। श्रीलंका का मौजूदा संकट भी गृह युद्ध है जिसमें तमिलों द्वारा लिट्टे के साथ मिलकर संघर्ष चलाया जा रहा है।

6.4 विद्रोह एवं प्रत्यादोह (INSURGENCY AND COUNTER-INSURGENCY)

विद्रोह की परिभाषा लोगों को राज्य के मौजूदा प्राधिकार में सक्रिय रूप सहयोग करने अथवा समर्थन व्यक्त करने से इनकार से है। इसमें स्थापित वैधानिक मानदण्डों के माध्यम से लोकतांत्रिक विरोध के मानदण्डों की सीमा समाप्त हो जाती है। यह एक संगठित आंदोलन होता है जिसका उद्देश्य विध्वंस अथवा सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से संवैधानिक सरकार का तख्ता पलट करना होता है। विद्रोह एक गतिविधि है जो कई बार निष्क्रिय प्रतीत होती है, परन्तु विद्रोह का अर्थ "सक्रिय विद्रोह" से है। आम तौर पर इसमें गैर कानूनी गतिविधियों से सरकार की नीतियां, उसके कार्मिक अथवा सरकारी तंत्र को

NMDC-288

बदलने का प्रयास किया जाता है। विद्रोह राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के बीच की स्थिति है। यदि क्लोजविट्ज (Clausewitz) ने युद्ध को "अन्य माध्यमों द्वारा कूटनीति" बताया है तो इसी तरह से विद्रोह निश्चित रूप से "अन्य माध्यमों द्वारा राजनीति" है।

6.4.1 विद्रोह के प्रमुख रूप

अहिंसक प्रतिरोधः अहिंसा का प्रयोग किसी सरकार को लोकप्रिय समर्थन और शासन चलाने के लिए आवश्यक वैधता की भावना से वंचित करने के लिए किया जाता है। "निष्क्रिय विरोध" कहे जाने के बावजूद सरकार को सत्ता से वंचित रखने के लिए विद्रोहपूर्ण युद्ध छेड़ने का यह सक्रिय तरीका है, न कि निष्क्रिय। अहिंसक आक्रमणों का आम तौर पर पुलिस और सेना लक्ष्य रहते हैं। इस प्रकार के युद्ध का उद्देश्य सदैव सरकार के समग्र ढांचे और नीतियों में व्यापक परिवर्तन लाना नहीं होता। यह एक प्रकार से लोगों के असंतोष का प्रदर्शन है जिसमें वे यह बताना चाहते हैं कि परिवर्तन की आवश्यकता है परन्तु इसके लिए वे समझौता भी कर सकते हैं।

अहिंसा के तरीकों में कुछ इस प्रकार हैं – अहिंसक विरोध, अहिंसक असहयोग तथा अहिंसक हस्तक्षेप। अहिंसक विरोध एक प्रकार से प्रतीकात्मक कार्रवाई है जिसमें विद्रोह प्रदर्शन के लिए विरोध-मार्च और प्रदर्शन के तरीके अपनाए जाते हैं। इसका उद्देश्य सत्तारूढ़ पक्ष के मन में लोगों के असंतोष की भावना के प्रति जागरूकता लाना है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान महात्मा गांधी के नेतृत्व में अहिंसा को बेहतरीन ढंग से अपनाया गया। हड़तालें और काम करने के स्थान पर कम काम करना इसके कुछ माध्यम हैं। अहिंसक हस्तक्षेप में उपवास, धरने, रास्ता रोकना और यहां तक कि भवनों अथवा प्रतिबंधित क्षेत्रें में जबरन प्रवेश और नई समानान्तर सरकारों का गठन शामिल है। इसमें सीधे तौर पर सरकार को चुनौती दी जाती है। अहिंसा के इस रूप की सबसे अहम शर्त यह है कि विरोधियों द्वारा हिंसा का प्रयोग करने के बावजूद अहिंसा के मार्ग पर डटे रहना।

अहिंसक विद्रोह के कई प्रचलित उदाहरण हैं – महात्मा गांधी का ब्रिटिश सरकार का विरोध; अमेरिका में नागरिक अधिकार मार्च; अमेरिकी उपनिवेशवादियों द्वारा इंग्लैण्ड से वस्तुए खरीदने से इनकार और इसका हाल ही का शानदार उदाहरण 1968 में रूसी सैनिक कार्रवाई के विरुद्ध चेक लोगों की प्रतिक्रिया थी।

शासन परिवर्तन (तख्ता पलट): शासन परिवर्तन क्रान्ति से भिन्न है क्योंकि इसमें देश की सत्ता के आधार का विध्वंस नहीं किया जाता और आम तौर पर यहां तक कि किसी प्रकार का नुकसान भी नहीं पहुंचाया जाता। यह सामान्यतया सेना द्वारा नागरिक अधिकार अपने हाथ में लेने के रूप में होता है। इसके अंतर्गत समाज में सत्ता तंत्र के एक समूह के हाथ से निकलकर उसी ढांचे के दूसरे समूह के हाथ में चली जाती है। कई विद्वानों ने इसे परिभाषित करने के लिए सैमुअल हंटिंगटन (Samuel Huntington) की औपनिवेशकोत्तर राज्यों में राजनीतिक व्यवस्था की संकल्पना को प्रयोग में लाया है। इसके अंतर्गत प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि निर्धनता, नृजातीय, क्षेत्रीय और भाषायी विवाद इत्यादि से अपने आप में अस्थिरता नहीं आती। सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के कारण, अल्प संसाधनों के कारण उत्पन्न हुए संघर्ष को प्रणाली झेल नहीं पाती। राज्य और समाज के बीच यही भेद सैनिक शासन का मूल कारण है या यहां तक कि बहाना भी बन जाता है।

छापामार युद्धः छापामार युद्ध के अंतर्गत प्रमुखतः स्थानीय ताकतों द्वारा शत्रु के अधिकार वाले क्षेत्रों में चलाई गई युद्ध कार्रवाई आती है जिसमें सैनिक अथवा अर्द्ध-सैनिक तरीके अपनाए जाते हैं और

NMDC-288

इसका उद्देश्य युद्ध के प्रभाव, औद्योगिक क्षमता और शत्रु के उत्साह में कमी लाना है (इसका विस्तृत विवरण पाठ्यक्रम के अन्य भाग में दिया गया है)।

आतंकवादः आतंकवाद की परिभाषा समाज में भय उत्पन्न करने के उद्देश्य से हिंसा के उप-राज्य प्रयोग अथवा हिंसा को प्रयोग में लाने की धमकी के रूप में दी जा सकती है। अमेरिका के विदेश विभाग ने आतंकवाद को "उप-राष्ट्रीय समूहों अथवा गुप्त एजेन्टों द्वारा गैर युद्ध लक्ष्यों के विरुद्ध पूर्व नियोजित, राजनीतिक रूप से प्रेरित हिंसा के रूप में परिभाषित किया है जिसका आम तौर पर उद्देश्य लोगों को प्रभावित करना होता है" (इसका विस्तृत विवरण पाठ्यक्रम के अन्य भाग में दिया गया है)।

क्रान्तिः क्रान्तियां समाज की राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था को हिलाकर रख देती हैं। ये गलत व्यवस्था को ठीक करने के लिए चलाई जाती हैं और समाज में समग्र परिवर्तन के लिए तथा नए समाज के पुनर्जन्म व इसके साथ नई राजनीति की स्थापना का भविष्य सूचक कार्यक्रम होती हैं (इसका विस्तृत विवरण पाठ्यक्रम के अन्य भाग में दिया गया है)।

गृह युद्धः गृह युद्ध एक सामाजिक संघर्ष है जो देश के भीतर चलता है। इसका उद्देश्य सत्ता तथा अधिकार को बनाए रखना और इस प्रकार से शासन को वैधता प्रदान करना अथवा सत्ता हथियाना है (इसका विस्तृत विवरण पाठ्यक्रम के अन्य भाग में दिया गया है)।

प्रमुख रूप से चार प्रकार के विद्रोह समूह होते हैं – प्रथम, *शासन के वफादार लोग* जो पुराने शासन में सैनिक और सुरक्षा बल का हिस्सा हैं और जो वर्तमान शासन का विरोध करते हैं। दूसरे, *अप्रभावित नागरिक हैं* जोकि अप्रशिक्षित, नेतृत्व रहित, अधिकांशतः दोषी और अपराधी होते हैं जो पैसे के लिए और गैर-कानूनी लाभ उठाने की प्रत्याशा से कुछ भी कर सकते हैं और जिन्हें देश की व्यवस्था पर वास्तव में गुस्सा आ सकता है अथवा नहीं आ सकता। तीसरे प्रकार के लोग *आतंकवादी* होते हैं जोकि पहले से ही देश में कार्यशील होते हैं अथवा जो व्यवस्था बदलने के उपरांत देश में आए। अंत में, *विदेशी योद्धा* होते हैं जोकि या तो भाड़े के सिपाही होते हैं अथवा किसी सिद्धान्त (धार्मिक अथवा अन्य) द्वारा प्रभावित योद्धा होते हैं।

विद्रोह ऐसा विरोध आन्दोलन होता है जिसका उद्देश्य संवैधानिक सरकार को चुनौती देना होता है। विद्रोह को अराजकता, भीड़ की हिंसा, सामाजिक व्यवस्था के चरमराने और मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल की मौजूदा अवस्थाओं से लाभ मिलता है, नेताओं को इस बात से मान-सम्मान मिलता है कि वे कितनी जल्दी लोगों को कुछ करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं और अधिकांश समूह सामूहिक नेतृत्व को प्रयोग में लाते हैं क्योंकि अकेला नेता होने पर और उसके मारे जाने पर आन्दोलन समाप्त हो सकता है। इस प्रकार का आन्दोलन किसी लोकप्रिय सिद्धान्त पर आधारित होता है। विद्रोह और प्रति-विद्रोह गैर-परम्परागत प्रणाली के गैर-बराबरी युद्ध होते हैं। विद्रोही अधिकांशतः अपने सीमित संसाधनों से लड़ रहे होते हैं जबकि प्रति-विद्रोही उनके प्रयासों को विफल बनाने के लिए लड़ जाते हैं तथापि दोनों पक्ष जनता के मन-मस्तिष्क में स्थान प्राप्त करने के लिए लड़ रहे होते हैं। इस प्रकार से दोनों ही पक्ष मनोवैज्ञानिक युद्ध कर रहे होते हैं। मनोवैज्ञानिक युद्ध अभियान ऐसा युद्ध है जो मस्तिष्क के द्वारा और मस्तिष्क के लिए लड़ा जाता है और इसमें संचार के विभिन्न माध्यम उपयोग में लाए जाते हैं जैसे टेलीविज़न, रेडियो, लाउडस्पीकर, पर्चे छपवाना, समाचार पत्र, पुस्तकें, पत्रिकाएं और पोस्टर ताकि लोगों को संदेश दिया जा सके जिससे कि सत्ताधारी लोगों के उद्देश्यों के प्रति विश्वास बना रहे।

प्रति-विद्रोह कार्रवाई का उद्देश्य वर्तमान सरकार अथवा सेना का विद्रोह रोकना होता है और कई बार यह कार्रवाई दोनों पक्षों को युद्ध विराम अथवा निरस्त्रीकरण और कुछ सीमा तक नागरिक कानून और

व्यवस्था बहाल करने पर सहमत करवाने में सहायता करती है। प्रति-विद्रोह कार्रवाई परम्परागत युद्ध और अन्य कार्रवाई से भिन्न होती है। इस मामले में यह एक प्रकार से शान्ति स्थापना और राष्ट्र के पुनर्निर्माण जैसी कार्रवाई होती है। इसमें सेना और पुलिस बल तथा नागरिक अधिकारियों द्वारा बातचीत और विवाद का सुलझाना, दोनों ही कार्यकलाप शामिल होते हैं।

परम्परागत युद्ध और प्रति-विद्रोही युद्ध के बीच अन्तर

	परम्परागत युद्ध	प्रति-विद्रोही युद्ध
उद्देश्य	शत्रु की हार	राष्ट्रीय सुरक्षा तथा विकास
लक्ष्य	शत्रु की सेनाएं	वैधता
माध्यम	पुलिस अथवा सशस्त्र बल	पुलिस बल, सशस्त्र बल अथवा राजनीतिक पहल
तरीका	युद्ध	विद्रोह को तोड़ने के लिए सशस्त्र बलों का प्रति विद्रोह के रूप में सीमित प्रयोग। सामाजिक-आर्थिक स्तर पर विकासात्मक कार्यक्रमों की पहल; औद्योगिकीकरण; तथा प्रतिनिधित्व वाली राजनीतिक प्रणाली का आरम्भ।
प्रयोग में लाए गए तरीके की प्रकृति	बल प्रयोग	मनोवैज्ञानिक; राजनीतिक एवं बल प्रयोग भी
नियोजन	परम्परागत	नया एवं प्रवर्तित नियोजन
अभियान के क्षेत्र	संघर्ष/युद्ध का भू-राजनीतिक क्षेत्र	भू-राजनीतिक; राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र

6.5 छापामार युद्ध

हालांकि छापामार अभियानों में राजनीतिक क्रान्ति की संभावना रहती है। किंतु आवश्यक नहीं कि इनमें क्रान्तिकारी राजनीतिक उद्देश्य हो। अमेरिकी सेना ने छापामार युद्ध को इस प्रकार से परिभाषित किया है "छापामार युद्ध के अंतर्गत प्रमुखतः स्थानीय ताकतों द्वारा शत्रु के अधिकार वाले क्षेत्रों में चलाई गई युद्ध कार्रवाई आती है जिसमें सैनिक अथवा अर्द्ध सैनिक तरीके अपनाए जा सकते हैं और इसका उद्देश्य युद्ध के प्रभाव, औद्योगिक क्षमता और शत्रु के उत्साह में कमी लाना है। छापामार अभियान अपेक्षाकृत छोटे समूहों द्वारा चलाए जाते हैं जोकि अपराधिक प्रवृत्ति अपनाते हैं।"

छापामार युद्ध वैध सरकारी और सैनिक तंत्र को निशाना बनाते हैं। छापामार तरीकों में आक्रमण करना और भाग जाना, आमने-सामने की लड़ाई से बचना, पहाड़ियों अथवा जंगलों या लोगों में छुपकर शत्रु से बचना शामिल है। ये क्रान्ति युद्ध के आयोजन के सरल तरीके हैं। छापामार युद्धों का लक्ष्य आम नागरिक नहीं, अपितु सेना या पुलिस होते हैं। छापामार अभियानों की इस प्रकार की प्रवृत्ति के द्वारा उन्हें अपने कार्यकलाप चलाने के लिए महत्वपूर्ण लोकप्रिय सहयोग पर विश्वास करना पड़ता है।

मानवशक्ति तथा उपकरणों की कमी की पूर्ति वे भागते रह कर, छिपे रह कर तथा अचानक आक्रमण द्वारा करते हैं और वे सामान्यतया युद्ध के मान्यता-प्राप्त नियमों का अनुपालन करते है। इसके द्वारा वे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि उन्हें सिपाहियों की तरह समझा जाता है न कि अपराधियों की तरह। युद्ध के हाल ही के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अंतर्गत छापामारों को जिम्मेदार कमांडर होना चाहिए जो अपने अधीनस्थ छापामारों के आचरण के प्रति जवाबदेह होगा और इनके अभियान युद्ध प्रणाली की परम्पराओं और नियमों के अनुसार होने चाहिए।

छापामारों के पास बहुत थोड़ा भू-क्षेत्र होता है अथवा कोई भी भूभाग नहीं होता। वे तब और वहां आक्रमण करते हैं जहां और जब उन्हें लगता है कि विपक्ष अपने सबसे कमजोर स्तर पर है और शत्रु को शक्ति मिलने पर वे वहां से भाग जाते हैं। उन्हें अपने सम्बद्ध प्रदेश के लोगों से अधिकतम सहयोग मिलता है, चाहे उन्हें बाह्य सहायता भी कुछ हद तक प्राप्त हो सकती है।

माओ-से-तुंग (Mao Tse Tung) ने तर्क दिया था कि छापामार मछलियों की भांति होते हैं और उन्हें जिन्दा रहने के लिए लोगों के सहयोग रूपी पानी की आवश्यकता होती है। उन्होंने छापामार युद्ध के लिए तीऩ चरणों का उल्लेख किया है। पहले चरण में वे संगठन, जीते प्रदेश में स्वयं को सशक्त बनाने और अपनी सुरक्षा पर बल देते हैं। यह चरण तब संभव है जब आधारभूत ढांचा विकसित होता है; प्रचार, उत्साहवर्धन और प्रशिक्षण के लिए छोटे पैमाने पर आक्रमण करके भागने (Hit and Run) का तरीका उपयोग में लाया जाता है। इस चरण में हमला तभी किया जाता है जब विद्रोही छापामारों के पास गोली-बारी की शक्ति, स्थिति तथा अचानक आक्रमण करने की शक्ति श्रेष्ठ होती है। दूसरा चरण "विकासात्मक विस्तार" का है। इस चरण में छापामार छोटे अभियानों से अधिक बड़े आक्रमणों की ओर बढ़ते हैं। आक्रमण करके भागने की तकनीक अभी भी उपयोग में लाई जाती है। छापामार अपना आधार क्षेत्र विस्तृत करते हैं और उस भू-भाग में अपना नियंत्रण सुदृढ़ बनाते हैं। सरकार द्वारा नियंत्रित क्षेत्र जिन पर पहले आक्रमण का प्रभाव नहीं हो रहा था अब उन पर आक्रमण किया जाता है। छापामार अभियानों का तीसरा चरण निर्णायक होता है। छापामार विद्रोहियों की संख्या इतनी बढ़ चुकी होती है कि वे अब परम्परागत तरीके से सरकार का विरोध कर सकते हैं। छापामार आक्रमण करके भागने की तकनीक अब नहीं अपनाते। माओ ने इस चरण को गृह युद्ध जैसा माना है।

भारत में, महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी द्वारा उपयोग में लाए गए तरीके छापामार रूप का सुंदर उदाहरण है। शिवाजी के *"अद्यपत्र"* में छापामार युद्ध के तरीके बताए गए हैं। उन्होंने शत्रु को परेशान करने के लिए वहां की मूल पहाड़ी और पर्वतीय तथा जंगलयुक्त भूमि का उत्कृष्ट प्रयोग किया। उनके पास मुग़ल और निज़ाम साम्राज्य की तुलना में छोटी सेना थी और बहुत कम संसाधन थे। अतः उन्होंने शत्रु बल के साथ सीधी टक्कर नहीं ली और आक्रमण करके भागने की तकनीक अपनाई। उन्होंने विभिन्न पहाड़ी किलों को युद्ध के आयोजन का माध्यम बनाया और पकड़े जाने की स्थिति में वहाँ छिपकर रहने के लिए उनका उपयोग किया।

6.6 असमान युद्ध एवं आतंकवाद

'असमान-युद्ध' (asymmetic war) की अवधारणा शीतयुद्धोत्तर काल में प्रचलित हुई है। चाहे, व्यवहार में यह उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं युद्ध की परम्परा। यह शक्तिशाली और शक्तिहीन के मध्य संघर्ष होता है। असमान युद्ध (asymmetic war) में संघर्षरत मूल रूप से सैनिक रूप में समर्थ शक्ति, चाहे वह राज्य हो या गैर-राज्य कर्ता (non-state actor) हो, के मध्य होता है। शक्तिशाली अपनी शक्ति के आधार पर अपनी विशेष स्थिति से लाभ प्राप्त करना चाहता है, या फिर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए

NMDC-288

शत्रु की दुर्बलता से लाभ उठाने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के संघर्ष में, युद्ध के उन अन्तर्राष्ट्रीय रूप से एकीकृत नियमों का पालन प्रायः नहीं किया जाता है जिनका अनुमोदन राष्ट्र संघ (League of Nations) ने, तथा बाद में संयुक्त राष्ट्र ने किया। असमान युद्ध में जिन माध्यमों का उपयोग किया जाता हैं उनमें प्रमुख हैं: छापामार उपाय, तथा प्रचार एवं निम्नस्तरीय युद्ध के अन्य माध्यम। विश्लेषणकर्ताओं के अनुसार, शीत युद्ध के पश्चात् जो प्रमुख संघर्ष सामने आए हैं उनमें कुछ हैं रूसी सत्ता और सेना के पृथकतावादी चेचनियों (Chichens) का संघर्ष, तथा इज़रायली सेना के विरुद्ध फ़िलिस्तीनियों का संघर्ष। भारत को असमान युद्ध के एक विचित्र रूप का सामना करना पड़ रहा है जिसका संचालन पाकिस्तान-आधारित उप-राज्य (sub-state) समूह (विविध आतंकवादी समूह) कर रहे हैं; जोकि भारत को अस्थिर करना चाहते हैं।

6.6.1 आतंकवाद

आतंकवाद असमान युद्ध से भिन्न होता है। आतंकवाद की परिभाषा समाज में भय उत्पन्न करने के उद्देश्य से हिंसा के उप-राज्य प्रयोग अथवा हिंसा को प्रयोग में लाने की धमकी के रूप में दी जा सकती है। इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि छापामार तरीकों को प्रयोग में लाया जा रहा है परन्तु यह छापामार युद्धों से भिन्न है क्योंकि आतंकवादियों के पास छापामारों की भांति अपने अभियान के किसी चरण पर कोई भू-भाग नहीं होता। अमेरिका के राज्य विभाग ने आतंकवाद को "उप-राष्ट्रीय समूहों अथवा गुप्त एजेन्टों द्वारा गैर युद्ध लक्ष्यों के विरुद्ध पूर्व नियोजित, राजनीतिक रूप से अभिप्रेरित हिंसा के रूप में परिभाषित किया है जिसका आम तौर पर उद्देश्य लोगों को प्रभावित करना होता है"।

"आतंकवाद" शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी क्रान्ति के उपरांत 1793–94 में फ्रांस के आतंक के शासन (Reign of Terror) के दौरान हुई। मूलतः क्रान्ति के नेताओं ने क्रान्तिकारी बलों में से "देशद्रोहियों" को बाहर निकालने का प्रयास किया। उन्होंने स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आतंक को सर्वोत्तम तरीका माना परन्तु ज्यों-ज्यों क्रान्ति आगे बढ़ती गई, इस शब्द को स्वयं क्रान्तिकारी राज्य द्वारा राज्य हिंसा और गिलोटीन के साथ जोड़ा जाने लगा। आधुनिक समय के आतंकवाद का आरम्भ 1972 में बर्लिन में इज़राइल की ओलम्पिक टीम पर हमले से माना जाता है। तब से लेकर आज तक हवाई जहाज अगवा किए गए हैं, विस्फोट किए गए हैं, भारत के पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी की हत्या जैसी हत्याएं हुई हैं; और सबसे अधिक दुस्साहसपूर्ण घटनाओं में से एक आतंकवादियों द्वारा हवाई जहाज से न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर और पेंटागन का 11 सितम्बर 2001 का विनाश है। आज अधिकांश आतंकवादी स्वयं को आतंकवादी कहलवाने की अपेक्षा अनियमित सैनिक बल तथा यहां तक कि स्वतंत्रता सेनानी कहलवाना पसंद करते हैं।

पिछली शताब्दियों के आतंकवादियों के सशक्त आदर्शवादी सिद्धान्त थे। परम्परागत दृष्टि से आतंकवादी समूह सशक्त धार्मिक, कट्टर तत्व होते हैं जोकि संघर्षकर्त्ताओं का मूल होता है परन्तु यहां राज्य-प्रायोजित अथवा राज्य आतंकवाद और गैर-राज्य आतंकवाद के मध्य भेद करना अनिवार्य है। अमेरिका ने लम्बे समय से लीबिया और ईरान (खोमेनी के शासन के दौरान) के आतंकी आक्रमणों को राज्य प्रायोजित आतंकवाद माना है। वे राज्य जो आतंकवादी कार्यकलापों को पनपने का अवसर प्रदान करते हैं, वे इस श्रेणी में आते हैं। आज अधिकांश आतंकवादी गतिविधियां नृजातीय अलगाववादी आंदोलनों के रूप में कार्यरत हैं। कई मामलों में नृजातीय समूहों को अखिल धार्मिक सम्पर्कों से सहयोग मिलता है जो आवश्यक नहीं कि देश की सीमा के भीतर हो। कई मुस्लिम समूह इस श्रेणी में आते हैं जबकि आइरिश रिपब्लिकन आर्मी (IRP), लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम (LTTE), कुर्दिश उग्रवादी (PKK), स्पेन का बास्क होमलैण्ड एण्ड लिबर्टी **(FTA)** नृजातीय आंदोलन की श्रेणी में आते हैं।

NMDC-288

आतंकवाद को चार विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

क) **राष्ट्रवादी-अलगाववादी आतंकवाद:** अपने राष्ट्रीय/नृजातीय समूह के लिए अलग राज्य की स्थापना की इच्छा से हिंसा करने वाले (जैसे – आइरिश रिपब्लिकन आर्मी (IRP), लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम (LTTE), कुर्दिश वर्कर्स पार्टी (PKK) बास्क होमलैण्ड एण्ड लिबर्टी (FTA) ऐसे कुछ आतंकवादी संगठन हैं।

ख) **धार्मिक आतंकवाद:** धार्मिक सिद्धान्तों के लिए और उनके अनुसार दैवी इच्छा की प्राप्ति के उद्देश्य से हिंसा का प्रयोग करते हैं। वे आमूल–चूल परिवर्तन लाने के उद्देश्य से "शत्रु" की वृहत श्रेणी को लक्ष्य बनाते हैं (जैसे ऑम शिन्क्रियो, अलकायदा, हिजबुल, हमास)।

ग) **वामपंथी आतंकवाद:** पूंजीवाद को नष्ट करके साम्यवादी अथवा समाजवादी शासन की स्थापना के लिए छेड़ी गई हिंसा (जैसे रेड आर्मी फेक्शन (RAF), जर्मन रेड ब्रिगेड, प्राइमा लिनिया, द वैदर अंडरग्राउंड/सिम्बियोनीस लिबरेशन आर्मी) को वामपंथी आतंकवाद का नाम दिया जाता है।

घ) **दक्षिणपंथी आतंकवाद:** उदारवादी लोकतांत्रिक सरकारों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग।

ङ) **राज्य प्रायोजित आतंकवाद:** इनमें राज्य या तो स्वयं अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आतंकवादी तरीके अपनाता है अथवा आतंकवादी समूहों को शरण अथवा सहायता के माध्यम से कई प्रकार से सहयोग देता है।

नृजातीय आंदोलन पर आधारित आतंकवाद सदैव चर्चा का विषय रहा है जिसका हम यहां उल्लेख करेंगे। यदि नृजातीय आंदोलन का उद्देश्य आत्म–निर्णय है और उसकी प्राप्ति के लिए आतंकवादी तरीके प्रयोग में लाए जा रहे हैं, तो उन्हें आतंकवादी कहा जाएगा अथवा स्वतंत्रता सेनानी? आत्म-निर्णय के अधिकार की संकल्पना पर शैक्षिक साहित्य में कई सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं जो संबंध विच्छेद की नैतिकता को समझते हैं। "उचित कारण" सिद्धान्तों में निरंकुशता का विरोध करने और आत्म-निर्णय के अधिकार के मध्य सशक्त संबंध हैं और ऐसा करने से मानवाधिकार के ढांचे में आत्म-निर्णय के अधिकार को सुदृढ़ता मिलती है। यहां हम इस प्रमुख प्रश्न पर पहुंचते हैं कि क्या एक समूह की आतंकवादी गतिविधियां दूसरे के लिए स्वतंत्रता आंदोलन होती हैं ?

भारतीय संदर्भ में कश्मीर की समस्या को इसी ढांचे में प्रस्तुत किया गया है। पाकिस्तान ने कश्मीर में आतंकवाद को सदैव कश्मीरियों के स्वतंत्रता आंदोलन की संज्ञा दी है (पाकिस्तान के सहयोग से अथवा इसके बिना)। भारत ने इसे बाह्य शक्तियों द्वारा प्रायोजित आतंकवाद कहकर इसकी आलोचना की है। इस प्रश्न का उत्तर समस्या से संबंधित दृष्टिकोण पर आधारित है। हम इस अवस्था पर दो परिप्रेक्ष्यों से दृष्टिपात कर सकते हैं। इसका प्रथम परिप्रेक्ष्य भारत की राष्ट्रीय एकता है। राष्ट्रीय एकीकरण के ढांचे के भीतर लोगों की वैध मांग तब भी वैध होगी, भले ही वह आतंकवाद जैसे उपाय अपनाए। एक अन्य स्तर पर, यदि आतंकवाद उन तत्वों द्वारा अव्यावहारिक आदर्शवाद के नाम पर प्रयोग में लाया जाता है जिनका वहां के लोगों और उनकी वैध समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं होता तो ऐसे संघर्ष को वैध नहीं कहा जा सकता। कश्मीर में "जेहादी" संघर्ष दूसरी श्रेणी में आता है, अतः इस क्षेत्र में आतंकवाद के प्रसार ने स्थायित्व और देश की संप्रभुता को संकट में डाल दिया है।

आतंकवाद से किस प्रकार बचाव किया जाए? लम्बे समय से स्थापित लोकतांत्रिक देशों को आज इस वास्तविकता का सामना करना पड़ रहा है कि लोगों को आतंकवाद के प्रभाव से बचाने का मार्ग चुनने पर कुछ सीमा तक नागरिक स्वतंत्रता की कमी होना अनिवार्य है। लोगों की सीमा के आर-पार आवाजाही मुक्त नहीं होगी; संदेहपूर्ण व्यक्तियों पर कड़ी निगरानी रखनी होगी; प्रभावित क्षेत्रों में कुछ नागरिक अधिकार समाप्त करने होंगे, इत्यादि। अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध कोई देश अकेला नहीं लड़

NMDC-288

सकता, इसके लिए संयुक्त एवं संगठित प्रयासों की आवश्यकता है। आतंकवाद का पहले से पता लगाने, इसकी पहचान करने, इसके नेटवर्क का पता लगाने और इसे समाप्त करने के लिए विश्वभर की गुप्तचर और कानून लागू करने वाली एजेन्सियों को मिलकर लम्बी लड़ाई लड़नी होगी। इसे बलपूर्वक दबाने से काम नहीं चलेगा अपितु लम्बे समय में उस मनोवृत्ति से लड़ना होगा जो आतंकवाद को जन्म दे सकती है।

6.7 परोक्ष युद्ध

"परोक्ष युद्ध" के दो प्रमुख अर्थ हैं जो इसे युद्ध का "प्रकार" अथवा युद्ध का "माध्यम" अथवा "प्रणाली" बनाता है। सर्वप्रथम, युद्ध के संबंध में राज्य केन्द्रित विश्लेषण आता है। यह युद्ध मूलतः दो राज्यों के बीच होता है। इसमें प्राथमिक संघर्ष दो अथवा अधिक राज्यों के बीच होता है और संघर्ष की प्रणाली परम्परागत नही होती। चूंकि, संघर्ष राज्यों के बीच होता है अतः संघर्ष के उद्देश्य को अनिवार्यतः "राजनीतिक" की संज्ञा दी जा सकती है। परोक्ष युद्ध का दूसरा अर्थ संघर्ष में विपक्ष का अप्रत्यक्ष रूप से शामिल होना है। सरल शब्दों में यह दो अथवा अधिक राज्यों के बीच संघर्ष होता है परन्तु "युद्ध" दो राज्यों के बीच प्रत्यक्ष तौर पर नहीं लड़ा जाता अपितु किन्हीं मध्यस्थों के माध्यम से होता है। ऐसा मध्यस्थ कोई अन्य राज्य अथवा समूह हो सकता है (आतंकवादी सैनिक इत्यादि) जोकि पहले राज्य से समर्थन लेकर उसके विरोधी (राज्य अथवा सरकार) के विरुद्ध लड़ता है। यह सहयोग योद्धाओं के लिए हथियारों, वित्त, शरण, विरोधी के विरुद्ध संघर्ष का समर्थन करने के लिए वैश्विक प्रचार इत्यादि के रूप में हो सकता है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के युद्ध के उद्देश्य को "राजनीतिक" प्रकृति होने के बावजूद युद्ध की प्रकृति के कारण इसे "अलग प्रकार का युद्ध" नहीं कहा जा सकता और यह युद्ध का "माध्यम" अथवा प्रणाली ही बनकर रह जाता है क्योंकि युद्ध में संलिप्त योद्धा अनिवार्यतः भाड़े के सिपाही होते हैं और वे कई प्रकार के लाभ के लिए, किसी और के लिए, युद्ध लड़ रहे होते हैं। अतः उनकी अपनी कोई राजनीतिक सोच नहीं होती।

"परोक्ष युद्ध" शब्द का प्रयोग शीतयुद्ध के दौरान विशेष संदर्भ में प्रयोग में लाया गया। अमेरिका-रूस की शत्रुता के दिनों के दौरान यह शब्द विश्व में क्षेत्रीय अथवा स्थानीय संघर्षों में किसी एक महाशक्ति के अप्रत्यक्ष रूप से शामिल होने में प्रयोग में लाया जाता था। सोवियत युग की समाप्ति के बाद इस शब्द को नया अर्थ मिला है। आज इसका प्रयोग किसी देश अथवा आतंकवादी सैनिक समूह (अथवा आतंकवादी) को किसी प्रकार के अप्रत्यक्ष सहयोग के लिए किया जाता है। इस युद्ध का अप्रत्यक्ष उद्देश्य राजनीतिक होता है। इस प्रकार से भारत में कश्मीर में पाकिस्तान द्वारा कई आतंकवादी समूहों को सहयोग देने को "परोक्ष" युद्ध का नाम दिया गया है। इस प्रकार का सहयोग किसी के अपने देश में वित्त, हथियारों, प्रशिक्षण अथवा शरण के रूप में हो सकता है।

6.8 सारांश

पहले समय के युद्ध सेनाओं और राष्ट्रों के बीच पर अधिकांशतः प्रभाव के क्षेत्र के संबंध में लड़े जाते थे परन्तु हाल ही के समय में नए प्रकार की युद्ध प्रणाली उभरकर आई है जिसमें अलग-अलग उद्देश्यों के साथ अधिक नकारात्मक कार्यकर्त्ताओं का योगदान हो रहा है। यह आंतरिक सुरक्षा के क्षेत्र के अंतर्गत आता है और इसमें प्रमुख धारा से कटे रहे तथा अन्य समूहों को शामिल किया गया है जो सरकार तथा साम्राज्य को बदलना चाहते हैं, अपनी शिकायतें दूर करना चाहते हैं अथवा स्वतंत्रता चाहते हैं। कई मामलों में इस प्रकार के अंतर्राज्य संघर्षों को बाह्य शक्तियों का भी समर्थन मिला है। इस इकाई में क्रान्तिकारी युद्ध और गृह युद्ध पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है जिन्हें पिछले कुछ वर्षों से युद्ध के प्रकार के रूप में वर्गीकृत किया गया है और जो राजनीतिक उद्देश्यों से संबंधित है। हमने देखा कि क्रान्तिकारी युद्ध

NMDC-288

ऐसा युद्ध है जिसमें सशस्त्र बल के प्रयोग से राजनीतिक सत्ता हथियाई जा सकती है। यह मूलतः घरेलू स्तर का युद्ध है; यह दो राज्यों के बीच युद्ध की भांति अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध नहीं है। गृह युद्ध भी एक प्रकार से सामाजिक संघर्ष है जो एक ही देश के भीतर जन्म लेता है। इसका उद्देश्य या तो सत्ता और अधिकार में बने रहना है और इस प्रकार से शासन को वैधता प्रदान करना है अथवा दूसरे से सत्ता छीनना है। गृह युद्ध सहज अथवा नियोजित, दोनों हो सकता है। विद्रोह एक अन्य प्रकार का युद्ध है जिसका उद्देश्य विद्रोह तथा सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से संवैधानिक सरकार का तख्ता पलटना होता है।

अंतर्राज्य संघर्षों के अंतर्गत क्षेत्र में आने वाले विभिन्न प्रकार के युद्धों पर चर्चा करने के अतिरिक्त हमने इन संघर्षों में प्रयोग में लाए गए माध्यमों और प्रणालियों की चर्चा की – छापामार युद्ध, आतंकवाद और परोक्ष युद्ध। इस पाठ्यक्रम की अगली इकाइयों में हम सशस्त्र संघर्ष का सामना करने तथा शान्ति बनाए रखने के संबंध में विविध दृष्टिकोणों पर विचार करेंगे।

6.9 अभ्यास प्रश्न

1) क्रान्तिकारी युद्ध का क्या अभिप्राय है? यह गृह युद्ध से कैसे भिन्न है?

2) विद्रोह की विवेचना कीजिए और विद्रोह के विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिए।

3) असमान युद्ध (Asymmetric War) की क्या विशेषता है?

4) आतंकवाद की विशेषता और प्रकार का वर्णन कीजिए।

5) परोक्ष युद्ध के अर्थ की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

इकाई 7 संयुक्त राष्ट्र प्रणाली : विवादों का शांतिपूर्ण समाधान

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 शांतिपूर्ण उपायों से विवाद निपटाने के माध्यम

7.2.1 समझौता वार्ता

7.2.2 अन्य माध्यम

7.3 संयुक्त राष्ट्र प्रणाली : लक्ष्य, नीतियाँ और सिद्धान्त

7.4 संयुक्त राष्ट्र प्रणाली : प्रमुख अंग

7.4.1 सुरक्षा परिषद : शक्तियाँ और कार्य

7.4.2 महासभा

7.4.3 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्

7.4.4 न्यास परिषद्

7.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

7.4.6 सचिवालय

7.4.7 उप-अंग और आयोग

7.4.8 विशिष्टीकृत एजेंसियाँ

7.5 संयुक्त राष्ट्र परिवार की संरचना के अंतर्गत विवादों का समाधान

7.5.1 संसदीय कूटनीति

7.6 सारांश

7.7 अभ्यास प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

किसी भी समुदाय में यदि हिंसा का उन्मूलन संभव नहीं है तो इसे कम से कम करने के लिए ऐसे व्यवहार और प्रक्रियाओं की मौजूदगी अनिवार्य है जिससे समय-समय पर उठने वाले द्वंद्वों और झगड़ों को निपटाया जा सके। अन्यथा इनमें शामिल लोगों को लगेगा कि केवल हिंसा ही ऐसा उपाय है जिनसे झगड़ों का निपटारा किया जा सकता है। राज्य के भीतर, कानून बनाकर विधानमंडल प्रमुख सामाजिक द्वंद्वों का निपटारा करता है। न्यायपालिका कानून की व्याख्या करके, समुदाय के अलग-अलग व्यक्तियों के झगड़ों का निपटारा करती है। कुछ झगड़े ऐसे भी हैं, जिन्हें न्यायपालिका द्वारा नहीं निपटाया जाता जैसे मिल मालिक और श्रमिक के बीच के झगड़े। इसलिए इन्हें सम्बद्ध समूहों के बीच सामूहिक समझौतों और सुलह जैसे प्रक्रियाओं के भरोसे छोड़ दिया जाता है। इनमें से कुछ न्यायालय के सामने भी लाए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में केवल दो प्रमुख ग़ैर-हिंसक विधियाँ उपलब्ध हैं, कूटनीतिक (diplomatic) विधियाँ; और विवादों के निपटान की अधिनिर्णयन (adjudicative) विधियाँ।

संयुक्त राष्ट्र की व्यवस्था के भीतर कूटनीतिक और अधिनिर्णयन विधियों का प्रयोग, इस इकाई की और अगली इकाई की विषय-वस्तु है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुविधाजनक तरीके से निपटाने में संयुक्त राष्ट्र

NMDC-288

की व्यवस्था की भूमिका की जाँच करने से पहले संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों, सिद्धान्तों और प्रकार्यों के साथ-साथ शांतिपूर्वक तरीके से विवाद निपटाने के विविध माध्यमों से आपको अवगत कराना बेहद उपयोगी सिद्ध होगा।

7.2 शांतिपूर्ण उपायों से विवाद निपटाने के माध्यम

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्वक या ग़ैर-हिंसात्मक तरीके से निपटाने के माध्यमों को मुख्यतया दो भागों में बाँटा जा सकता है: पहला - संबद्ध पक्षों के बीच सीधे तौर पर बातचीत करके और दूसरा - जहाँ मुद्दों को निपटाने में तीसरे पक्ष या मध्यस्थ की महत्वपूर्ण भूमिका की आवश्यकता होती है।

7.2.1 समझौता वार्ता (Negotiation)

समझौता वार्ता दो पक्षों के बीच बातचीत का सीधा रास्ता है जिससे एक ऐसा समझौता किया जा सके जहाँ दोनों पक्ष एक जैसा दावा क़र रहे हों। यदि दोनों पक्ष पूरी तरह तो नहीं किंतु आंशिक रूप से दूसरे पक्ष के दावे को कबूल करते हों तो वे पक्ष अपने-अपने संबद्ध दावों के संतोषजनक निपटारे के बिन्दु पर पहुँच सकते हैं। यदि दोनों पक्ष या उनमें से कोई एक अपनी-अपनी माँगों पर अड़ा रहे तो समझौता वार्ता नहीं हो सकती। हृदय से की समझौता वार्ता के लिए एक पक्ष को दूसरे पक्ष के मुद्दों को समझने का प्रयास करना चाहिए और यथासंभव दूसरे पक्ष को भी पहले पक्ष की माँगों को समझना चाहिए। वार्ता का परिणाम, विवाद का निपटारा या कोई समझौता नहीं, दोनों में से कुछ भी हो सकता है।

संधि वार्ता की यह विशेषता है कि प्रत्येक पक्ष को लगे कि वह समानता के आधार पर दूसरे पक्ष से बातचीत कर रहा है। जबकि राजनीतिक सच्चाई यह है कि अक्सर वार्ता कर रहा (negotiating) पक्ष एक-दूसरे को बड़ा/छोटा समझते हैं। विश्व समुदाय में अब बड़ी शक्ति, छोटी शक्ति और अत्यंत छोटी शक्तियाँ शामिल हैं। जब कोई बड़ी शक्ति छोटी शक्ति से संधि वार्ता करती है तो बड़ी शक्ति के पास अपनी उच्च स्थिति के प्रयोग से किसी विशिष्ट समाधान को छोटी शक्ति से स्वीकार कराने की गुजांइश होती है। यदि छोटी शक्ति ऐसी जबरदस्ती के प्रभाव को महसूस करती है तो वह वार्ता को समाप्त कर सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत, विवाद के निपटारे के लिए समझौता करना तब तक ज़रूरी नहीं होता जब तक कि समझौते के अंतर्गत ऐसी बाध्यता शामिल हो और समझौता करने का प्रयास करने का अर्थ हर स्थिति में समझौता करना नहीं है।

वार्ता का आधार द्विपक्षीय हो सकता है या बहुपक्षीय भी हो सकता है। जब बहुत से राज्य किसी विशिष्ट मुद्दे पर सहमति न रखते हों तो वे एक सम्मेलन कर सकते हैं और बातचीत के माध्यम से मुद्दे को हल कर सकते हैं। विविध मुद्दों से संबंधित सम्मेलनों की रिपोर्टें आजकल अक्सर अखबारों में नज़र आती हैं। जैसे समुद्र के कानून पर संयुक्त राष्ट्र का तृतीय सम्मेलन (Third UN Conference on the Law of the Sea – UNCLOS III) 1973 से 1981 तक चला और समुद्र के कानून पर एक व्यापक संधि पर पहुँचा। जब बहुपक्षीय बातचीत द्वारा बहुत से मुद्दों का निपटारा किया जाना हो तो सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है।

7.2.2 अन्य माध्यम

जब समझौता वार्ता सफल नहीं होती तो विवाद से संबंधित पक्षों के बीच पूरी तरह बातचीत का वातावरण तब खत्म हो जाता है। यह स्थिति तब तक बनी रह सकती है जब तक कि कोई तीसरा पक्ष समस्या के समाधान के लिए आगे नहीं बढ़ें और निपटारा कराने के लिए बातचीत को बढ़ावा दे। आइए, संक्षेप में ऐसी विभिन्न प्रक्रियाओं की समीक्षा करें जिनसे निपटारा कराने में मध्यस्थ की भूमिका कारगर सिद्ध होती है।

सदाशयता (Lending Good Offices)

विवादित पक्षों में बातचीत दुबारा शुरू करने के लिए, ऐसे विवादों के निपटान में इच्छुक कोई तीसरा पक्ष अपनी मध्यस्थता प्रदान कर सकता है। इस सदंर्भ में सदाशयता प्रदान करने से आशय यह है कि किसी सहमत हुए समाधान पर पहुँचने के लिए पक्षों को सिफारिश करना और प्रेरित करना और बिना भागीदारी के उन्हें एक-दूसरे के समक्ष लाने का प्रयास करना। सदाशयता में तीसरा पक्ष कोई सुझाव नहीं देता है।

मध्यस्थता करना (Mediation)

बीच-बचाव करने के संदर्भ में मध्यस्थ का कार्य विविध पक्षों के बीच बातचीत का माध्यम होता है। प्रथम हेग शांति सम्मेलन, 1899 से पहले किसी भी तीसरे पक्ष के मामले में पड़ना, पक्षों द्वारा अपने मामले में हस्तक्षेप करने में अमान्य माना जाता था, लेकिन हेग सम्मेलन I ने इस बात पर निर्णय लिया कि सम्बद्ध सभा में शामिल सदस्य अर्थात् हस्ताक्षरकर्त्ताओं के विवाद में और अधिक तेज़ी आने के बावजूद भी मध्यस्थता प्रदान करने या बीच-बचाव करने का अधिकार है और ऐसी पेशकश का ग़ैर-दोस्ताना रवैया नहीं माना जाना चाहिए। मध्यस्थ, पक्षों के बीच बातचीत को बढ़ावा दे सकता है और विवाद को निपटाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। वह स्वयं वार्ता में शामिल होकर, समाधान का सुझाव दे सकता है।

सुलह करवाना (Conciliation)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि शब्दावली में सुलह करवाने (conciliation) का अर्थ मध्यस्थता से अलग है। इस प्रक्रिया में मध्यस्थ का कार्य मात्र दो पक्षों के बीच बातचीत का माध्यम ही नहीं होता बल्कि निपटारा कराने के लिए उसकी भूमिका सक्रिय रूप में पक्षों को सुझाव देने की भी होती है। मध्यस्थता या अपनी सेवाएँ इस कार्य के लिए प्रदान करना जैसे संदर्भ में भी शांतिपूर्वक निपटारा करने के लिए मध्यस्थ की भूमिका सक्रिय रूप से कुछ हद तक पक्षों को सुझाव देने की होती है। सुलह कराने की प्रक्रियाओं में कुछ विशेष सुलह कराने की प्रक्रिया न्यायिक प्रक्रिया जैसी ही होती है। इसके अंतर्गत पक्षों को लिखित रूप में अपने मामलों को व्यक्त करना पड़ता है और उन्हें मौखिक रूप से केस बयान करने की इजाजत होती है और समझौताकार और समझौताकार के अंग निपटारे की शर्तों की सिफारिश करते हैं। तब यह दोनों पक्षों पर होता है कि वे इन शर्तों को स्वीकार करें या न करें। यह स्थिति अधिनिर्णयन या न्यायिक निर्णय की भांति नहीं होती जिसके अंतर्गत पक्षों को निर्णय को हर हाल में स्वीकार करना पड़ता है।

मध्यस्थता या सुलहनामा कराने की स्थिति में मध्यस्थ को विवाद को निपटाने में कुछ बल का भी प्रयोग करना पड़ता है। यह मध्यस्थ पर निर्भर करता है कि बातचीत की विषय-वस्तु क्या हो या क्या न हो। किस भाषा में बातचीत की जाए और बातचीत की अवधि क्या हो। लेकिन निपटारे के लिए प्रदत्त प्रस्ताव ज़रूरी नहीं है कि हमेशा निष्पक्ष ही हो और कभी-कभी मध्यस्थ के हितों के अनुसार इसकी रूपरेखा तय की जाती है। यही मुख्य कारण है कि विवादित पक्ष प्रायः क्यों मध्यस्थता या सुलहनामे को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं होते, पक्षों की मर्जी के बिना मध्यस्थता, सुलहनामा या बीच-बचाव की अर्थात् कोई भी स्थिति संभव नहीं होती।

सफल होने के लिए समझौताकार में कुछ विशेष गुण होने चाहिए। पहला उसकी छवि दोनों पक्षों के समक्ष निष्पक्ष और उद्देश्यपूर्ण होनी चाहिए। दूसरा, निपटारे के लिए उसके पास कुछ ऐसे विविध विकल्प होने चाहिए जिनमें दोनों पक्ष अपनी पसंद के विकल्प पर हामी भर सकें।

ऐसी भी संभावना होती है कि मध्यस्थ की स्थिति ऐसी हो कि यदि पक्षों को किसी मुद्दे को छोड़ने के लिए कहा जाए तो इसके बदले उन्हें कुछ और दिया जा सके। अच्छी धारणा रखने वाली बड़ी शक्ति ऐसा कार्य करने के योग्य होती है जो दो छोटी शक्तियों के बीच बीच-बचाव करती है। इसी प्रकार का निपटारा

NMDC-288

विश्व बैंक ने भारत और पाकिस्तान के बीच सिंधु नदी के पानी के बँटवारे के लिए करवाया था जब विश्व बैंक ने इसके बदले कुछ सिंचाई परियोजनाओं के लिए बड़ा ऋण देने की पेशकश की थी।

जाँच-पड़ताल (Enquiry)

प्रथम हेग शांति सम्मेलन, 1899 में, इस प्रक्रिया को मध्यस्थ के विकल्प के रूप में देखा गया ताकि जो मध्यस्थ को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं वे इस प्रक्रिया को स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रक्रिया के पक्षों की इस बात पर सहमति होती है कि मध्यस्थ, पक्षों के बीच विवादित मसले की पूरी तरह जाँच-पड़ताल करेगा और अपना निष्कर्ष देगा। वे इस बात पर भी सहमत हो सकते हैं कि कानूनी प्रश्नों पर मध्यस्थ स्पष्टीकरण भी प्रदान करेगा। ऐसे निष्कर्ष और स्पष्टीकरण की दृष्टि से दोनों पक्ष विवाद को निपटाने पर समझौता कर सकते हैं या मध्यस्थ के निष्कर्ष और स्पष्टीकरण को ठुकरा सकते हैं। पिछले कुछ मामलों में इस प्रक्रिया से कुछ विवादों को हल करने में सहायता मिली तो थी।

पंच-निर्णय (Arbitration)

ग्रीक राज्यों में 600 ई. पू. के समय में विवादों के निपटाने की पंच-निर्णय भी एक विधि थी। इस्लामी जगत में इसका काफी दुखदाई इतिहास रहा है। आधुनिक समय में उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे मध्य भाग में इस व्यवहार में महत्वपूर्ण बदलाव आया। अलबामा क्लेम्स आर्बीट्रेशन (Alabama Claims Arbitration) (1872) की वजह से ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका के बीच शांतिपूर्वक निपटारों की बजाय गंभीर विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम हेग शांति सम्मेलन में अपनाई गई हेग कन्वेंशन - I, 1899 और द्वितीय हेग शांति सम्मेलन 1907 में अपनाई गई हेग कन्वेंशन - II ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून से संबंधित विस्तृत नियम प्रदान किया।

मध्यस्थता संयुक्त राष्ट्र के समय से विवाचन, निरस्त्रीकरण और सुरक्षा संबंधी त्रि-सूत्र को अपना कर जब लीग व्यवस्था की कमियों को दूर करने के लिए गंभीर चर्चा शुरू हुई तो राष्ट्र संघ सभा ने संधि और सामान्य अधिनियम (General Act) (अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण हल) 1928 को अपनाने का सुझाव दिया। सामान्य अधिनियम ने पंच-निर्णय संबंधी नियम प्रदान किए। 1949 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्वक निपटाने के लिए संशोधित सामान्य अधिनियम को अपनाया। इस अधिनियम को ऐसे राज्यों में लागू किया गया जो इससे सहमत थे और हस्ताक्षरकर्ता बन गए। हालाँकि ऐसे राज्य बहुत ही कम हैं जो इससे सहमत थे, संयुक्त राष्ट्र के फलस्वरूप केवल अन्तर्राष्ट्रीय पंच-निर्णय नियमों की रूपरेखा ही तैयार हो पाई।

पंच-निर्णय की कई मुख्य विशेषताएँ हैं। *पहली,* पक्षों की सहमति से पंच-निर्णय को मानना। विशिष्ट विवाद से संबंधित विशेष समझौते के अंतर्गत जहाँ किसी विशिष्ट श्रेणी के विवादों को पंच-निर्णय के माध्यम से ही सुलझाया जाता है। *दूसरी,* न्यायिक अधिकरण से भिन्न जिसमें इसके संगठन के संबंध में पक्षों को विकल्प की गुजांइश नहीं रहती बल्कि मध्यस्थ अधिकरण का संघटन या इसके द्वारा या इसके संरचना पक्षों की सहमति से की जाती है। *तीसरी,* पंच-निर्णय अधिकरण का क्षेत्र समझौते द्वारा इसको विशेष रूप से दी गई सीमा तक ही सीमित रहता है। लेकिन पंच-निर्णय अधिकरण को समझौते का निर्वाचन करने और इसके क्षेत्राधिकार के निर्धारण की शक्ति प्राप्त होती है। न्यायिक अधिकरण का क्षेत्राधिकार उस लिखित समझौते द्वारा इसको प्रदत्त होता है, जिससे इसकी स्थापना की जाती है। चौथी, पंच-निर्णय अधिकरण के सामने कार्यवाही को शासित करने वाले कानून और प्रक्रियाएँ, पक्षों की सहमति पर आधारित होती है। इस प्रकार के समझौतों के अभाव में अधिकरण अन्तर्राष्ट्रीय कानून और पंच-निर्णय अधिकरणों द्वारा सामान्यतः अपनाई गई प्रक्रियाओं के अभाव में अधिकरण, न्यायिक अधिकरण से भिन्न होते हैं; जो अपनी स्थापना से संबंधित प्रपत्रों में निर्धारित प्रक्रियाओं के अनुसार "कानून एवं शांति और सुरक्षाओं" को लागू करता है।

NMDC-288

पंच-निर्णय अधिकरण का निर्णय सभी पक्षों पर बाध्यकारी होता है। आम तौर पर सभी देश पंच-निर्णय के फैसले का पालन करते हैं, लेकिन कभी-कभी असंतुष्ट पक्ष इस फैसले को रद्द करने के लिए अपील कर सकता है। जब इस प्रकार की अपील सामने आती है तो विजयी पक्ष मामले का निपटान करने के लिए उत्पीड़क उपायों को सहारा लेता है। इस प्रकार के उपायों को संयुक्त राष्ट्र चार्टर के प्रावधानों के अनुरूप होना चाहिए। संभवतः, जीतने वाला पक्ष फैसले की अनुपालन न करने के बारे में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद से शिकायत कर सकता है कि ऐसा न करने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा हो सकता है।

किसी फैसले को संभवतः निम्नलिखित आधारों पर रद्द करने की अपील की जा सकती है: (i) पंच-निर्णय न्यायाधिकरण को दिए गए करार का अमान्य होना; (ii) अधिकरण ने अपनी सीमाओं से बाहर काम किया है; (iii) फैसले के समर्थन में कोई कारण या अपर्याप्त कारण नहीं दिए गए हैं; (iv) अधिकरण का फैसला झूठ और भ्रष्टाचार से प्रभावित है; (v) अधिकरण ने कानून में "आवश्यक गलती" या "ma गलती" की है, क्योंकि वह संधि को स्पष्ट रूप से लागू कराने में असफल रहा है।

जब कभी सभी पक्ष न्यायालय नहीं जाना चाहते और तीसरे पक्ष के निर्णय को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं तो ऐसी स्थिति में पंच-निर्णय के लिए एक उपयोगी विकल्प रहा है। पंच-निर्णय में अपेक्षाकृत अधिक लचीलापन रहता है। वे अधिकरण के सदस्यों का चयन कर सकते हैं और अधिकरण की विधि और प्रक्रिया का निर्धारण कर सकते हैं। इसमें पक्षों को न्यायिक समाधान के स्थान पर पंच-निर्णय की सुविधा प्राप्त की जा सकती है।

न्यायिक निर्णय

कोई भी पक्ष अधिकारिता या विवाद को हल करने के लिए शक्ति प्राप्त न्यायिक अधिकरण में जा सकता है और दूसरे पक्ष को इसमें शामिल कर सकता है। न्यायालय विवादित और वास्तविक प्रश्नों/समस्याओं का निर्धारण करता है, संबंधित कानूनों को लागू कर अपना निर्णय देता है। सभी पक्षों के लिए निर्णय को मानना बाध्यकारी होता है।

7.3 संयुक्त राष्ट्र प्रणाली : लक्ष्य, नीतियाँ और सिद्धान्त

संयुक्त राष्ट्र चार्टर की प्रस्तावना संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के इस दृढ़ निश्चय की पुष्टि करती है, "भावी पीढ़ियों को युद्ध से बचाने के लिए ....." यहाँ पर युद्ध का तात्पर्य राज्यों के बीच सशस्त्र संघर्ष से है। प्रस्तावना में मानव की गरिमा और मूल्य में विश्वास पर बहुत जोर दिया गया है। प्रस्तावना में सदस्यों से ऐसे वातावरण बनाने के लिए कहा गया है जिसके अंतर्गत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति न्याय और सम्मान किया जा सके और व्यापक स्वतंत्र माहौल में जीवन स्तर में और अधिक सुधार किया जा सके। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपनाई गई नीति में कहा गया है कि सहनशीलता की भावना का अनुसरण किया जाए और अच्छे पड़ोसी की तरह बर्ताव किया जाए, ऐसे सिद्धान्तों और संस्थाओं को स्वीकार किया जाए। जब तक आम जनता के हित में न हो तब तक सैनिक बलों का प्रयोग नहीं किया जाए; और सभी लोगों के आर्थिक-सामाजिक विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधनों का इस्तेमाल किया जाए।

अनुच्छेद 1 और 2 इस संगठन के उद्देश्यों और इसके द्वारा अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों के बारे में विस्तार से वर्णन करते हैं। अनुच्छेद 1(1) संगठन के उद्देश्यों के बारे में कहता है कि इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखना है, और इसकी प्राप्ति तथा शांति को बनाए रखने के लिए संभावित खतरों की रोकथाम और उन्हें दूर करने के लिए प्रभावी सामूहिक उपाय करने और आक्रामक कार्रवाइयों या शांति भंग करने वाली कार्रवाइयों को दबाने के लिए प्रयास किया जाएगा। अनुच्छेद 1(1) का दूसरा

भाग संगठन के दूसरे उद्देश्यों का उल्लेख करता है अर्थात शांतिपूर्ण प्रयास करना, और न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुरूप कार्रवाई करना, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समायोजन या निपटान, जिसके भंग होने पर शांति को खतरा उत्पन्न हो सकता है। यहाँ पर दो बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाए; पहला, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखना संगठन का प्रमुख उद्देश्य है और विवादों के शांतिपूर्ण समाधान को इसके प्रमुख उद्देश्य के लिए महत्वपूर्ण माना गया है। दूसरा, विवादों का समाधान न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए। इसके लिए ग़ैर-कानूनी और ग़ैर न्यायिक ढंग से समाधान की शक्ति के रूप में तुष्टीकरण की नीति नहीं अपनाई जानी चाहिए।

इसका दूसरा उद्देश्य राष्ट्रों के बीच मैत्री संबंध स्थापित करना है। इसका आधार समान अधिकार और लोगों द्वारा आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के लिए सम्मान तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति को मज़बूत करना है (अनुच्छेद 1(2))। इसका तीसरा उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकृति की एकीकृत समस्याओं का समाधान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना है और मानव अधिकारों के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहित करना है। इसका चौथा और अंतिम उद्देश्य यह है कि संयुक्त राष्ट्र को उपर्युक्त तीनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रों की कार्रवाइयों के लिए सौहार्द एवं सामंजस्य बनाए रखने के लिए कार्य करना चाहिए।

उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन को अनुच्छेद 2 में दिए गए सिद्धान्तों के अनुसार काम करना चाहिए। पहला अनुच्छेद 2(1) कहता है कि यह संगठन इसके सभी सदस्यों की संप्रभुत्ता की समानता पर आधारित है। दूसरा, सद्भाव के सिद्धान्त के लिए यह ज़रूरी है कि सभी सदस्यों को सदस्यता के परिणामस्वरूप प्राप्त अधिकारों और लाभों को सुनिश्चित करने के लिए चार्टर (अनुच्छेद 2(2)) के अंतर्गत स्वीकृत सभी बाध्यताओं को सद्भावनापूर्वक पूरा करना चाहिए। तीसरा, अनुच्छेद 2(3) कहता है कि सभी सदस्य देश अपने आपसी विवादों का इस प्रकार शांति से समाधान करेंगे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा, एवं न्याय को कोई खतरा न हो। यह प्रावधान विवादों के समाधान के लिए किसी भी प्रकार के उत्पीड़क साधनों का प्रयोग करने से मना करता है।

चौथा सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसका उल्लेख अनुच्छेद 2(4) में किया गया है। इसमें कहा गया है कि सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को बनाए रखने के लिए किसी भी देश की क्षेत्रीय एकता अथवा राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध अथवा चार्टर के उद्देश्यों से संगति न रखते हुए आक्रमण और बल का प्रयोग नहीं करेंगे। यहाँ पर "बल" का तात्पर्य भौतिक शक्ति या सेना से है। "राजनीतिक स्वतंत्रता" का अर्थ किसी राष्ट्र द्वारा अपने विषय में लिए जाने वाले निर्णयों में सरकार की स्वतंत्रता से है और यह सिद्धान्त किसी विशेष नीति को अपनाने के लिए किसी देश के विरुद्ध आक्रमण या बल प्रयोग का निषेध करता है।

पाँचवाँ सिद्धान्त (अनुच्छेद 2(5)) अपेक्षा करता है कि जब संयुक्त राष्ट्र द्वारा किसी देश के खिलाफ निरोधात्मक या प्रवर्तन की कार्रवाई की जाती है, तो सदस्य देश संयुक्त राष्ट्र को हर संभव सहयोग देंगे और जिस देश के खिलाफ कार्रवाई की जा रही है, उसे किसी भी प्रकार की सहायता नहीं देंगे। छठा सिद्धान्त (अनुच्छेद 2(6)) अपेक्षा करता है कि संगठन यह सुनिश्चित करेगा कि जो देश संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं, वे भी उपर्युक्त पाँचों सिद्धान्तों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए कार्य करेंगे। यदि विषय अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा से संबंधित है, तो संगठन या इसके सदस्यों द्वारा ग़ैर-सदस्य देशों को इस वजह से कोई रियायत नहीं दी जाएगी कि वे संयुक्त राष्ट्र चार्टर के हस्ताक्षरकर्ता नहीं हैं और इसलिए वे इसका अनुसरण करने को बाध्य नहीं हैं।

सातवाँ और अंतिम सिद्धान्त (अनुच्छेद 2(7)) कहता है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर, संयुक्त राष्ट्र किसी राज्य के घरेलू अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। यह सिद्धान्त सुरक्षा परिषद

NMDC-288

द्वारा अध्याय-VII के अंतर्गत की गई प्रवर्तन की कार्रवाई पर पूर्वनिर्णय नहीं करेगा। इस सिद्धान्त में घरेलू क्षेत्राधिकार के मामलों में हस्तक्षेप के संबंध में प्रवर्तन और कार्रवाई का स्पष्ट रूप से निषेध है। इसके साथ-साथ यह सर्वविदित है कि "घरेलू क्षेत्राधिकार" के मामले तथा अन्तर्राष्ट्रीय चिंता के विषय एक-दूसरे के पूरक हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रगति होने से घरेलू क्षेत्राधिकार के मामले अन्तर्राष्ट्रीय चिंता के मामले बन गए हैं। उदाहरण के लिए, संधि या सभ्य राष्ट्रों के कानून के सामान्य सिद्धान्त (अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तीन स्रोत) द्वारा यदि परिपाटियों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई विषय विचारार्थ आता है, तो यह मामला घरेलू क्षेत्राधिकार का नहीं रह जाता है। कोई राज्य अपने क्षेत्राधिकार के भीतर अपनी जनता से कैसा व्यवहार करता है, उन्नीसवीं शताब्दी में यह राज्य के क्षेत्राधिकार का विषय था। बीसवीं शताब्दी में मानव अधिकारों की जागरूकता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून से मानव अधिकारों का उल्लंघन करने वाली जनता के साथ राज्य का व्यवहार अब अन्तर्राष्ट्रीय चिंता का विषय बन गया है।

7.4 संयुक्त राष्ट्र प्रणाली : प्रमुख अंग

संयुक्त राष्ट्र के अंगों की संरचना, शक्तियों और कार्यों का अध्ययन इनके द्वारा विवादों के समाधान के संदर्भ में किया जा सकता है कि ये विवाद का समाधान किस प्रकार करते हैं। संयुक्त राष्ट्र के छः प्रमुख अंग हैं। हम सुविधा की दृष्टि से सुरक्षा परिषद से इनके बारे में चर्चा आरंभ करते हैं।

7.4.1 सुरक्षा परिषद : शक्तियाँ और कार्य

शुरू में सुरक्षा परिषद में पाँच स्थायी और छः चुने गए सदस्य थे। 1965 में चुने गए सदस्यों की संख्या बढ़ाकर दस कर दी गई, जिससे सुरक्षा परिषद में कुल 15 सदस्य हो गए। इस वृद्धि का आधार संगठन की सदस्य संख्या में बढ़ोतरी थी। इसके पाँच स्थायी सदस्य हैं : संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस और चीन। अस्थायी सदस्यों में से आधे सदस्य प्रत्येक दो वर्ष के बाद हट जाते हैं और महासभा द्वारा इनके स्थान पर चुनाव से नए सदस्यों का चयन किया जाता है। परम्परागत रूप से चुनाव में भौगोलिक वितरण की प्रकृति को ध्यान में रखा जाता है।

चार्टर के अनुच्छेद 24 के अंतर्गत अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए संगठन के सदस्यों में सुरक्षा परिषद को "प्रमुख उत्तरदायित्व" सौंपे हैं। अनुच्छेद 25 के अंतर्गत सदस्यों ने सुरक्षा परिषद के निर्णयों को स्वीकार करने और उन पर अमल करने के बारे में अपनी स्वीकृति प्रदान की है।

परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत (वोट) होता है और प्रक्रियागत मामलों पर परिषद् साधारण बहुमत से निर्णय करती है। अन्य सभी मामलों में नौ मतों के बहुमत (1965 से पहले सात मतों से) से संकल्प पारित किया जा सकता है। इस नौ में पाँच स्थायी सदस्यों की "सहमति के मत" भी शामिल होने चाहिए। व्यवहार में "सहमति (concurring) के मत" का आशय उपस्थित स्थायी सदस्यों के सकारात्मक मत से है। बैठक की अनुपस्थिति या किसी स्थायी सदस्य द्वारा मतदान में भाग न लेने से परिषद् को संकल्प पारित करने से नहीं रोका जा सकता। जबकि किसी भी स्थायी सदस्य द्वारा प्रतिकूल (नकारात्मक) मतदान करने का अर्थ है कि कोई निर्णय नहीं हो सकता है। इस प्रकार स्थायी सदस्यों को किसी भी प्रस्ताव पर निषेधाधिकार (वीटो करने) का अधिकार दिया गया है। विश्व की वास्तविक राजनीति को ध्यान में रखकर ही स्थायी सदस्यों को वीटो करने का अधिकार दिया गया है। उदाहरण के लिए, यदि किसी स्थायी सदस्य के खिलाफ कोई निर्णय किया जाता है, तो इस निर्णय को लागू करना अंसभव हो जाता है।

चार्टर के अध्याय-VI में अनुच्छेद 33 से 38 शामिल हैं। इसमें सुरक्षा परिषद को शांतिपूर्ण तरीके से विवादों के समाधान का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 33, (1) के अनुसार, "किसी भी प्रकार के ऐसे विवादों में उलझे पक्ष, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा हो सकता है, वे सबसे पारस्परिक वार्ता,

सदाशयता, मध्यस्थता, समझौता प्रयास, पंच-निर्णय और न्यायिक निर्णय द्वारा विवाद का समाधान करने का प्रयास करेंगे और इसके लिए वे स्थानीय एजेंसियों या व्यवस्था या अपनी इच्छा से किसी भी प्रकार के अन्य शांतिपूर्ण तरीकों को उपयोग में ला सकते हैं।" खंड (2) में भी कहा गया है कि "आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा परिषद ऐसे तरीकों को अपनाकर अपने विवादों को दूर करने के लिए कह सकती है।" खंड (1) लगभग अनुच्छेद 2(3) में दिए गए सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन करता है।

अनुच्छेद 34 सुरक्षा परिषद को किसी भी ऐसे विवाद, या स्थिति की जाँच-पड़ताल की शक्ति प्रदान करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय द्वंद्व उत्पन्न हो सकता है या विवाद शुरू हो सकता है और लगातार इस विवाद या स्थिति के बने रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता है। इस प्रकार की जाँच-पड़ताल से अनुच्छेद 33(2) के अंतर्गत कार्रवाई करने के बारे में निर्णय लिया जाता है।

अनुच्छेद 35 विवादग्रस्त पक्षों को शक्ति प्रदान करने के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र के किसी सदस्य, चार्टर के अंतर्गत विवाद को शांतिपूर्वक समाधान करने के लिए इसकी अनिवार्यता को स्वीकार करने वाला कोई ग़ैर-सदस्य, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को लगातार खतरा पहुँचाने वाले किसी विवाद या स्थिति को सुरक्षा परिषद के सामने रखने का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 36 के तहत सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को संभावित खतरों से बचाने के लिए विवाद या स्थिति की किसी भी अवस्था में पहले से प्रचलित या स्वीकृत प्रक्रिया के अनुसार पक्षों को समुचित प्रक्रिया अपनाने या समझौता करने के लिए सुझाव दे सकता है। सिफारिश करते समय सुरक्षा परिषद को कानून के विचाराधीन विवाद पर विचार करना चाहिए और सामान्य नियम के रूप में न्यायालय की संविधि के प्रावधानों के अनुसार पक्षों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास भेजना चाहिए। अनुच्छेद 37 के अनुसार, यदि विवादग्रस्त पक्ष अनुच्छेद 33 में उल्लिखित प्रक्रिया को अपनाते हुए विवादों को हल करने में असफल होते हैं तो वे इसे सुरक्षा परिषद के पास भेजने के लिए बाध्य हैं और सुरक्षा परिषद यदि यह समझता है कि विवाद के बने रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को संभावित खतरा है तो वह अनुच्छेद 36 के अंतर्गत या अनुच्छेद 37 के अंतर्गत उपयुक्त समझौते की शर्तों के रूप में उपयुक्त प्रक्रिया या समझौते की सिफारिश कर सकती है। अनुच्छेद 36 का संबंध उस प्रक्रिया अथवा विधि है जिनका उल्लेख अनुच्छेद 37 में किया गया है।

यदि विवाद या स्थिति इस प्रकार की है कि इसके चलते रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को कोई खतरा न हो, तो सुरक्षा परिषद को किसी भी प्रकार की कार्रवाई करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। लेकिन अनुच्छेद 38 के अंतर्गत यदि विवाद में उलझे हुए सभी पक्ष ऐसा अनुरोध करते हैं, तो वह विवाद के शांतिपूर्ण हल के लिए सिफारिश कर सकती है। ऐसा सामान्य स्थिति में होता है, आकस्मिकता की स्थिति में ऐसा नहीं किया जाता है। इसके कारण नीचे दिए गए हैं। लेकिन फिर भी ये पक्ष किसी भी समय बाध्यकारी निर्णय अर्थात् पंच-निर्णय के लिए सुरक्षा परिषद अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था या अंग से अपील कर सकते हैं।

यह देखा जा सकता है कि अध्याय-VI के अंतर्गत सुरक्षा परिषद को केवल सिफारिश या संस्तुति करने की शक्तियाँ प्राप्त हैं। यह "शिथिल" शक्ति के रूप में होती हैं जिसे विश्वासोत्पाद शक्ति कहते हैं। कोई पक्ष इस सिफारिश को मानने के लिए विवश नहीं होता है। लेकिन कोई सिफारिश संपूर्णतः अप्रभावी भी नहीं होती है। पहला, हमेशा यह उम्मीद रहती है कि यदि किसी सिफारिश को किसी पक्ष द्वारा पूर्णतः अनदेखा कर दिया जाता है, तो विवाद के संबंध में परिषद् के भावी निर्णय इस प्रकार के पक्ष के प्रतिकूल हो सकते हैं। दूसरा, जिस पक्ष के लिए यह सिफारिश की जाती है, उसे अनुच्छेद 2(3) में उल्लिखित सद्भावना सिद्धान्तों का ध्यान रखना होता है। इस पक्ष को इन सिफारिशों को कब, किस तरह और किस सीमा तक इन सिफारिशों को लागू करने की स्वतंत्रता होती है लेकिन वह इन सिफारिशों को पूर्णतः अस्वीकार नहीं कर सकता है। तीसरा, इन सिफारिशों का पालन करने वाले पक्ष को ऐसा नहीं माना जा

_NMDC-288

सकता कि उसने ग़ैर-कानूनी तरीके से व्यवहार किया है और इस तरह सिफारिश के पालन की कार्रवाई को कानूनी माना जाता है।

सुरक्षा परिषद किसी देश के मंत्रिमंडल की तरह नहीं होती है। परिषद् के सदस्य निम्नलिखित पर विचार करते हुए अपना कार्य करते हैं: पहला, सम्बद्ध देश का हित, उसके बाद अपने अन्य सदस्य राज्यों का हित और इसके बाद संगठन का कार्य। परिषद् एक न्यायिक अंग नही है। परिषद् और इसके सदस्य राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित होते हैं। इस उद्देश्य के लिए विवादग्रस्त पक्ष विवाद को परिषद् और किसी अन्य तीसरे पक्ष के सामने रखने में अनिच्छुक होते हैं। विवाद को परिषद् के सामने प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त बाध्यकारी कारणों का होना ज़रूरी है। जैसे कम शक्तिशाली देश का किसी दूसरे शक्तिशाली विरोधी देश की कठोर कार्रवाई का सामना करना। परिषद् के सदस्य देशों के अपने अलग-अलग स्वार्थ हो सकते हैं। जैसे अधिक शक्तिशाली विरोधी देश की शक्ति को कुछ हद तक बलशून्य करना।

अध्याय-VII में 39 से 51 तक अनुच्छेद हैं जो शांति को खतरा, शांति-भंग या आक्रमण की कार्रवाई को उकसाने वाले विवाद या स्थितियों से संबंधित हैं। यह देखा जा सकता है कि सुरक्षा परिषद की सक्षमता ऐसे विवादों या परिस्थितियों में हस्तक्षेप करना है जिनके बने रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता है या जिन परिस्थितियों से शांति को खतरा, शांति-भंग या आक्रमण की संभावना उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार की विभिन्न परिस्थितियों की किसी भी अवस्था में परिषद् हस्तक्षेप कर सकती है और समुचित व्यावहारिक उपाय कर सकती है।

सुरक्षा परिषद को अनुच्छेद 39 के अंतर्गत शांति के लिए खतरा, शांति-भंग और आक्रमण की कार्रवाई का निर्धारण करने का अधिकार प्राप्त है। निर्धारण के बाद सुरक्षा परिषद अनुच्छेद 41 और 42 के अनुसार सिफारिश कर सकती है या किए जाने वाले उपायों पर निर्णय कर सकती है। अनुच्छेद 41 और 42 के अंतर्गत किसी भी प्रकार का उपाय करने से पहले यह संबंधित पक्षो सें उन अस्थायी उपायों का पालन करने के लिए कह सकती है जिन्हें वह आवश्यक या अपेक्षित समझती है (अनुच्छेद 40)। अस्थायी उपाय पक्षों के अधिकारों, दावों और स्थितियों से पूर्वाग्रहित नहीं होंगे लेकिन परिषद् अस्थायी उपायों का पालन न करने की स्थिति पर विशेष ध्यान देने के लिए बाध्य है।

अनुच्छेद 41 के अंतर्गत सुरक्षा परिषद अन्य शांतिपूर्ण उपाय करने का निर्णय कर सकती है और सदस्यों से ऐसे उपाय करने के लिए कह सकती है। इन उपायों में आर्थिक प्रतिबंध, संचार संपर्क तोड़ना और राजनयिक संबंध समाप्त करना शामिल हैं। यदि परिषद् को लगता है कि ग़ैर-उत्पीड़क प्रतिबंध अपर्याप्त हैं या अपर्याप्त महसूस हो रहे हैं तो वह अनुच्छेद 42 के अंतर्गत अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने या उसे बहाल करने के लिए उपयुक्त सैनिक कार्रवाई कर सकती है। सैनिक कार्रवाई करने के लिए सुरक्षा परिषद के पास सैनिक बल होना चाहिए। अनुच्छेद 43 से 47 के प्रावधानों के अनुसार सदस्य, सुरक्षा परिषद को किसी समझौते के अनुसार सैनिक बल का उपयोग करने के लिए अधिकृत कर सकता है। लेकिन, वास्तव में सैनिक बल उपलब्ध कराने और उनकी अवस्थिति के संबंध में स्थायी सदस्यों में मतभेद के कारण ये प्रावधान कागजों तक ही सीमित रह गए और केवल एक सैनिक स्टाफ समिति का ही गठन किया जा सका, जो मात्र औपचारिकता के रूप में अपने अस्तित्व में है। अनुच्छेद 48 में व्यवस्था है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए सुरक्षा परिषद द्वारा की जाने वाली कार्रवाई संगठन के सभी सदस्यों द्वारा की जाए। किए जाने वाले निर्धारित उपायों में भाग लेते समय, सदस्यों से पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा की जाती है (अनुच्छेद 49)। यदि निरोधात्मक या प्रवर्तन की कार्रवाई करते समय, कोई देश – चाहे वह सदस्य है अथवा नहीं – विशेष प्रकार की आर्थिक समस्याओं का सामना करता है, तो वह समस्या के समाधान के लिए सुरक्षा परिषद से परामर्श कर सकता है (अनुच्छेद 50)।

NMDC-288

अनुच्छेद 51 में सुरक्षा परिषद को प्रवर्तन (enforcement) की कार्रवाई करने की शक्ति के साथ राज्य को सामंजस्य करते हुए आत्म–रक्षा करने का अधिकार प्राप्त है। इस अनुच्छेद में चार प्रस्ताव दिए गए हैं: (1) चार्टर व्यक्ति के जन्मजात अधिकारों से उसे वंचित नहीं करेगा या संयुक्त राष्ट्र के किसी सदस्य देश पर आक्रमण की स्थिति में सामूहिक आत्मरक्षा करने से नहीं रोकेगा। (2) सुरक्षा परिषद द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए जब तक कोई उपाय नहीं किए जाते हैं तब तक यह अधिकार बना रहेगा। (3) इस अधिकार का प्रयोग करते हुए सदस्य देशों द्वारा किए गए उपायों से सुरक्षा परिषद को तत्काल सूचित किया जाएगा। (4) इस प्रकार के उपाय अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने या उसे कायम रखने के लिए सुरक्षा परिषद की प्राधिकारिता और जिम्मेदारी को प्रभावित नहीं करेंगे।

अनुच्छेद 51 में "सामूहिक-आत्मरक्षा" की अभिव्यक्ति को शामिल किया गया है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय व्यवस्था या अभिकरणों को काम करने की आज्ञा दी गई है। अध्याय-VIII में अनुच्छेद 52 से 54 हैं और इसमें अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय प्रावधानों और एजेंसियों - जैसे अमेरिकी राज्यों के संगठन (OAS), अरब-लीग के गठन और संचालन – के लिए प्रावधान किए गए हैं। अनुच्छेद 52 अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा से संबंधित मामलों पर कार्रवाई करने के लिए क्षेत्रीय व्यवस्था और एजेंसियों के गठन की अनुमति देता है। इस प्रकार की क्षेत्रीय व्यवस्था या एजेंसियाँ संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धान्तों और उद्देश्यों के अनुरूप होती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था या एजेंसियों के सदस्य विवादों को सुरक्षा परिषद के पास भेजने से पहले उनका शांतिपूर्ण तरीके से समाधान करने का प्रयास करेंगे। सुरक्षा परिषद से इस प्रकार के व्यवस्थापन और एजेंसियों के माध्यम से समझौता करने की अपेक्षा की जाती है। अनुच्छेद 53 द्वारा सुरक्षा परिषद से इस प्रकार के व्यवस्थापन या एजेंसियों का प्राधिकार के अंतर्गत प्रवर्तन की कार्रवाई के लिए आवश्यकता पड़ने पर उपयोग करने की आशा की जाती है। लेकिन क्षेत्रीय व्यवस्थापन और एजेंसियाँ सुरक्षा परिषद की अनुमति के बिना प्रवर्तन की कार्रवाई नहीं कर सकती हैं। अनुच्छेद 54 में निर्धारित किया गया है कि क्षेत्रीय व्यवस्थापन और एजेंसियाँ अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को हर समय बनाए रखने के लिए की गई कार्रवाइयों से सुरक्षा परिषद को पूर्णतः अवगत कराती रहेंगी।

अनुच्छेद 51 के अंतर्गत आत्म-रक्षा का अधिकार तब लागू होता है जब वास्तव में आक्रमण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तहत, आत्म–रक्षा के अधिकार का उपयोग तब किया जाता है जब सैनिक कार्रवाई अवश्यंभावी हो, चाहे वास्तव में ऐसा न हुआ हो। क्या चार्टर ने अब संभावित कार्रवाई को बाधित करने के लिए आत्म–रक्षा के परम्परागत अधिकार को सीमित या प्रतिबंधित कर दिया है? इस प्रश्न के संबंध में दो दृष्टिकोण हैं। पहला, इस अधिकार का प्रयोग केवल सैनिक कार्रवाई होने पर किया जा सकता है। इसके समर्थन में अनुच्छेद 51 और अनुच्छेद 2(4) का सहारा लिया जाता है, जिसमें किसी राज्य की भौगोलिक एकता या राजनीतिक स्वतंत्रता के खिलाफ धमकी न देने या बल का प्रयोग न करने का प्रावधान है। इस दृष्टिकोण के विरोध में यह तर्क दिया जाता है कि आणविक अस्त्रों और प्रक्षेपास्त्र वाहकों की इस वर्तमान परिस्थिति में किसी राज्य पर किया गया पहला हमला इतना विनाशकारी हो सकता है कि उसे आत्म-रक्षा का मौका भी नहीं मिल सकेगा। इसलिए आत्म-रक्षा में पूर्वानुमानित कार्रवाई से मना नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने परामर्शी विचार में 8 जुलाई, 1996 को आणविक शस्त्रों के भय का प्रयोग के औचित्य संबंधी प्रश्न पर स्पष्ट रूप से कुछ कहने में कठिनाई महसूस की थी।

यहाँ पर आत्म-रक्षा के अधिकार का तात्पर्य किसी दूसरे राज्य या देश के आक्रमण से अपनी रक्षा करने से है। लेकिन अब अल-कायदा जैसे गैर-राष्ट्रीय संगठन मौजूद हैं जो आतंकवादी कार्रवाइयों में लगे हैं। 11 सितम्बर 2001 को न्यूयार्क में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर टावर्स और पेंटागन पर हुए आतंकवादी हमले के एक

NMDC-288

दिन बाद सुरक्षा परिषद ने अपने 1368वें संकल्प में (12 सितम्बर 2001 को) इस प्रकार के आक्रमण को अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए खतरा घोषित किया। इसका अर्थ यह है कि ऐसी घटनाओं के विरुद्ध चार्टर के अध्याय-VII के तहत कार्रवाई की जा सकती है और अनुच्छेद 51 के अंतर्गत आतंकवादियों के खिलाफ आत्म-रक्षा में कदम उठाए जा सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माण की मान्यताओं में से एक मान्यता यह थी कि द्वितीय विश्व के दौरान के मित्र देशों के बीच सहयोग बना रहे और परिषद् के पाँच स्थायी सदस्य शेष विश्व की शांति को कायम रखने में सक्षम हो सकें। लेकिन संयुक्त राष्ट्र के कार्य शुरू करते ही इन देशों के बीच गंभीर मतभेद उत्पन्न हो गए। एक तरफ सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.) तथा दूसरी तरफ पश्चिमी देश एक-दूसरे के विरोधी बन गए, जिससे शीत युद्ध का युग आरंभ हो गया। इन्होंने दो गुट बना लिए। प्रत्येक पक्ष अपने हितों के साथ-साथ अपने पक्ष का साथ देने वाले सदस्य देशों के हित में काम करने लग गया। अपने हितों की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपनी-अपनी वीटो शक्ति का प्रयोग किया। इसकी वजह से अधिकांश समय तक परिषद् निष्क्रिय बनी रही और वह इन गुटों को अपनी स्थिति का प्रचार-प्रसार करने के लिए उग्र वाद-विवाद और दूसरे गुट की आक्रामक नियति को प्रकट करने हेतु एक मंच उपलब्ध कराने तक ही अपनी भूमिका को सीमित रख सकी। कुल मिलाकर 1946 से लेकर 1991 तक सोवियत संघ ने 114 अवसरों, संयुक्त राज्य अमेरिका ने 69, इंग्लैण्ड ने 30 और फ्रांस ने 18 बार वीटो का प्रयोग किया। 1946 से 1980 तक सुरक्षा परिषद ने तभी कोई कार्रवाई की जब वीटो का प्रयोग नहीं किया गया। लेकिन 1980 में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अधिक कठोर रुख न अपनाने के कारण सुरक्षा परिषद सक्रिय भूमिका निभाने में सफल रही। 1991 में सोवियत संघ अनेक हिस्सों में विभाजित हो गया और सोवियत संघ के उत्तराधिकारी (रूस) ने पश्चिमी देशों के साथ अच्छे आर्थिक सहयोग बनाने के लिए रूसी वीटो का प्रयोग करने में संयम से काम लिया। इसी तरह से चीन भी पश्चिमी देशों के साथ अच्छे आर्थिक संबंध कायम करने के लिए संयमित था। और इस प्रकार, 1991 से सुरक्षा परिषद अधिक सक्रिय भूमिका निभा रही है।

7.4.2 महासभा

संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य के पाँच प्रतिनिधि हो सकते हैं, लेकिन मताधिकार केवल सदस्य देश को प्राप्त होता है (अनुच्छेद 9 और 18)। 1945 में जब यह संगठन अस्तित्व में आया, उस समय इसमें 51 सदस्य थे लेकिन अब यह संख्या बढ़कर 191 हो गई है। उपनिवेशों और न्यास प्रदेशों के स्वतंत्र होने और इसका सदस्य बनने से इसकी सदस्य संख्या में वृद्धि हुई। सोवियत संघ का विभाजन हुआ और 15 नए राज्यों का जन्म हुआ, जिनमें से तीन पहले से ही इसके सदस्य थे तथा रूस के अतिरिक्त शेष देश बाद में इसके सदस्य बने। अनेक छोटे-छोटे देश जैसे मोनको, सैम माटिनो इसके सदस्य बने। यूगोस्लाविया चार देशों में विभाजित हुआ। महासभा में नए सदस्य का प्रवेश सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर किया जाता है। इस प्रकार स्थायी सदस्यों के वीटो शक्ति से गुजर कर ही नए सदस्य को इसमें प्रवेश दिया जाता है।

सभी महत्वपूर्ण मामलों पर उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से महासभा निर्णय करती है। अनुच्छेद 18 में महत्वपूर्ण विषयों की सूची दी गई है और इस सूची में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा, चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अंगों के सदस्यों का निर्वाचन और बजट के संबंध में सिफारिशें शामिल हैं। अन्य प्रश्नों का निर्णय उपस्थिति और मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से किया जाता है। उल्लिखित प्रश्न के अलावा कोई अन्य प्रश्न महत्वपूर्ण है या नहीं, इसका निर्धारण दो-तिहाई बहुमत से किया जाता है।

NMDC-288

महासभा की शक्तियों का उल्लेख अनुच्छेद 10 से 14 में किया गया है। अनुच्छेद 10 किसी भी ऐसे प्रश्न या विषय पर चर्चा करने की शक्ति प्रदान करता है, जो संयुक्त राष्ट्र चार्टर के क्षेत्र या चार्टर में दिए गए किसी भी अंग की शक्तियों और प्रकार्यों के अंतर्गत हो और इस प्रकार के प्रश्नों या विषयों पर संयुक्त राष्ट्र अथवा सुरक्षा परिषद के सदस्यों या दोनों को सिफारिशें करता है। लेकिन अनुच्छेद 12 में इसका एक अपवाद दिया गया है। वह यह है कि चार्टर द्वारा सुरक्षा परिषद को दिए गए प्रकार्यों में से किसी भी प्रश्न या स्थिति के संबंध में कार्य करते समय महासभा इस प्रकार के प्रश्नों या स्थितियों के बारे में किसी भी प्रकार की सिफारिश नहीं करेगी। व्यवहार में इस अपवाद को कठोर कार्रवाई की सिफारिशों के संबंध में सीमित माना जाता है। अन्य सिफारिशों को महासभा की चर्चा के बाद ही लागू किया जाता है, चाहे सुरक्षा परिषद इस विषय पर विचार कर रही हो। महासचिव, महासभा को ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा से संबंधित विषयों के बारे में सूचना उपलब्ध कराती रहती है जिन पर सुरक्षा परिषद द्वारा कार्रवाई की जा रही हो, महासभा का सत्र न चलने की स्थिति में महासभा या इसके सदस्यों को सूचित करती है कि सुरक्षा परिषद ने कब से इस विषय पर कार्रवाई बंद कर दी है। अनुच्छेद 11 महासभा को अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से संबंधित सामान्य सिद्धान्तों पर विचार करने की शक्ति प्रदान करता है। इसमें निरस्त्रीकरण या शस्त्र-नियंत्रण और इस प्रकार के सिद्धान्तों के बारे में सदस्यों या सुरक्षा परिषद या दोनों की सिफारिश करना भी शामिल है। महासभा ऐसे किसी भी प्रश्न पर चर्चा कर सकती है जिसे इसके किसी सदस्य या सुरक्षा परिषद या अनुच्छेद 35 (अर्थात् विवादों के शांतिपूर्ण समाधन के संबंध में चार्टर के सिद्धान्तों को स्वीकार करना और संबंधित राज्य या सुरक्षा परिषद को सिफारिश करना) में निर्धारित शर्तों के अधीन किसी ग़ैर-सदस्य देश द्वारा इसके समक्ष प्रस्तुत किया गया हो। महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा उत्पन्न करने वाली किसी भी स्थिति के बारे में सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित कर सकती है। अनुच्छेद 11 में दी गई शक्तियाँ पूर्वाग्रह से रहित हैं और अनुच्छेद 10 में दी गई सामान्य शक्तियों का विस्तार हैं। अनुच्छेद 13 अध्ययन को बढ़ावा देने और आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य से संबंधित क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मानव अधिकार प्रदान करने संबंधी शक्ति प्रदान करता है। अनुच्छेद 14 किसी ऐसी स्थिति के शांतिपूर्ण समाधान की सिफारिश करने की शक्ति प्रदान करती है जिसे महासभा सामान्य कल्याण और राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण संबंधों के लिए हानिकारक मानती है। इसमें संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के उल्लंघन के कारण उत्पन्न स्थिति भी शामिल है। इस प्रकार अनुच्छेद 10, 11 और 14 अन्तर्राष्ट्रीय विवादों से संबंधित विषयों पर चर्चा करने की क्षमता का निर्माण करते हैं और सिफारिश करते हैं; लेकिन अनुच्छेद 12 में दिए गए अपवाद इस पर लागू होते हैं अर्थात् सुरक्षा परिषद जब किसी विषय पर चर्चा कर रही हो तो महासभा उस विषय पर किसी भी प्रकार की कठोर कार्रवाई की सिफारिश नहीं कर सकती है।

नए सदस्यों के शामिल होने से महासभा की बनावट में परिवर्तन आया है जिससे महत्वपूर्ण समझे जाने वाले मुद्दों के स्वभाव में भी बदलाव आ गया है। जिस समय इस संगठन की स्थापना की गई थी, उस समय पश्चिम किसी भी समय दो-तिहाई बहुमत अपने पक्ष में करने की शक्ति रखता था। लेकिन नए सदस्यों के प्रवेश से उसकी यह शक्ति समाप्त हो गई है। इसकी स्थापना के पहले दशक के बाद जब इसने पाया कि निषेधाधिकार का प्रयोग करने से सुरक्षा परिषद को निष्क्रिय किया जा सकता है, तो पश्चिमी देशों ने इसका समाधान करने के लिए इसे महासभा के सामने प्रस्तुत किया। 1960 के बाद, नए स्वतंत्र देशों और समाजवादी देशों ने औपनिवेशिक और न्यासी क्षेत्रों की स्वतंत्रता के लिए दबाव डाला। दक्षिणी अर्थात अविकसित देशों (जिनमें अधिकतर पहले उपनिवेश थे) ने महासभा के सामने नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, राज्य के प्राकृतिक संसाधनों के ऊपर संप्रभुता, मानव अधिकार जैसे मुद्दे उठाए। उत्तरी विश्व के अर्थात् औद्योगिक देशों और दक्षिणी विश्व के देशों ने भी पर्यावरण संबंधी विषयों

NMDC-288

की चर्चा के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किया। महासभा के प्रत्येक वार्षिक सम्मेलन के शुरू में प्रत्येक सदस्य महत्वपूर्ण और तात्कालिक समझे जाने वाले विषयों को सभा के सामने प्रस्तुत कर सकता है।

1950 में "शांति के लिए एकता" (Uniting for Peace) प्रस्ताव को अपनाते समय एक महत्वपूर्ण घटना सामने आई। उससे पूर्व, कुछ समय के लिए सोवियत संघ ने परिषद् में कम्युनिस्ट चीन के स्थान पर ताइवान आधारित नेशनलिस्ट चीन ने चीन की सीट पर अधिकार बनाए रखने के विरोध में सुरक्षा परिषद का बहिष्कार किया हुआ था। और 1950 में कम्युनिस्ट उत्तरी कोरिया ने दोनों कोरियाई देशों को एक बनाने के लिए दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया, जो संयुक्त राज्य अमेरिका के संरक्षण में था। अमेरिका ने दक्षिण कोरिया की रक्षा के लिए तत्काल सेना भेजी। सुरक्षा परिषद की बैठक बुलाई गई और उसमें निर्णय गया कि उत्तरी कोरिया द्वारा किया गया आक्रमण, "शांति भंग की कार्रवाई थी और इसे तुरंत रोका जाए।" चूँकि उत्तरी कोरिया ने इस मांग को मानने से इनकार कर दिया, इसलिए परिषद् ने एक संकल्प पारित कर संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों से कोरिया गणतंत्र अर्थात् दक्षिण कोरिया को ऐसी सहायता देने का आग्रह किया जिससे आक्रमण को रोका जा सके और क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम की जा सके। सेना उपलब्ध कराने वाले सभी सदस्यों से सेनाओं को संयुक्त राष्ट्र की एकीकृत कमान के अंतर्गत रखने का अनुरोध किया गया। सेनाओं को संयुक्त राष्ट्र के झंडे और सहयोगी देश के झंडे का इस्तेमाल करने के लिए अधिकृत कर दिया गया। सुरक्षा परिषद इस प्रकार के उपाय करने के लिए सक्षम थी क्योंकि सोवियत संघ परिषद् में उपस्थित नहीं था। सोवियत संघ ने अपनी गलती महसूस की और परिषद् में वापस आ गया जिससे परिषद् कोई और महत्वपूर्ण निर्णय नहीं कर सकी।

इस अवस्था में संयुक्त राज्य अमेरिका ने महासभा में 'शांति के लिए एकता' प्रस्ताव की पहल शुरू की। इस निर्णय के अनुसार, यदि किसी स्थायी सदस्य द्वारा वीटो का प्रयोग करने से सुरक्षा परिषद कार्रवाई करने में असमर्थ हो जाती है तो महासभा का आपातकालीन विशेष सत्र बुलाया जा सकता है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए महासभा बल प्रयोग करने की सिफारिश कर सकती है। आपातकालीन विशेष सत्र को सुरक्षा परिषद के किन्हीं सात सदस्यों (बाद में नौ) या महासभा में साधारण बहुमत द्वारा संकल्प पारित कर बुलाया जा सकता है।

इस संकल्प के तहत कार्य करते हुए महासभा ने संपूर्ण कोरिया में स्थायित्व और एकीकृत कोरिया की स्थापना की माँग की। जैसे-जैसे संयुक्त राष्ट्र की अगुवाई में सेना ने उत्तरी कोरिया में प्रवेश किया, तो चीन ने बड़े पैमाने पर हस्तक्षेप किया और अमेरिकी सेनाओं को रोकना शुरू कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका, उत्तरी कोरिया और चीन के प्रतिनिधियों के बीच वार्ता के बाद युद्ध-विराम लागू किया किया। युद्ध-विराम के कारण दोनों कोरियाई देशों के बीच एक विभाजक रेखा खींची गई जो आज भी विद्यमान है। सोवियत संघ ने 'शांति के लिए एकता' प्रस्ताव की वैधता को चुनौती दी थी। लेकिन बाद में इस प्रस्ताव के अंतर्गत सभा की अनेक बैठकें आयोजित की गईं और कार्रवाई की गई।

शांति के लिए एकता प्रस्ताव की वैधता के समर्थन में यह तर्क दिया गया कि सुरक्षा परिषद को अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए "प्राथमिक" उत्तरदायित्व दिया गया है न कि विशेष उत्तरदायित्व। दूसरी तरफ महासभा चार्टर के क्षेत्र में आने वाले किसी भी विषय पर चर्चा करने और सिफारिश करने के लिए सक्षम है। संयुक्त राष्ट्र के खर्च के मामलों के संबंध में अपने परामर्शी विचारों में, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपनी राय प्रकट की है कि सुरक्षा परिषद और महासभा के बीच शक्ति विभाजन में महासभा को अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के उपाय करने से वर्जित नहीं किया गया है। न्यायालय ने कहा कि शांति-संकल्प के एकीकरण के लिए कार्रवाई करते हुए महासभा के प्रस्ताव के अनुसरण में शांति रक्षा पर किया गया व्यय संयुक्त राष्ट्र द्वारा किया सही व्यय है, इसलिए सदस्यों को बजट के अंतर्गत इसमें अपना योगदान देना चाहिए।

NMDC-288

7.4.3 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council – ECOSOC) का कार्य आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य एवं सांस्कृतिक विषयों पर अध्ययन करना, रिपोर्टों को स्वीकार करना और महासभा तथा विशिष्टीकृत एजेंसियों के लिए सिफारिशें करना है। इसमें महासभा द्वारा चुने गए 18 सदस्य हैं। प्रत्येक वर्ष सेवानिवृत्त होने वाले सदस्यों के स्थान पर 1/3 सदस्यों (6 सदस्य) का चुनाव किया जाता है।

देशों के अलग-अलग स्वार्थ, जिन्होंने अभी तक स्पष्ट रूप से विवाद का रूप धारण नहीं किया है, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के अंतर्गत आते हैं और इनका समाधान परिषद्, महासभा और संबंधित विशिष्टिकृत एजेंसियों की आगामी बैठकों में चर्चा के द्वारा किया जा सकता है।

7.4.4 न्यास परिषद्

न्यास परिषद् का कार्य न्यास क्षेत्रों के संबंध में प्रशासनिक शक्तियों की रिपोर्टों पर विचार करना और महासभा के लिए सिफारिशें करना था। परिषद् का उद्देश्य इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को स्वतंत्रता प्राप्त करने में उनकी सहायता करना है। अब तक सभी न्यास क्षेत्रों और ग़ैर-स्वशासित प्रदेशों ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है। अतः अब न्यास परिषद् की बैठकें तक नहीं होती हैं।

7.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना संयुक्त राष्ट्र के एक प्रमुख अंग के रूप में की गई थी और इसकी संविधि को संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अभिन्न अंग बनाया गया है। संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य न्यायालय की संविधि के स्वतः ही सदस्य होते हैं। यदि कोई दो या अधिक देश स्वेच्छा से अपना विवाद न्यायिक निर्णय के लिए पेश करते हैं तो अनुच्छेद 94 के अंतर्गत सदस्यों को न्यायालय के निर्णय को मानना पड़ता है। यदि कोई देश न्यायालय के निर्णय का पालन करने में असमर्थ रहता है, तो सुरक्षा परिषद आवश्यकतानुसार न्यायालय के निर्णय को प्रभावी बनाने के लिए सिफारिश कर सकता है या किए जाने वाले उपायों का निश्चय कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग में स्थित है। इसमें महासभा और सुरक्षा परिषद् द्वारा (स्वतंत्र मतदान में) निर्वाचित 15 न्यायाधीश होते हैं।

7.4.6 सचिवालय

सचिवालय में महासचिव और संगठन की ज़रूरतों के अनुसार अन्य स्टाफ शामिल होते हैं। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा की जाती है। इसका अर्थ यह है कि महासचिव के पद पर जिस व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है, वह परिषद् के सभी सदस्यों को स्वीकार्य होना चाहिए। अनुच्छेद 98 कहता है कि पद की हैसियत से महासचिव महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक और सामाजिक परिषद् और न्यास परिषद् की बैठकों में महासचिव की हैसियत से काम करेगा। उसे वे सभी कार्य करने होंगे जिन्हें इन अंगों द्वारा उन्हें सौंपा जाएगा। वह संगठन के कार्यों के संबंध में एक वार्षिक रिपोर्ट तैयार करता है और उसे महासभा के सामने प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की रिपोर्टों में वह ऐसे प्रश्नों या स्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता है जो उसके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा पहुँचा सकते हैं। वह विश्व के किसी भी भाग की स्थिति का अध्ययन करने के लिए वहाँ का दौरा कर सकता है या अपने प्रतिनिधि को भेजकर स्थिति का अध्ययन करवा सकता है और रिपोर्ट प्राप्त कर सकता है।

7.4.7 उप-अंग और आयोग

अनुच्छेद 22 के अंतर्गत महासभा और अनुच्छेद 29 के अंतर्गत सुरक्षा परिषद को आवश्यकतानुसार उप-अंगों की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् को मानव अधिकार आयोग सहित ऐसे आयोगों की स्थापना करने की शक्ति प्रदान की गई है जिन्हें परिषद् अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के लिए आवश्यक समझती है (अनुच्छेद 68)।

7.4.8 विशिष्टीकृत एजेंसियाँ

उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग से विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए बढ़ावा देने के लिए अनेक विशिष्टीकृत अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों की स्थापना की गई है। पोस्टल यूनियन, इंटरनेशनल टेली कम्युनिकेशन यूनियन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि इसके उदाहरण हैं। आर्थिक और सामाजिक परिषद् और विशिष्टीकृत एजेंसियों के बीच करार के माध्यम से इन संगठनों को संयुक्त राष्ट्र के संपर्क में लाया गया है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् एजेंसियों के कार्यों का समन्वयन, एजेंसियों को सिफारिश कर और महासभा और संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों को सिफारिश कर परामर्श द्वारा करती है (अनुच्छेद 57 और 63)। आर्थिक और सामाजिक परिषद् संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों द्वारा प्राप्त रिपोर्टों और महासभा द्वारा इस प्रकार की रिपोर्टों पर एजेंसियों को की गई सिफारिशों पर की गई कार्रवाई पर एजेंसियों से नियमित रूप से रिपोर्ट प्राप्त करती है। विशिष्टीकृत एजेंसियाँ संयुक्त राष्ट्र का अंग नहीं होती हैं, वे वृहत संयुक्त राष्ट्र परिवार से संबंधित अवश्य होती हैं।

7.5 संयुक्त राष्ट्र परिवार की संरचना के अंतर्गत विवादों का समाधान

दो प्रतिद्वंद्वी देशों के बीच विवाद तब उत्पन्न होता है जब वे एक ही विषय की माँग करते हैं। राज्यों के बीच संपर्क के दौरान अपने-अपने हितों के संबंध में विवाद उठ खड़े होते हैं। उदाहरण के लिए, नौवहन में रुचि रखने वाला देश नौवहन के लिए लम्बी-चौड़ी समुद्री सीमा की माँग करता है। समुद्र तट वाला देश जिसकी नौवहन शक्ति सीमित होती है, वह अपनी रक्षा के लिए व्यापक समुद्री स्थान चाहता है। इसी तरह से कच्चे पदार्थों की आपूर्ति करने वाला देश औद्योगिक देश से अच्छे/ज्यादा कीमत की उम्मीद करता है जबकि औद्योगिक देश सस्ती कच्ची सामग्री खरीदना चाहता है। एक देश द्वारा दूसरे देश पर अपना अधिकार प्रकट करने की स्थिति में विवाद उत्पन्न होता है। यदि कोई देश अपने देश की एक निश्चित समुद्री सीमा से दूसरे देश के जहाज़ के जाने पर आपत्ति करता है, तो विवाद खड़ा हो जाता है। कच्ची सामग्री के उत्पादक देश द्वारा इस पर भारी मात्रा में निर्यात शुल्क लगाने पर भी विवाद खड़ा हो जाता है। एक या अधिक देशों द्वारा की गई कार्रवाई से दूसरे देशों की क्षति पहुँचने की स्थिति में भी शांति भंग की संभावना उत्पन्न हो जाती है। ये मात्र कुछ उदाहरण हैं। समकालिक विश्व में ऐसे अनेक विवाद उत्पन्न होते रहते हैं।

देशों के हितों के आपस में टकराने से उत्पन्न विवादों के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्र में अनेक मंच बनाए गए हैं। विवाद को महासभा, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् या संबंधित विशिष्टीकृत एजेंसियों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। महासभा, इसकी छठी समिति और अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (एक उप-अंग) द्वारा मामले का अध्ययन करने के बाद इस पर चर्चा करने और सबके हितों के संबंध में निर्णय लेने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुला सकती है। समुद्री कानून पर तीसरा संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (यू.एन.सी.एल.ओ.एस. III) नौवहन संबंधी दावों के संबंध में उत्पन्न हित संबंधी अनेक विचारों का समाधान कर चुका है।

7.5.1 संसदीय कूटनीति

ऐसे विवाद जिसके लगातार चलते रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा होने की संभावना नहीं है, तो इसे सुरक्षा परिषद के सामने नहीं लाया जा सकता। लेकिन इसे महासभा के सामने लाया जा सकता है। इस विवाद को संसदीय कूटनीति द्वारा हल किया जाता है। यहाँ तक कि इस प्रकार के विवाद को सुरक्षा परिषद के सामने लाने पर भी इसका हल संसदीय कूटनीति द्वारा ही किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय निकायों के अंतर्गत संसदीय कूटनीति की विशेषताएँ इस प्रकार हैं – (क) संसदीय कूटनीति बहुपक्षीय वार्ता के रूप में होती है। (ख) वार्ता का मंच क़ामचलाऊ नहीं होता है बल्कि यह स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय अंग होता है और इसका कार्यक्षेत्र और उत्तरदायित्व उस विशेष प्रश्न/मुद्दे से कहीं अधिक व्यापक होता है, जिसे इसके विचारार्थ लाया गया है। (ग) नियमित सार्वजनिक वाद-विवाद, विश्व के सभी संचार के साधनों के लिए उपलब्धता, विश्व जनमत को प्रभावित करने की इसकी क्षमता, इस प्रक्रिया में शामिल होते हैं। परिचर्या निर्धारित प्रक्रिया विषयों के अनुसार संपन्न होती है, जो संबंधित विषय पर किसी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने या उसका विरोध करने की कार्रवाई को जिम्मेदारी से पूरा करती है। परिचर्या का समापन मतों के समान या असमान मूल्य द्वारा साधारण बहुमत से किसी संकल्प को स्वीकार या अस्वीकार करके किया जाता है और इसमें वीटो का प्रयोग भी किया जा सकता है। कोई भी अंग किसी भी विवाद पर कार्रवाई करते समय लगभग इन मानकों का प्रयोग करता है: पहला, शिकायतकर्त्ता पक्ष अपनी स्थिति के समर्थन में जोरदार भाषण देता है और विरोधी देश की स्थिति को अनैतिक और अवैध ठहराता है। विरोधी पक्ष भी इसी तरह से अपना पक्ष प्रस्तुत करता है। शिकायतकर्त्ता तथा विरोधी, दोनों पक्ष अपने विरोधियों के खिलाफ अपना पक्ष रखने के अपने अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। प्रश्न-उत्तर भी शृंखला की समाप्ति के बाद अंग के अन्य सदस्य अपनी इच्छा से विवाद के संबंध में अपनी-अपनी सरकारों की स्थिति सामने रखते हैं, वक्ताओं की सूची समाप्त होने के पश्चात् अध्यक्ष कार्यवाही को स्थगित कर देता है। तब सदस्य आपस में परामर्श करते हैं और इस विषय पर सर्वमान्य दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए विवाद से संबंधित पक्षों से भी परामर्श किया जाता है। यदि सुरक्षा परिषद इस विषय पर विचार करती है तो स्थायी सदस्यों से परामर्श किया जाता है और उनमें से कुछ सदस्य आम सहमति पर पहुँचने में मुख्य भूमिका निभा सकते हैं। जब कोई समूह यह महसूस करता है कि उसके द्वारा ली गई स्थिति के समर्थन में उसके पास पर्याप्त समर्थन है तो वह अंग के सामने एक मसौदा-संकल्प प्रस्तुत करता है। सम्बद्ध अंग अपनी बैठक में सुझाए गए संशोधनों पर विचार करता है और अंत में संकल्प पर अपना मत प्रकट कर इसे स्वीकार या अस्वीकार करता है। लगभग यही प्रक्रिया भिन्न-भिन्न मुद्दों पर विचार करते समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अपनाई जाती है।

अंगीकृत संकल्प के परिप्रेक्ष्य में सम्बद्ध अंग के विभिन्न सदस्यों द्वारा अपनाई गई स्थिति और प्राप्त विश्व-जनमत को ध्यान में रखते हुए संबंधित पक्ष अपनी-अपनी स्थितियों की समीक्षा करते हैं, फिर वे वार्ता करते हैं या किसी तीसरे पक्ष की मध्यस्थता को स्वीकार करते हैं। अंत में परिणामस्वरूप विवाद का हल निकल आता है और नहीं भी निकलता है। लेकिन विवाद तब तक अंग के एजेंडा में बना रहता है जब तक संकल्प द्वारा इसे दूर नहीं किया जाता है। यदि किसी भी समय विवाद भयंकर रूप धारण कर शांति के लिए खतरा पैदा कर लेता है तो इस पर फिर से विचार किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र की संरचना पर विचार करते समय शुरू में यह देखा गया था कि संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख कार्य शांति को बनाए रखना है। यदि किसी विवाद से शांति को खतरा नहीं होता है तो इसे ज्यों का त्यों बने रहने दिया जाता है क्योंकि इस प्रकार के विवाद के अपरिपक्व समाधान के लिए किया गया कोई भी प्रयास तनाव को बढ़ा सकता है और शांति के लिए खतरा पैदा कर सकता है। किसी विवाद के समाधान के लिए प्रवर्तन की कार्रवाई में बहुत अधिक लागत आती है। इसमें बहुत से व्यक्तियों और संसाधनों का

प्रयोग किया जाता है। बहुत अधिक विकेन्द्रीकृत अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों में विवाद को शांतिपूर्वक तरीकों या प्रक्रिया से हल करने का दायित्व विवादग्रस्त पक्षों पर ही छोड़ दिया जाता है। जब विवाद से शांति को खतरा होता है या शांति भंग होती है, तो शांति कायम करने और खतरे का समाधान करने के लिए सामूहिक कार्रवाई की जाती है। इस प्रक्रिया में विवाद का हल निकाला जा सकता है। विवाद का हल न निकलने की स्थिति में इसे भविष्य के लिए छोड़ दिया जाता है या यह निष्क्रिय छोड़ दिया जाता है। जैसा कि ऊपर देखा गया है, विवाद का समाधान संबंधित पक्षों द्वारा सहमत प्रक्रिया से किया जाता है जिसमें मध्यस्थ की सहायता भी प्राप्त की जा सकती है और नहीं भी प्राप्त जा सकती है या फिर नियमानुसार किसी ऐसे तीसरे पक्ष के निर्णय के अनुसार समाधान किया जाता है, जिसका फैसला मानने के लिए ये पक्ष सहमत होते हैं। सुरक्षा परिषद और महासभा विवाद का समाधान करने के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए अधिक चिंतित रहती हैं और इसे अधिक प्राथमिकता देती हैं।

7.6 साराश

संयुक्त राष्ट्र के तीन प्रमुख लक्ष्य हैं – विश्व शांति की प्राप्ति तथा इसे बनाए रखना; सभी राष्ट्रों के बीच अच्छे संबंध बनाना और विकास करना; और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए मिलकर काम करना। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संयुक्त राष्ट्र के चार्टर ने एक प्रणाली का प्रावधान किया है जो राज्यों को अपनी पसंद के शांतिपूर्ण तरीकों को अपनाकर संघर्ष-समाधान की प्रक्रिया का विकास कर अपने विवादों को हल करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इसके लिए वे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के प्रति जवाबदेह अंगों से समझौता कर व्यापक विकल्पों को भी अपना सकते हैं।

इस इकाई में हमने विवादों को हल करने के लिए महत्वपूर्ण कूटनीतिक और अधिनिर्णयन विधियों का वर्णन किया है। कूटनीतिक विधि की यह विशेषता है कि विवादग्रस्त पक्ष पारस्परिक वार्ता या मध्यस्थ की सहायता से मुद्दे पर विचार कर विवाद का समाधान करने के लिए सहमत हो जाते हैं। पक्षों के बीच करार द्वारा विवाद का हल किया जाता है। इसके विपरीत अधिनिर्णयन विधि में तीसरे पक्ष को विवाद पर निर्णय देने के लिए अधिकृत किया जाता है। जबकि कूटनीतिक विधि में पक्षों के बीच मतभेदों का समाधान कर विवाद का हल निकाला जाता है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक पक्ष को कुछ लाभ और कुछ हानि उठानी पड़ती है। अधिनिर्णयन में फैसला पूर्णतः किसी एक पक्ष के पक्ष या विपक्ष में जा सकता है। एक अन्य अंतर यह है कि कूटनीतिक विधि विवाद का हल ढूँढ़ने में सफल नहीं भी हो सकती है, लेकिन अधिनिर्णयन द्वारा निर्णय की निरपवादता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।

7.7 अभ्यास प्रश्न

1) पंच-निर्णय और न्यायिक समाधान विवादों का शांतिपूर्ण समाधान करने की अन्य विधियों, जिनमें किसी मध्यस्थ की भूमिका होती है, से किस प्रकार भिन्न हैं?

2) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के संबंध में सुरक्षा परिषद की शक्तियों का परीक्षण कीजिए।

3) शांति के लिए एकता प्रस्ताव के महत्व की विवेचना कीजिए।

4) संयुक्त राष्ट्र की संरचना के भीतर संसदीय कूटनीति की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

5) आत्म-रक्षा के अधिकार के संबंध में संयुक्त राष्ट्र चार्टर की स्थिति की समीक्षा कीजिए।

इकाई 8 संयुक्त राष्ट्र : शांति-निर्वहन, शांति-रचना और अधिनिर्णयन

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 शांति-निर्वहन, शांति-रचना और शांति-निर्माण : विशेषताएँ

- 8.2.1 शांति-निर्वहन
- 8.2.2 शांति-रचना
- 8.2.3 शांति-निर्माण

8.3 व्यवहार में शांति-निर्वहन, शांति-रचना और शांति-निर्माण

- 8.3.1 कांगो
- 8.3.2 इराक और कुवैत में शांति-निर्वहन
- 8.3.3 साइप्रस में शांति-निर्वहन
- 8.3.4 निकारागुआ
- 8.3.5 हैती
- 8.3.6 पश्चिमी ईरियन
- 8.3.7 पूर्वी तैमूर
- 8.3.8 कम्बोडिया
- 8.3.9 नामीबिया
- 8.3.10 अंगोला
- 8.3.11 रवाण्डा
- 8.3.12 सोमालिया
- 8.3.13 पश्चिमी सहारा
- 8.3.14 मोज़ाम्बीक
- 8.3.15 यूगोस्लाविया

8.4 अधिनिर्णयन

- 8.4.1 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
- 8.4.2 यूरोपीय संघ
- 8.4.3 यूरोपीय मानव अधिकार संगठन और यूरोपीय मानव अधिकार न्यायालय
- 8.4.4 मानव अधिकार अंतःअमेरिकी न्यायालय
- 8.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय
- 8.4.6 विश्व व्यापार संगठन

8.5 सारांश

8.6 अभ्यास प्रश्न

NMDC-288

8.1 प्रस्तावना

शांति बनाए रखने के लिए संयुक्त राष्ट्र के कार्य को व्यापक रूप से चार समूहों में बाँटा जा सकता है – निरोधात्मक, कूटनीति, शांति-रचना, शांति-निर्वहन; और शांति-निर्माण। निरोधात्मक कूटनीति संघर्ष के उग्र रूप धारण करने से पहले संबंधित पक्षों से संघर्ष का समाधान करवाने का प्रयास करती है। शांति-रचना कूटनीतिक तरीके से संघर्ष को दूर करने का प्रयास करती है, लेकिन यह प्रयास शक्ति परीक्षण या संघर्ष के उग्र रूप धारण करने के बाद किया जाता है। यह संघर्ष में शामिल पक्षो से युद्ध-विराम करवाने का प्रयास करती है। संयुक्त राष्ट्र की शांति-निर्वहन बल की भूमिका इस अवस्था में अपना काम करती है और वह यह सुनिश्चित करती है कि युद्ध-विराम का सभी पक्षों द्वारा पालन किया जा रहा है। शांति-निर्माण अंतिम अवस्था है जो सामाजिक स्तर में सुधार, विधि-व्यवस्था में सुधार और कभी-कभी नई सरकार का गठन कर शांति कायम करती है।

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे की विधियों से विद्यार्थियों को परिचित कराना है, जो शुद्धतः कूटनीतिक, शांति-निर्माण, शांति-निर्वहन और अधिनिर्णयन से संबंधित नहीं हैं। शांति-निर्माण में अध्याय VI में उल्लिखित विवादों के समाधान की परम्परागत और कूटनीतिक विधियाँ शामिल हो सकती हैं। शांति-निर्वहन इससे आगे अपना काम करती है, यद्यपि यह अध्याय VII में उल्लिखित सैनिक शक्ति का थोड़ा-बहुत प्रयोग करती है। यह संघर्षरत राष्ट्रों को समझौते तक पहुँचाने में ग़ैर-आक्रामक सैन्य शक्ति का सहारा लेती है। विवाद को दूर करने के अन्य ग़ैर-कूटनीतिक विधियों में अधिनिर्णयन विधि शामिल है, जिसमें एक तीसरे पक्ष को विवाद के संबंध में निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त

विषय के तथ्यों का निर्धारण कर और तथ्यों पर उपयुक्त कानून लागू कर विवाद पर निर्णय लिया जाता है। यह इकाई अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice - ICJ) और अन्य न्यायिक अभिकरणों के अधिनिर्णयन संबंधी कार्यों पर भी प्रकाश डालती है।

8.2 शांति-निर्वहन, शांति-रचना और शांति-निर्माण : विशेषताएँ

8.2.1 शांति-निर्वहन

औपचारिक रूप से "शांति-निर्वहन" का संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में उल्लेख नहीं है। इसका सूत्रपात संयुक्त राष्ट्र के कार्यकरण से हुआ है। इसका वर्णन निष्पक्ष और शुद्ध रूप में *ब्ल्यू हेलमेट्सः ए रिव्यू ऑफ यूनाइटेड नेशन्स पीसकीपिंग* में किया गया है। इस प्रकार, "जैसे-जैसे संयुक्त राष्ट्र वर्ष-दर-वर्ष अपना काम करता गया, उसे विवादित क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए दबाव और शाक्ति का प्रयोग किए बिना शांति-निर्वहन के कार्य के लिए एक संगठन की आवश्यकता महसूस हुई। यह कार्य स्वैच्छिक है और सहमंति और सहयोग के आधार पर किया जाता है। यद्यपि इसमें सैन्य शक्ति शामिल होती है, लेकिन वे अपना लक्ष्य हथियारों का इस्तेमाल किए बिना प्राप्त करने का प्रयास हैं। इस प्रकार यह कार्य अनुच्छेद 42 (यू.एन., 1999) के अंतर्गत संयुक्त राष्ट्र की "दबाव की कार्रवाई" के विपरीत है"।

शांति-निर्वहन बल ऐसे दो पक्षों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं जो एक-दूसरे के खिलाफ सैनिक कार्रवाई में शामिल होते हैं और जिन्होंने युद्ध-विराम को स्वीकार किया हो। कुछ परिस्थितियों में, यह माना जाता है कि मात्र प्रेक्षण की कार्रवाई से इस उद्देश्य की संतुष्टि की जाती है कि वास्तव में युद्ध विराम का पालन किया जा रहा है या नहीं। उदाहरण के लिए 1947 में, सुरक्षा परिषद ने इंडोनेशिया के राष्ट्रवादियों के विरुद्ध प्राचीन औपनिवेशिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए डच शासन के बीच के संघर्ष

NMDC-288

के संबंध में इंडोनेशिया में संयुक्त राष्ट्र का एक प्रेक्षक दल का गठन किया। प्रेक्षक दल का कार्य विभिन्न युद्ध विरामों और छुट-पुट लड़ाइयों का प्रेक्षण कर उनके बारे में सुरक्षा परिषद को अवगत कराना था। सुरक्षा परिषद् ने प्रेक्षकों से प्राप्त रिपोर्ट पर विचार किया और इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के लिए काम किया। 1949 में, सुरक्षा परिषद् ने भारत और पाकिस्तान में एक संयुक्त राष्ट्र सैनिक प्रेक्षक समूह (UN Military Observer Group in India and Pakistan – UNMOGIP) का गठन यह देखने के लिए किया कि भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर में हुए युद्ध विराम का पालन किया जा रहा है या नहीं। यह समूह अभी भी मौजूद है। दोनों पक्ष युद्ध-विराम पर सहमत हुए। कुछ अन्य मामलों में भी प्रेक्षण समूहों को लगाया गया था।

एक प्रेक्षक समूह में 100 से अधिक सदस्य नहीं होते हैं। जबकि शांति-निर्वहन बल में हल्के हथियारों से लैस कई हजार सैनिक हो सकते हैं। प्रेक्षक समूह केवल प्रेक्षण करता है और अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है, लेकिन शांति-निर्वहन बल सबसे पहले युद्ध विराम की स्थिति सुनिश्चित करता है और संभवतः युद्ध विराम से पहले सैनिकों को उनके युद्ध स्थलों से हटाता है। शांति-निर्वहन बल का प्रतिरूप (मॉडल) 1956-57 में स्थापित संयुक्त राष्ट्र आपातकालीन बल (UN Emergency Force – UNEF-I) में देखा जा सकता है। मिस्र द्वारा स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद ब्रिटेन, फ्रांस और इज़रायल ने मिस्र के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध शुरू किया था। संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने शांति संकल्प यूनिट के अंतर्गत एक आपातकालीन विशेष सत्र बुलाया और युद्ध विराम की घोषणा की तथा महासचिव को युद्ध विराम के प्रेक्षण के लिए एक शांति-निर्वहन बल की नियुक्ति का निर्देश दिया।

शांति-निर्वहन का संचालन कई सिद्धान्तों पर आधारित होता है। पहला सिद्धांत है – संघर्षरत पक्षों को युद्ध विराम तथा सहमत क्षेत्रों तक सैनिकों को वापस बुलाने तथा अपनी भूमि में शांति-निर्वहन बलों की तैनाती के लिए तैयार होना चाहिए। मिस्र की सहमति से संयुक्त राष्ट्र आपातकालीन बल की स्थापना की गई। 1967 में जब मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने शांति-निर्वहन बल को रखने की अपनी सहमति वापस ली, तो संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ऊ. थॉट ने बल की वापसी के आदेश दे दिए। शांति-निर्वहन बल संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों और महासचिव तथा सहयोगी सदस्यों की इच्छा से काम करता है। सामान्यतः संघर्षरत कोई एक पक्ष अपनी भूमि पर शांति-निर्वहन बल को तैनात करने के लिए तब तैयार नहीं होता है यदि संघर्ष के परिणामों से शांति-निर्वहन बल में शामिल देश का कोई निहित स्वार्थ होता है।

दूसरा, शांति-निर्वहन बल को प्रतिद्वंद्वी पक्षों के बीच निष्पक्ष और तटस्थ रहकर अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन करना होता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो जिस देश में बल तैनात है, वह देश बल के कार्यों में बाधा उत्पन्न कर सकता है। इज़राइल द्वारा गोलान हाइट्स पर कब्जा करने के बाद 1974 में सीरिया और इज़राइल के बीच शांति समझौते के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक बल (UN Observer Force - UNDOF) की स्थापना की। इज़राइल के इस कब्जे के कारण सीरिया और इज़राइल के बीच स्थायी शांति में बाधा पहुँच रही थी। लेकिन संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक बल अपनी स्थापना से लेकर अब तक सीरिया और इज़राइल के बीच शांति स्थापित करने में सफल रहा है और इस सफलता का एक प्रमुख कारण संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक बल की निष्पक्ष और तटस्थ भूमिका रही है।

तीसरा, शांति-निर्वहन बलों को केवल आत्म-रक्षा में बल प्रयोग करने का अधिकार दिया गया है। शांति-निर्वहन बलों को राइफल और परिवहन के लिए वाहन दिए जाते हैं। वे बलपूर्वक कार्रवाई नहीं कर सकते हैं। शांति-निर्वहन बल, बलपूर्वक कार्रवाई करने वाले बलों और आत्म-रक्षा का कार्य न करने वाले पर्यवेक्षक मिशन से भिन्न होते हैं। शांति-निर्वहन बल को अशांत क्षेत्रों तथा अन्य असैनिक क्षेत्रों की निगरानी या पेट्रोलिंग करनी होती है। हल्के हथियारों से लैस पर्यवेक्षक समूह शांति-निर्वहन का कार्य करने में असक्षम होते हैं।

NMDC-288

8.2.2 शांति-रचना

शांति-निर्वहन को शांति के एक कार्य (एजेंडा) के रूप में परिभाषित किया गया है। निरोधात्मक कूटनीति, शांति-रचना और शांति-निर्माण, महासचिव की रिपोर्ट इसके अंग हैं। इनके अंतर्गत चार्टर के अध्याय VI में उल्लिखित "शांतिपूर्ण प्रयासों या साधनों के द्वारा संघर्षरत पक्षों के बीच समझौतों की कार्रवाई शामिल है" (इंटरनेशनल लीगल मैटीरियल्स (आई एल एम), 1992, पृ. 956, 960) लेकिन वास्तविक जीवन में यह अपनी सीमा से बाहर जाकर भी काम करता है। इसमें उत्पीड़क और बलपूर्वक की गई कार्रवाई भी शामिल हो सकती है, जो शांति-रचना के लिए सहमत कार्रवाई के संगत नहीं है।

8.2.3 शांति-निर्माण

शांति के एजेंडे में महासचिव बुतरस बुतरतस घाली ने "शांति-निर्माण" को ऐसे पक्षों के बीच, जिन्होंने शांति-निर्माण के प्रयासों के फलस्वरूप कुछ समय के लिए संघर्ष बंद कर दिया हो, नागरिक संघर्ष को फिर से शुरु होने से रोकने के लिए एक उपाय के रूप में सामने रखा था। युद्ध विराम के बाद इसके फिर से शुरु होने की संभावना बनी रहती है। गृह युद्ध के उग्र रूप धारण करने के फलस्वरूप सभ्य समाज का ढाँचा नष्ट हो जाता है। उनके द्वारा शांति-निर्माण के लिए प्रस्तुत किए गए उद्देश्यों में "पहले के युद्ध में शामिल पक्षों को निरस्त्र करना और शांति व्यवस्था कायम करना, हथियारों का जमाव इनका संभावित विनाश, शरणार्थियों को वापस अपने देश भेजना, सुरक्षा जवानों के लिए परामर्श और प्रशिक्षण सहायता, चुनावों की देखरेख करना, मानव अधिकारों को बचाने के लिए प्रयास तेज़ करना, सरकारी संस्थानों में सुधार करना तथा उन्हें सुदृढ़ बनाना और राजनीतिक भागीदारी की औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रक्रिया को बढ़ावा देना शामिल है।" (वेजवुड और एच. के. जैकॉबसन, "*सिंपोजियमः स्टेट रिकंस्ट्रक्शन ऑफ्टर सिविल कंफ्लिक्ट*", 95, एम. जे. आई. एल. (2001), पृ.1)। शांति-निर्माण का व्यापक प्रभाव होता है। कुछ प्रभाव अल्पकालिक और कुछ दीर्घकालिक होते हैं। शांति-रचना में कठोर कार्रवाई करने में समस्याएँ आ सकती हैं, लेकिन शांति-निर्माण की कार्रवाई में कुछ कठोर कदम उठाए जा सकते हैं। अतः शांति-रचना में कुछ शांति-निर्माण की कार्रवाई भी शामिल हो सकती है। इस इकाई के अगले भाग में दिए गए मामलों में, यह देखा जा सकता है कि शांति-निर्वहन, शांति-रचना और शांति-निर्माण की प्रक्रिया अलग-अलग रूपों और क्रमों में अपनाई जाती है।

8.3 व्यवहार में शांति-निर्वहन, शांति-रचना और शांति-निर्माण

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ है। केवल संयुक्त राष्ट्र की मौजूदगी ही इसका एकमात्र कारण नहीं है। आणविक बम और व्यावहारिक अस्वीकार्य पैमाने पर पारस्परिक सुनिश्चित विनाश इसका कारण हो सकता है। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद छोटे स्तर पर युद्ध हुए हैं जैसे - भारत और पाकिस्तान, ईरान और इराक, इंगलैण्ड और अर्जेंटीना, इज़राइल और इसके पड़ोसियों आदि के बीच युद्ध। लेकिन गृह युद्धों और आंतरिक संघर्षों से बड़े पैमाने पर जन-धन की क्षति हुई है। एक अनुमान के अनुसार, गृह युद्धों से विश्व के सबसे गरीब देशों में बड़े पैमाने पर तबाही हुई है। इनमें कई लाख लोगों की मृत्यु हुई है, इससे भी ज्यादा लोगों को अपने घर छोड़ने पड़े हैं, करोड़ो डॉलर के संसाधन नष्ट हुए हैं और आर्थिक अवसर बर्बाद हुए हैं। (व्हाइट, एन. डी. *कीपिंग दी पीसः द यूनाइटेड नेशन्स एंड द मेंटनेंस ऑफ इंटरनेशनल पीस एंड सिक्योरिटी*, (द्वितीय संस्करण), मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997, पृ. 277)। इन स्थितियों में शांति-निर्वहन, शांति-रचना और शांति-निर्माण की कार्रवाइयों को सुरक्षा परिषद् की देखरेख में अपना कार्य संचालन करना पड़ता है। कुछ मामलों में सुरक्षा परिषद् को पर्याप्त सफलता मिली है, कुछ में इसे आंशिक सफलता मिली और कुछ में इसे सफलता नहीं मिली। गृह युद्ध की स्थिति में शांति-रचना का कार्य मुश्किल होता है। ऐसी स्थिति में दो से अधिक समूह संघर्ष में उलझे होते हैं। संघर्ष की दिशा भी स्पष्ट नहीं होती है और छापामार (गुरिल्ला) युद्ध की संभावना बनी रहती है। इस वज़ह से

NMDC-288

युद्ध विराम की दिशा तय करना और उस पर कायम रहना बहुत ही कठिन है। आइए, अब हम अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति के संघर्षों के साथ-साथ नागरिक संघर्ष की कुछ स्थितियों की भी चर्चा करें।

8.3.1 कांगो

कांगों ने 1960 में बेल्जियम के शासन से स्वतंत्रता प्राप्त की। स्वतंत्रता से पहले और बाद में, कांगो एक एकीकृत राष्ट्र की अपेक्षा आदिवासियों के विभिन्न समूहों का देश बना रहा। बेल्जियम ने मानवीय सहायता के नाम पर विभिन्न आदिवासी समूहों के बीच चल रहे विवाद में हस्तक्षेप किया। राष्ट्रपति कसावूबू और प्रधानमंत्री लुमुम्बा ने महासचिव डैग हैमरशल्ड को संदेश भेजकर "अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरनाक बाह्य हस्तक्षेप" से उनके देश की रक्षा करने के लिए सैनिक सहायता देने का अनुरोध किया। महासचिव ने चार्टर ने अनुच्छेद 99 के तहत सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष से सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाने के लिए कहा। परिषद की बैठक हुई, कांगो की स्वतंत्रता के मात्र दो सप्ताह के बाद ही, एक संकल्प पारित कर बेल्जियम से अपनी सेना वापस बुलाने के लिए कहा गया। महासचिव को कांगो की सरकार के परामर्श से तब तक आवश्यक सैन्य सहायता देने के लिए अधिकृत किया गया जब तक कांगो की सेनाएँ अच्छी तरह से अपना कार्य करना शुरू न कर दें। महासचिव ने कांगो में संयुक्त राष्ट्र कार्रवाई (UN Operations in the Congo – ONUC) शुरू कर दी।

लेकिन आंतरिक संघर्ष के चारों तरफ फैलने से कांगो की हालत और खराब हो गई। कांगो के कटंगा (Katanga) प्रान्त के अध्यक्ष शोम्बे (Tshombe) ने अलग होने की घोषणा कर दी और बेल्जियम की सेना की टुकड़ियों को वापस नहीं भेजा। एक बार फिर, महासचिव की पहल पर एक और संकल्प पारित किया गया जिसमें कांगो की एकता को मान्यता दी गई, बेल्जियम की सेना को कांगो छोड़ने का आदेश दिया गया और इस संबंध में आवश्यक कार्रवाई करने के लिए महासचिव को अधिकृत कर दिया गया। संकल्प में सभी राष्ट्रों से कांगो में हस्तक्षेप न करने का अनुरोध किया गया, क्योंकि इससे कांगो की क्षेत्रीय एकता और राजनीतिक स्वतंत्रता कमज़ोर हो सकती है।

बेल्जियम ने कटंगा से अपनी सेना हटाने से मना कर दिया और कांगो में संयुक्त राष्ट्र कार्रवाई के पास कटंगा में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। परिषद् ने फिर एक संकल्प पारित किया और कांगो में संयुक्त राष्ट्र कार्रवाई को कटंगा में प्रवेश न करने का अधिकार प्रदान किया और यह घोषणा की कि कांगो में संयुक्त राष्ट्र कार्रवाई इसका एक पक्ष या समूह नहीं होगा और वह आंतरिक संघर्ष के निष्कर्ष को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करेगा। परिषद ने सदस्यों से चार्टर के अनुच्छेद 25 और 49 के अनुसार निर्णय लेने के लिए कहा।

कांगो की स्थिति और बिगड़ गई क्योंकि राष्ट्रपति कसावूबू और प्रधानमंत्री लुमुम्बा ने एक–दूसरे को उनके पद और सेना प्रमुख के पद से बर्खास्त कर दिया तथा जनरल मोबुटू ने विद्रोह कर दिया। इस परिस्थिति में सोवियत संघ ने महासचिव द्वारा प्रस्तावित संकल्प पर वीटो कर दिया। अब, सोवियत संघ लुमुम्बा को अपना समर्थन दे रहा था और संयुक्त राज्य अमेरिका कसावुबु का समर्थन कर रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस विवाद को 'शांति के लिए एकता' प्रस्ताव के अंतर्गत महासभा को सौंपने का प्रस्ताव रखा। महासभा ने एक संकल्प पारित किया और कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति को बनाए रखने के लिए संयुक्त राष्ट्र के लिए यह ज़रूरी है कि वह कांगो की केन्द्र सरकार की सहायता करे और इसके लिए महासचिव डैग हैमरशल्ड (Dag Hammerskjold) से "कठोर कार्रवाई" करने का अनुरोध किया गया जिससे कांगो की कानून व्यवस्था, एकता, अखंडता और राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा की जा सके। इसने अपने सभी सदस्यों से संघर्ष में हस्तक्षेप न करने का आग्रह किया और उन्हें चार्टर के अनुच्छेद 25 और 49 के अंतर्गत दी गई उनकी बाध्यताओं की याद दिलाई। इसके तुरंत बाद ही डैग हैमरशल्ड की कांगो में यात्रा करते समय एक वायु दुर्घटना में मृत्यु हो गई।

NMDC-288

अपेक्षित बहुमत न होने की स्थिति में महासभा आगे अपना कार्य न कर सकी और संकल्प पारित न कर सकी। इसके बाद फिर मामले को वापस सुरक्षा परिषद् में उठाया गया, जो संकल्प पारित करने के लिए सक्षम थी। इसके दो भाग हैं – प्रथम भाग में स्थिति को "अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए खतरा" और "गंभीर गृह युद्ध की स्थिति" के रूप में माना गया है। इसने गृह युद्ध रोकने, युद्ध विराम की व्यवस्था करने और सभी प्रकार की सैनिक कार्रवाई को स्थगित करने तथा आवश्यक होने पर अंतिम उपाय के रूप में बल प्रयोग करने के लिए संयुक्त राष्ट्र से अनुरोध किया। इसने बेल्जियम की सैन्य टुकड़ियों, सलाहकारों और भाड़े के सिपाहियों को वापस बुलाने का आग्रह किया। इसने वायु दुर्घटना में लुमुम्बा की मृत्यु की जाँच कराने का भी निर्णय लिया क्योंकि ऐसा आरोप था कि जिस हवाई अड्डे पर उन्हें उतरना था उसे सेना ने बंद कर दिया था। संकल्प में मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रता के उल्लंघन की घटना का भी उल्लेख किया गया। इसने कटंगा की सार्वभौमिकता या संप्रभुता के दावे को भी अस्वीकार किया और महासचिव को संयुक्त राष्ट्र की कमान के नीचे काम न करने वाले विदेशी सैनिकों को बाहर निकालने के लिए आवश्यक होने पर बल का प्रयोग करने सहित "कठोर कार्रवाई" करने के लिए अधिकृत किया।

यहाँ पर यह देखा जा सकता है कि कटंगा में केन्द्र सरकार की सत्ता को बहाल करने के लिए संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं को बल का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त था। लेकिन उसे संघर्ष को समाप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का राजनीतिक समाधान थोपने का अधिकार प्राप्त नहीं था। लेकिन दलों को राजनीतिक व्यवस्था कायम करने में सहायता के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय लागू करने के लिए बल प्रयोग की कार्रवाई ज़रूरी हो गई थी। अंत में, एक मज़बूत राज्य का उदय हुआ जिसे ज़ेयर कहा गया। यह कुछ हद तक बल की कार्रवाई वाला संयुक्त राष्ट्र की शांति-निर्वहन की एक कार्रवाई थी। शायद अब इसे शांति-रचना के नाम से पुकारा जाता है।

8.3.2 इराक और कुवैत में शांति-निर्वहन

सीमित सैन्य कार्रवाई के साथ शांति-निर्वहन संयुक्त राष्ट्र इराक-कुवैत पर्यवेक्षण मिशन (UN Iraq-Kuwait Observation Mission – UNIKOM) को # गए कार्य की % थी। यह मिशन सुरक्षा परिषद् द्वारा 1991 में स्थापित किया गया था। 1990 में इराक ने कुवैत पर आक्रमण किया और सुरक्षा परिषद् ने पहले अहिंसक ढंग से कार्रवाई करने की स्वीकृति दी। जब अहिंसक ढंग से कार्रवाई को सफलता नहीं मिली तो सुरक्षा परिषद् ने अमेरिका के नेतृत्व में संयुक्त सेना को इराक के कब्जे से को मुक्त करने के लिए अधिकृत किया। कुवैत की स्वतंत्रता के बाद, सुरक्षा परिषद् ने एक संकल्प पारित कर युद्ध विराम की शर्तों का निर्धारण किया। इराक ने इन शर्तों को मान लिया और औपचारिक रूप से कुवैत युद्ध विराम लागू हो गया। संयुक्त राष्ट्र इराक-कुवैत पर्यवेक्षण मिशन की स्थापना असैनिक क्षेत्रों की देखरेख के लिए की गई और 1993 में इसकी ताकत को बढ़ाकर इसे असैनिक क्षेत्रों के उल्लंघन को रोकने की शक्ति प्रदान कर दी गई।

8.3.3 साइप्रस में शांति-निर्वहन

संयुक्त राष्ट्र ने साइप्रस में तटस्थ और सीमित प्रकार की शांति-निर्वहन की भूमिका अदा की। 1963 में, साइप्रस के राष्ट्रपति आर्च बिशप मकारियोस ने सांविधानिक संशोधन की घोषणा की। इस घोषण पर ग्रीक और तुर्कों के समुदायों के बीच हिंसा और उपद्रव शुरू हो गया। सुरक्षा परिषद् ने मार्च, 1964 में एक संकल्प पारित किया, जिसमें यह चिन्ता व्यक्त की गई कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा खतरे में पड़ सकती थी और अपने सदस्यों से किसी भी प्रकार की कार्रवाई न करने के लिए कहा क्योंकि इससे

को समाप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाने के लिए कहा गया तथा साइप्रस की सरकार की सहमति

NMDC-288

से संयुक्त राष्ट्र शांति-निर्वहन सेना (UN Peacekeeping Force – UNFICYP) के गठन की स्वीकृति दी गई। इस सेना बल का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को सुरक्षित बनाए रखना था। 1964 और 1974 के बीच, संयुक्त राष्ट्र शांति-निर्वहन सेना ने युद्ध कर रही दोनों सेनाओं के बीच मध्यस्थ का काम नहीं किया। इसने एक पुलिस बल की तरह शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने तथा उसे बहाल करने का काम किया। 1974 में राष्ट्रपति मकारियोस के विरुद्ध ग्रीस का समर्थन प्राप्त सेना ने काम करना शुरू कर दिया जिसके परिणामस्वरूप ग्रीस की सेना के खिलाफ तुर्की ने आक्रमण कर दिया। महासचिव तुर्क वाल्देम और साइप्रस के प्रतिनिधियों ने सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाने का अनुरोध किया। 20 जुलाई, 1974 को जिस दिन अपनी मुस्लिम जनता के समर्थन में टर्की ने साइप्रस पर आक्रमण किया था, सुरक्षा परिषद् ने एक संकल्प पारित कर अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को गंभीर खतरे की घोषणा कर दी और विदेशी सैनिक हस्तक्षेप को बंद करने की माँग की। चार्टर के अनुच्छेद 39 को लागू कर दिया गया और अनिवार्य भाषा का प्रयोग कर अनुच्छेद 40 के तहत अनंतिम उपाय किए गए। महासचिव ने अपनी रिपोर्ट में सुझाव दिया कि संयुक्त राष्ट्र शांति-निर्वहन सेना को तुर्की के सैनिकों और ग्रीक साइप्रस के सैनिकों के बीच एक सुरक्षा क्षेत्र का निर्माण करना चाहिए। सुरक्षा परिषद् ने महासचिव से रिपोर्ट को लागू करने का अनुरोध किया। साइप्रस मामले को सहमतिजन्य शांति-निर्वहन की कार्रवाई के सदृश माना गया। इसमें केवल इतना अंतर था कि इस बल ने कुछ समय के लिए शांति-निर्वहन के कार्य के लिए पुलिस का काम भी किया।

8.3.4 निकारागुआ

1980 में संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संयुक्त राष्ट्र को विश्व के किसी भी क्षेत्र में ग़ैर-साम्यवादी ताकतों को अपना समर्थन देना चाहिए चाहे वे सरकारी हों अथवा ग़ैर-सरकारी। इस नीति को अपनाते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका की केन्द्रीय सतर्कता एजेंसी (Central Intelligence Agency – CIA) (सी.आई.ए.) ने निकारागुआ में सरकार के खिलाफ लड़ रहे समूहों को अपना समर्थन दिया। 1987 में, क्षेत्रीय शांति समझौता हुआ, जिसे गुवाटेमाला समझौता

पर आक्रमण करने की इज़ाजत दी। नवम्बर, 1989 में अपनाए गए एक संकल्प द्वारा सुरक्षा परिषद् ने 1990 में शांति प्रयास के तहत एक सैनिक घटक या टुकड़ी की स्थापना की। इसमें दो समूह थे – केन्द्रीय अमेरिका में संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक समूह (UN Observer Group in Central America) (ओ.एन.यू.सी.ए.) जिसका कार्य चुनावों का पर्यवेक्षण करना था और गुवाटेमाला समझौते के अनुपालन की देखरेख के लिए शांति प्रयास का सैनिक घटक। 1990 में निकारागुआ में हुए चुनावों में वाम पक्ष वाले विरोधी गुट ने बढ़त प्राप्त की। इसके बाद वहाँ पर सेना के विघटन की प्रक्रिया शुरू हो गई। होंडुरास में विद्रोही गुटों को विघटित कर दिया गया; कंट्रा के विरोधी निकारागुआ में निश्चित स्थानों पर एकत्र हुए। केन्द्रीय अमेरिका ने और अधिक सैनिकों को शामिल कर हथियारों और वर्दी सहित अन्य सैनिक साजो-समान को पहुँचाने की जिम्मेदारी ली। निरस्त्रीकरण का कार्य कठिन था। लेकिन केन्द्रीय अमेरिका में संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक समूह (ओ.एन.यू.सी.ए.) के कमांडर और संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने निरस्त्रीकरण और विघटन के कार्य पर संतोष व्यक्त किया। यह ऑपरेशन शांति-निर्वहन की प्रकृति का था।

8.3.5 हैती (Haiti)

1990 में हैती के राष्ट्रपति चुने गए राष्ट्रपति अरिस्टाइड को सेना ने 1991 में अपदस्थ कर दिया। सुरक्षा परिषद् ने तेल और हथियारों पर प्रतिबंध लगा दिया। इसके फलस्वरूप सैनिक शासक राष्ट्रपति को अधिकार देने पर सहमत हो गया। प्रतिबंध हटा दिए गए, लेकिन सैनिक नेतृत्व अपनी वचनबद्धता को पूरा करने में असफल रहा। 1994 में, सुरक्षा परिषद् ने एक संकल्प पारित किया और संयुक्त राज्य अमेरिका

NMDC-288

को लोकतंत्र की बहाली के लिए सैनिक कार्रवाई करने का अधिकार प्रदान किया। सैनिक कार्रवाई की धमकी से सैनिक शासक पद छोड़ने के लिए विवश हो गया तथा उसने लोकतंत्र की वापसी के लिए संयुक्त राष्ट्र बल की निगरानी पर भी स्वीकार कर ली। लोकतंत्र की पुनर्स्थापना के बाद सभी प्रतिबंधों को हटा दिया गया। यह लोकतांत्रिक बलों और सैनिक विरोधियों के बीच शांति-निर्वहन का एक उदाहरण है।

8.3.6 पश्चिमी ईरियन

यद्यपि इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के मुद्दे को 1950 में सुलझा लिया गया था, लेकिन इस द्वीप समूह के कुछ द्वीपों के ऊपर नीदरलैण्ड और इंडोनेशिया के बीच विवाद चलता रहा। इनमें से पश्चिमी ईरियन भी एक द्वीप था। इंडोनेशिया ने कुछ आदमियों को वायुयान से जंगलों में उतारा जिन्होंने डच सैनिकों से छापामार (गुरिल्ला) युद्ध किया। 1962 में, नीदरलैंड्स और इंडोनेशिया पश्चिमी ईरियन के प्रशासन को संयुक्त राष्ट्र की एक अस्थाई कार्यकारी ऑथरिटी (UN Temporary Executive Authroity – UNTEA) को हस्तांतरित करने और इंडोनेशिया के क्षेत्र के हस्तांतरण को निलम्बित रखने पर सहमत हो गए। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा बलों (UN Security Force – UNSF) (यू.एन.सी.एफ.) को युद्ध विराम के पर्यवेक्षण का कार्य सौंपा गया, जिसके बाद हस्तांतरण की कार्रवाई शुरू की जानी थी। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा बलों ने हस्तांतरण का कार्य पूरा होने तक पुलिस का काम करेगा। संयुक्त राष्ट्र मिशन ने सफलताप्रूर्वक अपना काम पूरा किया।

8.3.7 पूर्वी तैमूर

1975 तक पूर्वी तैमूर पुर्तगाल का उपनिवेश था और इस पर इंडोनेशिया ने जबरदस्ती कब्जा किया हुआ था। लम्बे समय तक चली वार्ता के बाद, पुर्तगाल और इंडोनेशिया दोनों संयुक्त राष्ट्र महासचिव से यह आग्रह करने के लिए राजी हो गए कि पूर्वी तैमूर के लोगों से यह पूछा जाए कि वे इंडोनेशिया में स्वायत्तता चाहते थे अथवा स्वतंत्रता। एक जनमत संग्रह कराया गया। प्रत्यक्ष मतदान का परिणाम यह था कि पूर्वी तैमूर की स्वायत्तता को अस्वीकार कर दिया गया। परिणाम की घोषणा के बाद सैन्य बलों द्वारा स्वतंत्रता का विरोध करने के कारण व्यापक पैमाने पर हिंसा शुरू हुई। अनेक लोगों को उनके घरों से उठा लिया गया। सुरक्षा परिषद् ने चार्टर के अध्याय VII के अनुसार ऑस्ट्रेलिया की कमान में लगभग 11,000 सैनिकों और नागरिकों के बहुराष्ट्रीय बल ने पूर्वी तैमूर में शीघ्र ही शांति व्यवस्था कायम कर दी। लेकिन सैनिक बलों द्वारा स्वतंत्रता के विरोध में की गई हिंसा के कारण कई घर और सार्वजनिक भवनों को उजाड़ दिया गया। नागरिक और न्यायिक प्रशासन तहस-नहस हो गया। पानी और अन्य दैनिक उपयोग की सेवाएँ गंभीर रूप से प्रभावित हुईं। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने प्रशासन को अपने हाथ में ले लिया और पूर्वी तैमूर में संयुक्त राष्ट्र ने अंतर्वर्ती प्रशासन (यू.एम.टी.ए.ई.टी.) की स्थापना की और प्रशासन को पूर्वी तैमूर का संपूर्ण प्रशासन सौंप दिया। इसमें स्व-शासन की क्षमता का निर्माण करना भी शामिल था। यू.एन.टी.ए.ई.टी. को शांति-निर्माण के एक विशेष प्रतिनिधि के रूप में काम करना था। उसे नए कानून और विनियमों को लागू करने, विद्यमान कानूनों को निलंबित करने, उनमें संशोधन करने तथा उन्हें समाप्त करने की शक्तियाँ प्रदान की गई। अंततः 2002 में पूर्वी तैमूर स्वतंत्र राष्ट्र बन गया।

8.3.8 कम्बोडिया

1980 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने कम्बोडिया (कम्पूचिया) के संबंध में एक संकल्प पारित कर कम्पूचिया पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में वियतनाम की सेनाओं को वापस बुलाने के लिए वियतनाम से बातचीत करने, मानव अधिकारों की देखरेख, स्वतंत्र चुनाव तथा बाह्य शक्तियों द्वारा हस्तक्षेप न करने जैसे विषयों पर चर्चा का आधार तय करने के लिए सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाना था। सुरक्षा परिषद् ने 1990 में एक व्यापक शांति-निर्वहन की कार्रवाई करने की योजना बनाई।

कम्बोडिया में संयुक्त राष्ट्र ट्रॉज़िशन ऑथरिटी (UN TransitionAuthority in Cambodia– UNITAC) (यू.एन.आई.टी.ए.सी.-1991-1993) ने चुनावों की देखरेख की। गृह युद्ध में एक कट्टर दल खमेर रूज़ ने यू.एन.आई.टी.ए.सी. पर तटस्थ न रहने और वियतनाम की सेना को पूर्ण रूप से न हटाने और पूर्णतः हथियार न डालने का आरोप लगाया। सुरक्षा परिषद् ने एक संकल्प पारित कर खमेर रूज़ द्वारा निष्पक्ष चुनाव की शर्तों का पालन न करने के प्रभावों से उत्पन्न स्थिति का अध्ययन करने के लिए महासचिव से आग्रह किया। परिषद ने खमेर रूज के अंतर्गत न आने वाले सभी क्षेत्रों में चुनाव कराने का निर्णय लिया। खमेर रूज़ की केवल एक-चौथाई सेना छावनी में निरस्त्रीकरण के लिए थी। इन परिस्थितियों के बावजूद चुनाव कराए गए। खमेर रूज़ की सेना की बड़े पैमाने पर उपस्थिति से देश में वास्तविक शांति कायम होने में बाधा पहुँच रही थी।

8.3.9 नामीबिया

दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका (बाद में जिसे नामीबिया का नाम दिया गया) को राष्ट्र-संघ द्वारा दक्षिण अफ्रीका के अधिदेश नियम (Mandate system) के अंतर्गत रखा गया। संयुक्त राष्ट्र चार्टर द्वारा सभी अधिदेश प्राप्त क्षेत्रों को ट्रस्टीशिप (न्यासिता) पद्धति के तहत रखा गया। लेकिन दक्षिण अफ्रीका ने चार्टर की बाध्यता को मानने से इनकार कर दिया। 1966 में महासभा ने दक्षिण अफ्रीका के अधिदेश (mandate) को समाप्त कर दिया। दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका जन संगठन (South West African Peoples Organisation – SWAPO) (एस. डब्ल्यू ए. पी.ओ.) ने दक्षिण अफ्रीका के लगातार चले आ रहे शासन के विरुद्ध संघर्ष करने का निर्णय लिया। 1969 में सुरक्षा परिषद् ने घोषणा की कि दक्षिण अफ्रीका द्वारा लगातार दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका पर कब्जा रखना ग़ैर-कानूनी था और इसकी स्वतंत्रता के लिए महासचिव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण में चुनाव कराने के प्रस्ताव को स्वीकार किया। यह योजना लागू नहीं हो सकी, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका ने इसमें सहयोग नहीं दिया। 1988 में संयुक्त राष्ट्र के बाहर एक समझौता किया गया जिसके तहत दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका से दक्षिण अफ्रीका को हटाने की कार्रवाई को अंगोला से क्यूबा की सेना को हटाने की कार्रवाई से जोड़ा गया। सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र अंगोला सत्यापन मिशन (UN Anglola Verification Mission - UNAVEM) (यू.एन.ए.वी.ई.एम.) की स्थापना कर क्यूबा की सेना को हटाने की कार्रवाई का पर्यवेक्षण करने का निर्णय लिया। दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र के इस ऑपरेशन (कार्रवाई) में दक्षिण अफ्रीका की सेना और दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका जन संगठन (एस. डब्ल्यू ए. पी.ओ.) की सेना के बीच शांति-निर्वहन, युद्ध विराम का पर्यवेक्षण, ग़ैर-कानूनी सेनाओं का विघटन, और निष्पक्ष चुनाव शामिल थे। संयुक्त राष्ट्र की इस कार्रवाई में काफी समय लग गया और संयुक्त राष्ट्र के बाहर किया गया समझौता ही संभवतः इसकी सफलता का एकमात्र कारण था। संयुक्त राष्ट्र ने सर्वसम्मति के आधार पर अपने कार्य को पूरा किया।

8.3.10 अंगोला

अंगोला में नेशनल यूनियन फॉर टोटल इंडिपेंडस ऑफ अंगोला (National Union for Total Independence of Angola) (यू.एन.आई.टी.ए.) ने पुर्तगाली शासन के खिलाफ संघर्ष किया। स्वतंत्रता के लिए एक दूसरा समूह भी मैदान में था, जिसका नाम था - पॉपुलर फ्रंट फार द लिबरेशन ऑफ अंगोला (पी.एफ.पी.एल.ए.)। क्यूबा की सेना ने नेशनल यूनियन फॉर टोटल इंडिपेंडस ऑफ अंगोला (यू.एन.आई.टी.ए.) की सहायता की। नामीबिया से संबंधित उपर्युक्त 1988 की शांति योजना ने दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका से अफ्रीका की सेना की वापसी को अंगोला से क्यूबा की सेना की वापसी से जोड़ा। सुरक्षा परिषद् ने यू.एन. अंगोला वैरिफिकेशन मिशन (यू.एन.ए.वी.ई.एम-I) को क्यूबा की सेना की वापसी के सत्यापन और निष्पक्ष चुनाव कराने के लिए गठित किया। चुनाव 1992 में हुए और पॉपुलर फ्रंट फॉर द लिबरेशन ऑफ अंगोला (पी.एफ.पी.एल.ए.) ने बहुमत प्राप्त किया। नेशनल यूनियन फॉर टोटल इंडिपेंडस ऑफ अंगोला (यू.एन.आई.टी.ए.) ने चुनावों का पर्यवेक्षण के लिए गठित यू.एन.ए.वी.ई.एम-II पर आरोप लगाया कि

NMDC-288

उसने निष्पक्ष और स्वतंत्र चुनाव नहीं कराए तथा चुनाव परिणामों को स्वीकार नहीं किया। इसने पुनः हथियार उठा लिए और अनेक नगरपालिकाओं पर कब्ज़ा कर दिया। 1995 में सुरक्षा परिषद् ने इससे भी बड़ा मिशन यू.एन.ए.वी.ई.एम-III शुरू किया। यह एक शांति-निर्वहन मिशन था, जिसका कार्य अपनी शक्तियों का प्रयोग कर गुटों के बीच सामंजस्य स्थापित करना, संपूर्ण राज्य में प्रशासन का विस्तार करना, युद्ध विराम को प्रभावपूर्ण बनाना और संघर्षरत बलों को संघर्ष से दूर करना, नेशनल यूनियन फॉर टोटल इंडिपेंडस ऑफ अंगोला (यू.एन.आई.टी.ए.) को विघटित और अस्त्रहीन करना, सरकारी सेनाओं को बैरकों में वापस भेजना, अंगोला के पुलिस बलों का पर्यवेक्षण करना और राष्ट्रपति के चुनावों की निगरानी करना था। इस कार्य को सफलतापूर्वक पूरा किया गया।

8.3.11 रवाण्डा

रवाण्डा (Rwanda) में 1993 में समस्याएँ तब शुरू हुईं जब टुटसी जनजाति के पैट्रोटिक फ्रंट (आर.पी.एफ.) ने हुतू जनजाति के नियंत्रण वाली सरकार के खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी। सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक मिशन रवाण्डा-युगांडा (यू.एन.ओ.एम.यू.आर.) का गठन किया। जिसका कार्य संपूर्ण रवाण्डा-युगांडा सीमा पर आर.सी.एफ. द्वारा प्राप्त की जाने वाली सहायता की देखरेख करना था। आर.पी.एफ. और सरकार के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते को 1993 का अरूषा समझौता कहा जाता है। यह एक व्यापक किस्म का समझौता था जिसके तहत सबसे पहले चुनाव होने तक एक कामचलाऊ सरकार की स्थापना करना था और उसके बाद दोनों पक्षों की सेनाओं का एकीकरण और तत्पश्चात् चुनाव करवाना था। इस समझौते को लागू करने के लिए एक तटस्थ अन्तर्राष्ट्रीय सेना का गठन किया जाना था। महासचिव की रिपोर्ट पर, सुरक्षा परिषद् ने शांति प्रक्रिया को प्राप्त करने में रवाण्डा की सहायता के लिए संयुक्त राष्ट्र के एक सहायता मिशन (यू.एन.ए.एम.आई.आर.) का गठन किया। लेकिन, 6 अप्रैल 1994 को किगली हवाई अड्डे के नजदीक एक विमान दुर्घटना में रवाण्डा के राष्ट्रपति और बुरुंडी के राष्ट्रपति दोनों की मृत्यु हो गई। अगले दिन रवाण्डा की राजधानी किगली में वे अवरोध खड़े किए गए और हुतू उग्रवादियों ने टुटसी के लोगों और समस्या का हल ढूँढ़ने वाले हुतू उदारवादियों की बड़े पैमाने पर हत्या कर दी। इस नरसंहार में लगभग 2,00,000 लोग मारे गए, जो बड़े पैमाने पर जाति संहार था। इस गृह युद्ध के कारण यू.एन.ए.एम.आई.आर. की भूमिका संघर्षग्रस्त क्षेत्रों में आम जनता को बचाने और मानवीय सहायता पहुँचाने तक सीमित रह गई। सुरक्षा परिषद् ने यू.एन.ए.एम.आई.आर. की संख्या बढ़ाने की अपेक्षा गृह युद्ध को शांत करने, गुटों के बीच समझौता कराने के लिए मध्यस्थता तक अपनी भूमिका को कम करने और मानवीय सहायता पहुँचाने तक उसके कार्य को सीमित कर दिया। मई में सुरक्षा परिषद् ने विस्थापित लोगों की सुरक्षा के लिए 5,500 सिपाहियों की एक नई फौज भेजने का निर्णय लिया, लेकिन यह फौज जुलाई तक उपलब्ध न हो सकी थी। अस्थाई उपाय के रूप में विस्थापित लोगों की सुरक्षा एवं बचाव के लिए चार्टर के अध्याय VII के तहत प्रवर्तन की कार्रवाई के लिए फ्रांस को अपनी सेना भेजने के लिए अधिकृत कर दिया। अगस्त तक आर.पी.एफ. ने संपूर्ण क्षेत्र पर अपना नियंत्रण कर दिया। लेकिन पड़ोसी देशों में बड़ी संख्या में शरणार्थियों के पहुँचने से एक समस्या खड़ी हो गई। अशांति की अवधि में नरसंहार की घटनाओं में लगभग 2,00,000 लोग मारे गए, 3,00,000 लोग विस्थापित हुए और 20,00,000 लोग पड़ोसी देशों में चले गए। पड़ोसी देशों में शरणार्थी शिविरों के कारण अंतःजातीय संघर्ष की समस्या खड़ी हो गई। फरवरी, 1996 तक लगभग 15,00,00 लोग पड़ोसी देशों में शरणार्थी बनकर रहे। 1994 के दौरान राज्य में कानून व्यवस्था बिल्कुल समाप्त हो गया था। देश में प्रशासन, अर्थव्यवस्था, न्यायिक प्रणाली, शिक्षा तंत्र, जल विद्युत आपूर्ति और यातायात नाम की कोई चीज़ नहीं थी।

अगले दो वर्षों में यू.एन.ए.एम.आई.आर. शरणार्थियों के लिए संयुक्त राष्ट्र उच्चायोग, अन्य राष्ट्रीय एजेंसियों और कुछ अन्य ग़ैर-सरकारी संगठनों की सहायता से धीरे-धीरे शांति का वातावरण कायम हुआ।

NMDC-288

यू.एन.ए.एम.आई.आर. की उपस्थिति से लोगों में विश्वास की भावना जागृत हुई। कनाडा, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस ने मानवीय सहायता के लिए 1996 में एक सेना भेजी। कुल मिलाकर, संयुक्त राष्ट्र गृह युद्ध को रुकवाने के लिए प्रभावी कार्रवाई करने में असफल रहा। इसने कुछ हद तक शांति-निर्वहन और शांति-निर्माण में सफलता पाई।

नवम्बर 1994 में सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय-VII के तहत रवाण्डा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अपराध न्यायाधिकरण (आई.सी.टी.आर.) की स्थापना की। नरसंहार और मानवता के विरुद्ध अपराध करने वाले अनेक हुतू उग्रवादियों को न्यायाधिकरण के सामने पेश किया गया। यह न्यायाधिकरण अरुषा में स्थापित किया गया था। आई.सी.टी.आर. की स्थापना आर.पी.एफ. द्वारा नियंत्रित सरकार के अनुरोध पर की गई थी। इसका उद्देश्य था कि न्याय की कार्रवाई हुतू के खिलाफ बदले की कार्रवाई न दिखाई दे। जाँच में उत्तरदायित्व का सिद्धान्त और शांति-निर्माण में सहायता पर बल दिया गया था।

8.3.12 सोमालिया

1992 में पश्चिमी अफ्रीका के देश सोमालिया में गृह युद्ध शुरू हो गया। सुरक्षा परिषद् ने पाया कि इस गृह युद्ध के कारण आसपास के क्षेत्रों की स्थिरता और शांति तथा इसके लगातार चलते रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी। गृह युद्ध के कारण बड़े पैमाने पर लोग भुखमरी के शिकार हुए। मानवीय सहायता के लिए शुरू किए गए ऑपरेशनं (यू.एन.ओ.एस.ओ.एम.) से अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हुई। महासचिव ने सुरक्षा परिषद् के सामने तीन विकल्प रखेः (1) शांति-निर्वहन के सिद्धान्तों पर आधारित यू.एन.ओ.एस.ओ.एम. को सोमालिया में तैनात रखना, (2) यू.एन.ओ.एस.ओ.एम.की सैनिक टुकड़ियों को वापस बुलाना और लड़ाकू गुटों के साथ मानवतावादी एजेंसियों की वार्ता को जारी रखना; (3) यू.एन.ओ.एस.ओ.एम. द्वारा अथवा सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति से कुछ राष्ट्र समूहों द्वारा पूरे सोमालिया अथवा सीमित क्षेत्र में सैनिक शक्ति का प्रयोग करना। उन्होंने बताया कि अमेरिका इस प्रकार के ऑपरेशन का नेतृत्व करने के लिए तैयार है। सुरक्षा परिषद् से सर्वसम्मति से संकल्प लिया कि चार्टर के अध्याय VII के अनुसार मानवीय सहायता प्रदान करने के लिए समुचित वातावरण बनाने हेतु महासचिव और संयुक्त राज्य अमेरिका को सहयोग देने वाले सदस्य राष्ट्रों को आवश्यक कार्रवाई करने का संकल्प लिया। सुरक्षा परिषद् ने सभी लड़ाकू समूहों से गठित सेना को सहयोग देने की अपील की। संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व के तहत यूनिफाइड टास्क फोर्स (यू.एन.आई.टी.ए.एफ.) ने अमेरिका से 28,000 और अन्य देशों से 17,000 सैनिकों से अपना काम शुरू किया। इसने तेज़ी से विभिन्न गुटों को निरस्त्र कर दिया और मानवीय सहायता का विस्तार किया। इसने स्वयं को आत्म-रक्षा की कार्रवाई तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि फरवरी 1993 में अमेरिका ने अपने सैनिकों की संख्या में कमी करनी शुरू कर दी। इसका प्रमुख कारण यह था कि अनेक अमेरिकी सैनिक मारे जा चुके थे और अमेरिका में यह भावना भड़क गई थी कि अफ्रीका के दूरदराज के क्षेत्रों में शांति स्थापना के लिए अमेरिकी सैनिक अपनी कुर्बानी क्यों दे? महासचिव ने चार्टर के अध्याय-VII के अंतर्गत 28,000 की संयुक्त राष्ट्र बल की स्थापना का एक प्रस्ताव रखा (यू.एन.ओ.एस.ओ.एम.-II)। इस प्रस्ताव को सुरक्षा परिषद् ने स्वीकार कर लिया। इस बल ने आक्रामक ढंग से अपना काम शुरू किया और अपनी कार्रवाई में इसने एक पक्ष का साथ दिया, जिससे इसकी कार्रवाई को सोमालिया राष्ट्रवादी संगठन के विरुद्ध माना गया। इस परिस्थिति में, सुरक्षा परिषद् ने मार्च 1995 में सोमालिया से अपनी सेना को वापस बुलाने का निर्णय लिया क्योंकि सेना की कार्रवाई शांति-निर्वहन के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रही थी। यू.एन.ओ.एस.ओ.एम.-II के बारे में अपनी प्रथम रिपोर्ट में महासचिव ने कहा कि सोमालिया ऑपरेशन के संदर्भ में शांति-रचना, शांति-निर्वहन और शांति-निर्माण के संदर्भ में सावधानी से और सृजनात्मक पुनर्विचार की ज़रूरत थी। यह एक विफल कार्रवाई साबित हुई। इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक गृह युद्ध की स्थिति का अपना एक अलग लक्षण होता है।

NMDC-288

8.3.13 पश्चिमी सहारा

पश्चिमी सहारा के ऊपर से स्पेन का शासन समाप्त होने के बाद यह प्रश्न उठा कि क्या इसे मोरक्को का हिस्सा बनना चाहिए, जिसने इस पर अपना दावा करना शुरू कर दिया था अथवा इसे स्वतंत्र रहना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र महासचिव और अफ्रीकी एकता संघ की देखरेख में हुए एक समझौते के अनुसार पश्चिमी सहारा में जनमत संग्रह कराने के लिए एक संयुक्त राष्ट्र मिशन (एम.आई.एन. यू.आर.एस.ओ.) की 1991 में स्थापना की गई। इस मिशन का कार्य युद्ध विराम का पर्यवेक्षण करना और जनमत संग्रह कराना था जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि सहारा को मोरक्को का एक हिस्सा बनना चाहिए या स्वतंत्र रहना चाहिए। लेकिन अनेक बार इस जनमत संग्रह को स्थगित करना पड़ा। इसे स्थगित करने का कारण यह था कि मत देने का अधिकार किसे दिया जाए। एम.आई.एन. यू.आर.एस.ओ. अभी भी अपने अस्तित्व में है।

8.3.14 मोज़ाम्बीक

1992 में मोज़ाम्बीक (Mozambique) में दो राजनीतिक दलों के बीच युद्ध के कारण बड़े पैमाने पर लोग मारे गए और बेघर हो गए। 1994 में मोज़ाम्बीक में संयुक्त राष्ट्र ऑपरेशन (ओ.एन.यू.एम.ओ.जेड.) के तहत चुनाव हुए जिससे संघर्ष विराम हो गया। संयुक्त राष्ट्र महासचिव ने मोज़ाम्बीक की कार्रवाई को शांति-निर्वहन, शांति-रचना मानवीय और चुनाव में सहायक शांति कार्रवाई बनाया।

8.3.15 यूगोस्लाविया

1990-2000 तक यूगोस्लाविया ने अनेक तरह की और अभिघातक समस्याओं का सामना किया। यूगोस्लाविया में विघटन से पहले छः गणतंत्र – सर्बिया, स्लोवेनिया, क्रोएशिया, बोस्निया-हर्जगोविना, मोन्टेनीग्रो, मैसेडोनिया – कोसोवो तथा वोजवोडिना दो स्वायत्त क्षेत्र थे। यहाँ की जनसंख्या बहु-जातीय है। स्लोवेनिया में स्लोविनी के अलावा लोगों की अधिकता है, लेकिन यहाँ पर सर्ब, क्रोट्स और हंगैरियन अल्पसंख्यक भी थे। क्रोएशिया में सर्ब थे जो दो क्षेत्रों में अधिक संख्या में रहते थे। सर्बिया में दो-तिहाई सर्ब थे लेकिन स्वायत्त कोसोवो और वोजवोडिना सर्बिया के ही अंग थे। और वोजवोडिना में हंगरियन अल्पसंख्या में थे। कोसोवो में 91 प्रतिशत स्थानीय अल्बेनिया के लोग थे। मोंटेनीग्रो में मुसलमान और अल्बेनियन की एक-तिहाई जनसंख्या थी। बोसनिया-हर्जगोविना में मुसलमानों की संख्या 40 प्रतिशत, सर्ब की 32 प्रतिशत, 18 प्रतिशत क्रोट और शेष अन्य जाति के लोग रहते थे। मैसेडोनिया में 20 प्रतिशत अल्बेनियाई, 67 प्रतिशत मेसेडोनियाई और शेष अन्य अल्पसंख्यक जाति के लोग रहते थे। यूगोस्लाविया की संघीय सरकार का नेतृत्व राष्ट्रपति परिषद कर रही थी और इसकी अध्यक्षता छह गणतंत्रों के अध्यक्षों द्वारा बारी-बारी से की जाती थी।

दिसम्बर 1990 में स्लोवेनिया में 85 प्रतिशत लोगों ने स्वतंत्रता के पक्ष में मत दिया। इसी समय क्रोएशिया ने संघीय कानून के ऊपर क्रोएशिया की सर्वोच्चता की घोषणा की। सर्बिया ने दृढ़ संघीय व्यवस्था पर जोर दिया जबकि अन्य ने शिथिल संघीय प्रणाली की इच्छा प्रकट की। इसकी वजह से संघ को सुरक्षित रखने के लिए की जा रही वार्ता असफल हो गई। मई 1991 में क्रोएशिया में अधिकांश मतदाताओं ने स्वतंत्रता के पक्ष में अपना मत दिया। इस अवस्था में अमेरिका, यूरोपीय संघ (ई.सी.) और यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग संघ (सी.एस.सी.ई.) ने यूगोस्लाविया की क्षेत्रीय एकता का समर्थन किया। जून 1991 में स्लोवेनिया और क्रोएशिया दोनों ने स्वतंत्रता की घोषणा की। केन्द्रीय प्राधिकार (जे.एन.ए.) ने भारी संख्या में हथियारों से लैस अपनी सेना को स्लोवेनिया की सेना पर आक्रमण के लिए भेजा। स्लोवेनिया की सरकार ने यहाँ युद्ध की स्थिति की घोषणा की और अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की अपील की।

NMDC-288

यूरोपीय संघ (ई.सी.) और यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग संघ (सी.एस.सी.ई.) ने युद्ध विराम कराने का प्रयास किया लेकिन क्रोएशिया में आतंकवाद भी शुरू हो गया। स्लोवेनिया और क्रोएशिया ने जे.एन.ए. के साथ हाथ मिला लिया और सर्बिया ने अपनी सेना को और सक्रिय कर दिया। यूरोपीय संघ ने स्पष्ट किया कि यूगोस्लाविया में आंतरिक सीमाओं में सेना द्वारा कोई बदलाव नहीं किया जाएगा और यदि ऐसा किया गया तो इसे मान्यता नहीं दी जाएगी। यूरोपीय संघ ने जैसे-तैसे युद्ध विराम कराने में सफलता प्राप्त की। इसका पर्यवेक्षण बिना हथियार वाले साधारण कपड़े पहने हुए पर्यवेक्षकों द्वारा किया गया; और हेग में शांति सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन में समझौता का आधार तय करने के लिए जिन सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया वे हैं – सेना द्वारा आंतरिक सीमा में किसी भी प्रकार से एकपक्षीय परिवर्तन नहीं किया जाएगा; यूगोस्लाविया में रहने वाले सभी लोगों के अधिकारों की रक्षा की जाएगी; और सभी लोगों को न्यायोचित माँगों और आकांक्षाओं का पूरा ध्यान रखा जाएगा।

सितम्बर 1991 में सुरक्षा परिषद् की एक बैठक हुई जिसमें यह कहते हुए एक संकल्प पारित किया गया कि यूगोस्लाविया में चल रहे युद्ध और पड़ोसी देशों पर इसके परिणामों से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया था। इस संकल्प में शांति के लिए यूरोपीय संघ (ई.सी.) और यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग संघ (सी.एस.सी.ई.) के प्रयासों का उल्लेख किया गया। इस प्रकार, संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय VII और VIII को सामने रखा गया। परिषद ने संघर्ष में शामिल समूहों से युद्ध विराम करने की अपील की। इसने संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्यों से यूगोस्लाविया में हथियारों और सेना की आवाजाही पर प्रतिबंध लगाने का आग्रह किया। इसने महासचिव से इस विवाद को सुलझाने के लिए अपने पद और शक्तियों का इस्तेमाल करने का अनुरोध किया।

घटनाक्रम के अंत में, यूगोस्लाविया की एकता को बनाए रखने में यूरोपीय संघ (ई.सी.) और यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग संघ (सी.एस.सी.ई.) को सफलता नहीं मिल पाई। सुरक्षा परिषद् को शांति-निर्वहन बल तैनात करने की अनुमति नहीं मिल पाई। फरवरी 1992 में सुरक्षा परिषद् ने शांति-निर्वहन बल, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा बल (यू.एन.पी.आर. ओ.एफ.ओ.आर.) के गठन की स्वीकृति प्रदान की। इसका एक अग्रिम दल मार्च में ही क्षेत्र में भेज दिया गया था। लेकिन यह अपना काम आगे न बढ़ा सका।

जनवरी 1992 में यूरोपीय संघ ने स्लोनेविया और क्रोएशिया को मान्यता प्रदान की। इसके बाद बोस्निया-हर्जगोविना और मैसेडोनिया को भी मान्यता प्रदान की गई। सर्बिया ने पूर्ववर्ती यूगोस्लाविया राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में अपना दावा पेश कर उस मान्यता को चुनौती दी। यूरोपीय संघ ने मान्यता प्रदान करने के लिए कुछ शर्तें सामने रखीं – स्वतंत्रता की इच्छा लोगों की इच्छा के अनुरूप होनी चाहिए और नए राज्य को मानव अधिकारों और मानवतावादी कानून का सम्मान करना चाहिए। यहाँ तक कि दिसम्बर 1991 में यूरोपीय संघ के एक आयोग ने यह स्वीकार किया कि यूगोस्लाविया गणराज्य विघटन की प्रक्रिया में था। अप्रैल 1992 में सर्बिया और मोंटेनीग्रो ने माना कि वे यूगोस्लाविया गणराज्य के रूप में बने रहेंगे लेकिन पुराने यूगोस्लाविया के उत्तराधिकार का दावा यूरोपीय संघ और अमेरिका द्वारा विवादित रखा गया था।

बोस्निया-हर्जगोविना में यह समझौता हुआ कि तीनों प्रमुख जातीय समूह - मुस्लिम, क्रोएश और सर्ब – अलग से घटक समूह के अस्तित्व को बनाए रखेंगे और केन्द्रीय अंग के रूप में काम करेंगे। लेकिन बाद में सर्बों ने अपने को इससे अलग कर दिया और फिर बड़े पैमाने पर हिंसा शुरू हो गई। सर्बिया की सेना ने वायु सेना सहित जे.एन.ए. की इकाइयों के साथ राज्य के महत्वपूर्ण भागों पर नियंत्रण कर लिया। बोस्निया-हर्जगोविना के राष्ट्रपति ने सर्बियन आक्रमण के विरुद्ध यूरोपीय संघ, यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग संघ और संयुक्त राष्ट्र से अपील की।

NMDC-288

1992 में सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई। इस बैठक में माँग की गई थी कि सभी पक्षों को युद्ध विराम पर अमल करना चाहिए और मानवीय सहायता के कार्य में अपना सहयोग देना चाहिए। लगातार चली आ रही हिंसा से पड़ोसी राज्य क्रोएशिया में शरणार्थियों की संख्या 6,00,000 तक पहुँच गई। बोस्निया-हर्जगोविना के सर्बों ने सर्बों का एक अलग क्षेत्र बनाने का भरसक प्रयास किया। बोस्निया-हर्जगोविना की स्थिति को देखते हुए सुरक्षा परिषद् ने मई, 1992 में अपनी एक बैठक बुलाई, सभी पक्षों से युद्ध बंद करने का आग्रह किया गया, जे.एन.ए. और क्रोएशिया की सेनाओं से बोस्निया-हर्जगोविना में हस्तक्षेप बंद करने के लिए कहा गया, और सबसे ऐसी स्थिति बनाने के लिए कहा गया जिससे जहाँ कहीं मानवीय सहायता की आवश्यकता हो, वहाँ पर उसे पहुँचाया जा सके।

सुरक्षा परिषद् की अप्रैल 1993 में बैठक हुई। इस बैठक में महासचिव के द्वारा बोस्निया-हर्जगोविना में दोनों दलों द्वारा शांति योजना को स्वीकार करने की प्रशंसा की गई, दोनों पक्षों से युद्ध विराम का अनुरोध किया गया, "जातीय नरसंहार", बड़े पैमाने पर महिलाओं को बंधक बनाने और उनके साथ बलात्कार करने सहित अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी कानून के उल्लंघन की आलोचना की गई। चार्टर के अध्याय-VII के तहत कार्रवाई करते हुए, संकल्प में कहा गया कि यदि बोस्निया के सर्ब फिर से आक्रमण करते हैं या शांति योजना का पालन नहीं करते हैं तब संकल्प में सुझाए गए उपायों पर अमल किया जाएगा।

मई 1993 में सुरक्षा परिषद् ने चार्टर के अध्याय-VII के तहत कार्रवाई करते हुए युद्ध अपराध, जाति संहार और मानवता के खिलाफ अपराध के लिए यूगोस्लाविया अन्तर्राष्ट्रीय अपराध अभिकरण (International Criminal Tribunal far Yugoslavia – ICTY) (आई.सी.टी.वाई.) नाम के एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध अभिकरण की स्थापना की। नीदरलैंड की सरकार ने अभिकरण के कार्य और विचाराधीन कैदियों को हिरासत में रखने के लिए हैग में सुविधाएँ उपलब्ध कराई। इन उपायों के बारे में दो प्रकार के विचार व्यक्त किए गए। कुछ लोगों का मानना था कि लड़ाकू समूहों के नेता किसी भी प्रकार का समझौता नहीं होने देंगे यदि उनके नेताओं पर आपराधिक ढंग से मुकदमे चलाए जाएँगे और इस प्रकार अभिकरणों की स्थापना से युद्ध लम्बे समय तक जारी रहेगा। दूसरी तरफ कुछ लोगों का मानना था कि शांति तब तक संभव नहीं है, जब तक जघन्य अपराध करने वाले अपराधी स्वतंत्रतापूर्वक और बिना रोक-टोक के घूमते रहेंगे। निस्सदेह अभिकरण की स्थापना के कुछ निवारक प्रभाव होंगे और यह अपराधी कार्यों के लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को लागू करने में अपना योगदान देगा।

1995 में बोस्निया-हर्जगोविना में शांति वार्ता के फलस्वरूप शांति के लिए सामान्य समझौता ढाँचा (General Framework Agreement for Peace) (जी.एफ.ए.) पर पहुँचने में मदद मिली। जी.एफ.ए. अनेक सम्मेलनों का अंतिम परिणाम था। शांति के लिए सामान्य समझौता ढाँचे पर बोस्निया-हर्जगोविना, क्रोएशिया गणराज्य और यूगोस्लाविया के संघीय गणतंत्र (सर्बिया के राष्ट्रपति स्लोबोडन मिलोसोविक द्वारा प्रतिनिधित्व) पर हस्ताक्षर किए गए थे।

1999 में कोसोवो में संकट उत्पन्न हो गया। मार्शल टीटो के समय में यूगोस्लाविया के अधीन इसे स्वायत्तता प्राप्त हुई। लेकिन राष्ट्रपति स्लोबोडन मिलोसेविक ने इस स्वायत्तता को समाप्त कर दिया। कोसोवा में रहने वाली अल्बेनिया के बहुसंख्यकों को सभी क्षेत्रों में विद्रोह के कारण भेदभाव का सामना करना पड़ा। कोसोवो की लिबरेशन आर्मी (के.एल.ए.) ने अल्बेनिया की सीमाओं से हथियार, व्यक्तियों और सामग्री को इकट्ठा करना शुरू कर दिया।

कोसोवो की लिबरेशन आर्मी ने "मारो और भाग जाओ" की रणनीति अपनाई। सर्बिया ने इसके बदले में अल्बेनियाई लोगों पर बड़े स्तर पर आक्रमण किया जिससे वे अपने घरों से भागकर पहाड़ों पर चले गए। अक्टूबर 1999 में सर्बिया इस शर्त पर अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षकों की उपस्थिति पर सहमत हो गया कि राज्य की पुलिस आम जनता पर अत्याचार नहीं करेगी। जनवरी 1999 में संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और रूसी गणराज्य वाले संपर्क समूह ने फ्रांस में एक वार्ता सम्मेलन का आयोजन किया

NMDC-288

और तीन वर्ष की अंतरिम व्यवस्था के साथ कोसोवो की स्वायत्तता के लिए अल्बेनिया और यूगोस्लाविया की सरकारों के समझ समझौता की रूपरेखा रखी। यूगोस्लाविया की सरकार ने इन शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। तब नाटो ने न सिर्फ कोसोवो बल्कि संपूर्ण यूगोस्लाविया गणराज्य में 78 दिन तक बमबारी की। इसका उद्देश्य मानवीय विध्वंस को रोकना बताया गया था। जून 1999 में सुरक्षा परिषद् ने चार्टर के अध्याय-VII के तहत कार्य करते हुए कोसोवो से सभी सैनिक और अर्द्ध सैनिक बलों को हटाने की इच्छा व्यक्त की और राजनीतिक समझौता तथा चुनाव होने तक लोकतांत्रिक और स्वायत्त स्व-शासन की स्थापना के लिए नाटो की सेना की तैनाती और संयुक्त राष्ट्र सिविल प्रशासन की स्थापना की स्वीकृति दी। यह शासन अनिश्चित समय के लिए था, लेकिन फिलहाल इसे 12 महीने का समय दिया गया था। नाटो ने रूस और चीन द्वारा सुरक्षा परिषद् में वीटो कर लेने के भय से सुरक्षा परिषद् की अनुमति के बिना कार्रवाई शुरू कर दी।

सर्बिया और मोंटेनीग्रो में चुनाव हुए। इन चुनावों में राष्ट्रपति योजिसलव कौस्तुनिका ने स्लोबोडन मिलोसोविक को हराया। इस प्रकार वर्ष 2000 में यूगोस्लाव संकट समाप्त हो गया। सर्बिया और मोंटेनीग्रो में लोकप्रिय विद्रोह के कारण मिलोसोवा के दूसरे चरण के चुनाव कराने के प्रयास सफल नहीं हो पाए। कोत्सुनिका ने यूगोस्लाविया संघीय गणतंत्र (Federal Republic of **Yugoslavia** - FRY) के राष्ट्रपति का पद संभाला जिसमें सर्बिया और मोंटेनीग्रो भी शामिल थे। अमेरिका ने यूगोस्लाविया संघीय गणतंत्र के खिलाफ लगाए गए प्रतिबंध वापस ले लिए। यूगोस्लाविया संघीय गणतंत्र ने संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के लिए आवेदन किया जिसे स्वीकार कर लिया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन ने यूगोस्लाविया संघीय गणतंत्र के साथ औपचारिक राजनयिक संबंध स्थापित कर लिए।

कोसोवो में शांति-निर्माण की प्रक्रिया विविधतापूर्ण थी। जब कोसोवो में संयुक्त राष्ट्र का मिशन पहुँचा, तो उन्होंने पाया कि कोसोवो में अराजकता और अव्यवस्था का माहौल था। संयुक्त राष्ट्र मिशन और नाटो द्वारा गठित अन्तर्राष्ट्रीय फौजों की उपस्थिति के कारण मेसेडोनिया और अल्बेनिया में शरणार्थी के रूप में गए लोगों ने वापस आना शुरू कर दिया। इनकी संख्या लगभग 5 लाख थी। उन्होंने अपनी पुरानी धन-सम्पत्ति पर पुनः कब्जा करना शुरू कर दिया। यहाँ पर संगठित रूप से अपराध और कालाबाज़ारी का बोलबाला था, महिला देह-व्यापार का धंधा चल रहा था और सर्ब तथा ग़ैर-अल्बेनियाई लोगों पर हमले हो रहे थे। पुनर्निर्माण के सभी कार्यों की अनदेखी कर, यहाँ पर बुनियादी कानूनी ढाँचा खड़ा करने की ज़रूरत थी। पहले से चले आ रहे कानून में आवश्यक संशोधन कर मानव अधिकारों की रक्षा को सुनिश्चित करने के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई।

इसके साथ ही लोकतंत्र को विकसित करने, राजनीतिक और व्यावसायिक संगठनों का विकास करने तथा जनसंचार के साधनों को सुदृढ़ करने की भी आवश्यकता थी। भोजन और आवास से वंचित लोगों को मानवीय सहायता की आवश्यकता थी। बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के निर्माण, व्यापार को बढ़ाने मुद्रा जारी करने और उसके चलन को सुगम करने तथा बैंकिंग को बढ़ावा देने की आवश्यकता थी।

8.4 अधिनिर्णयन

अधिनिर्णयन, या न्यायिक व्यवस्था वह प्रक्रिया है जिसके तहत किसी तीसरे पक्ष द्वारा विवाद का समाधान किया जाता है। इस तीसरे पक्ष को दोनों पक्षों के बीच विवादित मुद्दों का निर्धारण करने, उपयुक्त कानून लागू करने की शक्तियाँ या अधिकार प्राप्त होते हैं। यह, प्रत्येक पक्ष को मानक कानूनी नियमों के अनुसार अपने-अपने मामले को प्रस्तुत करने का समान अवसर देता है। राज्य के भीतर न्यायपालिका संप्रभु शक्ति के रूप में काम करती है और व्यक्ति समूहों तथा व्यक्तियों और कार्यपालिका के बीच के विवादों पर निर्णय करती है। यह विधायिका द्वारा पारित कानूनों को दी गई चुनौतियों का भी निर्णय करती है और संविधान की कसौटी पर उनकी जाँच करती है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय राज्य तंत्र से एकदम भिन्न होता है। यहाँ पर

की भूमिका निभाता है। यहाँ पर कोई भी केन्द्रीय विधायिका नहीं होती है और कानून का अस्तित्व समझौतों, मान्यताओं पर आधारित व्यवहारों द्वारा सामने आता है और इनका पालन करना अनिवार्य एवं बाध्यकारी होता है। यहाँ पर बहुत रूढ़िवादी न्याय पद्धति होती है। आइए, अब हम अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice – ICJ) और अन्य मौजूद न्यायिक अभिकरणों की चर्चा करें।

8.4.1 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

प्रथम विश्व युद्ध के बाद, राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की गई थी और इसके बाद न्याय के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice - PCIJ) की स्थापना की गई। द्वितीय विश्व के शुरू होने से राष्ट्र संघ व्यावहारिक रूप से समाप्त हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई, जिसमें अंतराल आवधिक के दौरान न्याय के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इसका एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि का निर्माण इस प्रकार किया गया जिससे स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के बीच में निरंतरता बनी रही।

इस न्यायालय में महासभा और सुरक्षा परिषद् द्वारा अलग-अलग मतदान में चुने गए 15 न्यायाधीश होते हैं। मतदान अलग-अलग लेकिन एक ही समय पर किया जाता है। प्रत्येक न्यायाधीश का चुनाव नौ वर्ष के लिए किया जाता है। हर तीसरे वर्ष 5 न्यायाधीश सेवानिवृत्त होते हैं और उनका स्थान चुनाव द्वारा भरा जाता है। जज बनने के लिए योग्यता यह है कि उसका नैतिक चरित्र उत्तम होना चाहिए और उसे अपने देश में सर्वोच्च न्यायिक संस्था में न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के योग्य होना चाहिए। चुनाव के लिए उम्मीदवारों का नामांकन सरकारों द्वारा नहीं किया जाता है बल्कि फ़र्स्ट हेग पीस कॉन्फ्रेंस 1899 द्वारा स्थापित पंच निर्णय स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) के राष्ट्रीय समूहों द्वारा किया जाता है। इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में केवल एक रजिस्ट्रार और मध्यस्थ के रूप में चुने जाने वाले लोगों की सूची होती है। न्यायालय की स्थापना में शामिल प्रत्येक दल या पक्ष चार व्यक्तियों को नामित कर सकता है।

केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने अपना अनुरोध या विवाद प्रस्तुत कर सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 96 के अंतर्गत महासभा, सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्र का कोई भी अंग और महासभा द्वारा प्राधिकृत कोई विशिष्ट एजेंसी अपने कार्यक्षेत्र में उत्पन्न विधिक प्रश्न के बारे में परामर्श ले सकते हैं। यद्यपि इस परामर्श का बहुत सम्मान किया जाता है, फिर भी यह किसी पर बाध्यकारी नहीं होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार विवादित पक्षों की सहमति पर निर्भर करता है। यह सहमति किसी भी प्रकार से दी जा सकती है। सहमति किसी विशेष विवाद के बारे में भी दी जा सकती है। एक पक्ष द्वारा मुकदमा करने पर और दूसरे पक्ष द्वारा क्षेत्राधिकार पर कोई आपत्ति न करने पर यह न्यायालय क्षेत्राधिकार प्राप्त कर लेता है। यह अनुमति संयुक्त राष्ट्र के चार्टर अथवा किसी विशेष श्रेणी के विवाद से संबंधित संधि के तहत दी जा सकती है।

"ऑप्शनल क्लॉज़ " या "वैकल्पिक धारा" के अंतर्गत तथाकथित अनिवार्य क्षेत्राधिकार होता है। राज्य एक घोषणा–पत्र द्वारा यह घोषणा कर सकता है कि वह स्वयंमेव घोषणा को स्वीकार करता है। और इसके लिए उसे और किसी प्रकार के समझौते, किसी राज्य के विरुद्ध न्यायालय के क्षेत्राधिकार की आवश्यकता नहीं होती है, जो राज्य इसी तरह से घोषणा कर क्षेत्राधिकार को स्वीकार करता है। घोषणा सशर्त अथवा बिना शर्त की जा सकती है। राज्यों को न्यायालय के क्षेत्राधिकार को पूर्ण रूप से नहीं तो

NMDC-288

आंशिक रूप से स्वीकार कराने के लिए प्रेरित करने हेतु यह प्रावधान है कि घोषणा में अपनी शर्त का उल्लेख किया जा सकता है। सामान्यतः राज्यों द्वारा की गई घोषणाओं में विवाद के समय और विवाद की श्रेणी के बारे में शर्तें लगाई जाती हैं। पारस्परिकता (reciprocity) एक अनिवार्य शर्त है। इस प्रकार, न सिर्फ किसी विवाद के बारे में अपनी शर्त रखने वाला राज्य इससे लाभान्वित हो सकता है बल्कि न्यायालय के सामने विरोधी भी इससे लाभ प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, जब तक विवाद दोनों पक्षों की घोषणाओं के अन्तर्गत नहीं होता है, तब तक इसमें न्यायालय का कोई क्षेत्राधिकार नहीं होता है।

न्यायालय का निर्णय सभी पक्षों और किसी विशेष विवाद पर ही लागू होता है। न्यायालय लगातार अपने पहले के निर्णयों का उल्लेख करता है और उनका अनुसरण करता है। लेकिन यह एक व्यावहारिक पक्ष है जिससे न्याय की प्रक्रिया में एकरूपता बनाई रखी जाती है। लेकिन इसे कानूनी अपेक्षा नहीं माना जाता है जैसा कि अंग्रेजी कानून से व्युत्पन्न सामान्य कानून (common law) में होता है। नागरिक कानून से व्युत्पन्न यूरोप की कानून पद्धति में इस तरह की कोई कानूनी अपेक्षा नहीं होती है।

यद्यपि न्यायालय का क्षेत्राधिकार सीमित होता है, फिर भी इसने न्यायाधीशों की असहमति के साथ (बहुमत से) कई मामलों पर अपना निर्णय दिया है। इन मामलों में अनेक मामले ऐसे हैं जो युद्ध से संबंधित नहीं थे, फिर भी मुकदमा लड़ने वाले पक्ष उनका समाधान न्यायालय से कराना चाहते थे। वास्तव में उन्होंने फिर विवाद का समाधान किया है। पक्ष ऐसे मामलों में अधिनिर्णयन चाहते हैं, जिससे संबंधित सरकारें अपनी रुचि को ज्यादा महत्व नहीं देती हैं लेकिन वे दावे को त्यागने के लिए अपने देश की जनता को संतुष्ट करना चाहते हैं।

8.4.2 यूरोपीय संघ

यूरोपीय समुदाय (वर्तमान यूरोपीय संघ) ने एकीकरण के बारे में एक विशेष सांविधानिक संरचना का विकास किया। इसने यूरोप के समुदायों का लक्ज़मबर्ग में एक न्यायालय स्थापित किया, जो संघ की संधि के अंतर्गत उत्पन्न विवादों का समाधान करता है।

8.4.3 यूरोपीय मानव अधिकार संगठन और यूरोपीय मानव अधिकार न्यायालय

रोम में 1950 में स्वीकार किए गए यूरोपीय मानवाधिकार संगठन मौलिक स्वतंत्रता के तहत यूरोपीय मानव अधिकार न्यायालय की स्थापना की गई थी और इसने 1960 से अपना काम शुरू किया। संगठन ने मानव अधिकार आयोग की स्थापना की। संगठन का कोई भी देश आयोग में अपनी यह शिकायत दर्ज कर सकता है कि दूसरा पक्ष संगठन के अंतर्गत मानव अधिकारों का उल्लंघन कर रहा है। आयोग तथ्यों की जाँच करता है, पक्षों के बीच "मित्रतापूर्ण समझौता" कराने का प्रयास करता है और समझौते के बारे में अपनी रिपोर्ट देता है। समझौता या मामले का निपटारा न होने की स्थिति में आयोग रिपोर्ट तैयार करता है उसे संगठन के पक्षों की मंत्रि-परिषद के सामने प्रस्तुत करता है। परिषद मत या दो–तिहाई बहुमत से निर्णय लेती है कि उल्लंघन या अतिक्रमण किया गया है और इसके लिए क्या उपाय किए जाने चाहिए। पक्षों को मंत्रिपरिषद का निर्णय मानना बाध्यकारी होता है। आयोग केवल सरकारों की शिकायतें सुन सकता है। लेकिन यदि कोई पक्ष घोषणा करता है कि आयोग व्यक्तियों, व्यक्ति समूहों और ग़ैर-सरकारी संगठनों से शिकायतें प्राप्त करने के लिए सक्षम है तो तब यह ग़ैर-सरकारी संगठनों के साथ-साथ व्यक्तियों से भी शिकायतें प्राप्त कर सकता है।

यूरोपीय मानव अधिकार न्यायालय में 1949 में स्थापित यूरोपीय परिषद में राष्ट्रीयता वाले विभिन्न सदस्य देशों की संख्या के बराबर न्यायाधीश हो सकते हैं। न्यायालय के सामने केवल राज्य और मानव अधिकार

आयोग अपना पक्ष रख सकते हैं। न्यायालय का क्षेत्राधिकार जिस प्रकार के मामलों तक ही सीमित होता है, वे हैं – (क) ऐसे मामले जिन्हें पक्ष विशेष समझौते के तहत प्रस्तुत करते हैं; (ख) ऐसे मामले जिनके बारे में पक्षों में घोषणा की हो कि वे विशेष समझौते के बिना भी क्षेत्राधिकार को स्वीकार करेंगे; और (ग) यूरोपीय आयोग द्वारा प्रस्तुत मामले। यदि आयोग रिपोर्ट देता है कि वह विवादग्रस्त पक्षों के बीच "मित्रतापूर्ण समझौता" नहीं करा सकता है और अपनी रिपोर्ट यूरोपीय संघ की मंत्रिपरिषद को सौंपता है, और मंत्रिपरिषद को रिपोर्ट प्रस्तुत करने के तीन महीने के भीतर मानव अधिकार न्यायालय को मामला सौंपता है और न्यायालय विवाद का निपटारा करता है। इस स्थिति में मंत्रिपरिषद केवल निर्णय को लागू करने के कार्य का पर्यवेक्षण कर सकती है। आयोग की रिपोर्ट में "मित्रतापूर्ण समझौता" कराने में असफल रहने और रिपोर्ट देने के तीन महीने के भीतर मामले को न्यायालय में भेजने की स्थिति में न्यायालय का निर्णय संघ की मंत्रिपरिषद के निर्णय का विकल्प होता है।

8.4.4 मानव अधिकार अंतःअमेरिकी न्यायालय

अमेरिकी मानव अधिकार सम्मेलन (कनवेंशन) 1969 (जो 1978 में लागू हुआ) ने अमेरिकी मानव अधिकार आयोग और मानव अधिकार अंतः अमेरिकी न्यायालय की स्थापना की। 1990 तक संगठन के दस राज्यों के दलों ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लिया लेकिन संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्राधिकार को नहीं। न्यायालय को विवादित मामलों पर निर्णय करने का अधिकार होता है और वह न्यायालय के क्षेत्राधिकार को स्वीकार करने वाले राज्यों द्वारा उठाए गए प्रश्नों पर अपने परामर्शी विचार प्रकट करता है।

8.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय

1990 के दौरान संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अध्याय-VII के तहत कार्रवाई करते हुए सुरक्षा परिषद् ने पूर्व यूगोस्लाविया के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अपराध अभिकरण (ICTU) और रवाण्डा अन्तर्राष्ट्रीय अपराध अभिकरण (ICTR) की स्थापना की। इनकी संरचना (मॉडल) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय अपराध अभिकरण जैसे न्यूरमबर्ग ट्रिब्यूनल के आधार पर बनाई गइ। संयुक्त राष्ट्र ने 1998 में रोम में एक कूटनीतिक या राजनयिक सम्मेलन का आयोजन किया। और इसने अन्तर्राष्ट्रीय अपराध न्यायालय के लिए रोम की संविधि को अपनाया। अन्य देशों के साथ-साथ ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका ने संविधि का प्रारूप तैयार करने में सक्रिय भूमिका निभाई। लेकिन बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस संविधि का हिस्सा बनने से मना कर दिया। अमेरिका की आपत्ति थी कि विश्व के विभिन्न हिस्सों में कार्यरत अमेरिकी व्यक्तियों को अभिकरण के अंतर्गत शामिल किया जाए।

इस संगठन की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। पहला, अनुपूरकता (complementarity) का सिद्धान्त अर्थात न्यायालय को न्याय-अधिकार (jurisdiction)अपने हाथ में तब लेना चाहिए जब देश की कानून–व्यवस्था असमर्थ हो जाए या वह न्यायाधिकार का प्रयोग करने की इच्छुक न हो। सामान्यतः केवल राज्य के उच्च अधिकारी अपराध करते हैं और राज्य उनके ऊपर आपराधिक न्यायाधिकार की कार्रवाई करने में इच्छुक नहीं होता है और अन्य राज्य भी कार्रवाई करने के लिए राजी नहीं होते हैं। दूसरा, न्यायालय को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए चिंताजनक गंभीर प्रकृति के अपराधों के विरुद्ध कार्रवाई करनी चाहिए। ये अपराध हैं – जाति हिंसा (नरसंहार) युद्ध-अपराध, मानवता के विरुद्ध अपराध और आक्रमण संबंधी अपराध। न्यायालय की संविधि इन अपराधों को परिभाषित करती है।

यह न्यायालय हेग में स्थित है और इसके तीन प्रभाग हैं – (क) जाँच पूर्व प्रभाग, जो साक्ष्य इकट्ठा करता है, अपराधियों को गिरफ्तार करता है और उन्हें हिरासत में रखता है; (ख) जाँच (trial) प्रभाग। इसमें रजिस्ट्री, अभियोजन, और जाँच न्यायाधीश होते हैं; और (ग) अपील प्रभाग दोषी अपराधी को अपील करने की सुविधा देता है।

8.4.6 विश्व व्यापार संगठन

व्यापार और सीमा शुल्क सामान्य समझौता (General Agreement on Trade and Tarriffs – GATT) को परिवर्तनों के साथ विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation – WTO) में 1995 में बदला गया। व्यापार और सीमा शुल्क सामान्य समझौते में एक विवाद-निपटान तंत्र था और विश्व व्यापार संगठन तंत्र को इसी नमूने पर बनाया गया है।

विश्व व्यापार संगठन की स्थापना से संबंधित समझौतों में प्रावधान है कि इसकी महासभा समझौता करने वाले सभी पक्षों के प्रतिनिधि होते हैं, का यह उत्तरदायित्व है कि वे एक विवाद निपटान निकाय (Dispute Settlement Body- DSB) की स्थापना करे। इस महासभा में विवाद निपटान निकाय की सदस्यता महासभा के समान ही होती है, लेकिन इसकी प्रक्रिया, स्टाफ और प्रलेख क्रम के नियम अलग होते हैं। विश्व व्यापार संगठन समझौते के तहत उभरने वाले विवादों को विवादों के निपटान के लिए बनाए गए नियमों और प्रक्रियाओं की समझ के अनुसार स्थापित पैनल को प्रस्तुत किया जाता है। यह एक तदर्थ निकाय होता है, जो किसी विवाद के लिए स्थापित होता है। विवाद निपटान निकाय का सचिवालय "अच्छी योग्यता वाले व्यक्तियों" का एक रोस्टर बनाता है अर्थात् ऐसे व्यक्ति जो पहले से विवादों के निपटारे में पैनल अथवा परामर्श शामिल कर रहे हों अथवा जिन्होंने व्यापार कार्यालय अथवा व्यापार और सीमा शुल्क सामान्य समझौता (GATT) सचिवालय में काम किया हो अथवा जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कानून अध्यापन और लेखन में कार्यरत हो।

जब विवाद से संबंधित अंग को परामर्श की आवश्यकता होती है तब शिकायतकर्त्ता पक्ष को दूसरे पक्ष से परामर्श की पहल करनी चाहिए और दूसरे पक्ष को दस दिन के भीतर इसका उत्तर देना चाहिए। सभी परामर्श 30 दिन के भीतर पूरे हो जाने चाहिए। यदि परामर्श के परिणामस्वरूप कोई समझौता नहीं हो पाता है, या निर्धारित तिथि का सम्मान नहीं किया जाता है, तो पैनल के गठन के लिए विवाद निपटान निकाय से अनुरोध किया जाता है। विवाद निपटान निकाय अपनी नियमित बैठक या इस उद्देश्य के लिए विशेष रूप से बुलाई गई बैठक में एक पैनल का गठन करता है।

निश्चित समय सीमा के अंदर पैनल को लिखित विवरण प्राप्त करने, मौखिक प्रस्तुति और लिखित प्रत्युत्तर प्राप्त करने के लिए निर्धारित नियमों एवं प्रक्रियाओं का पालन करना चाहिए। पैनल को एक रिपोर्ट तैयार करनी चाहिए जिसमें विवाद के बारे में वर्णन, विवाद के अविवादित भाग और पक्षों के विरोधी विचारों का विस्तार से उल्लेख किया गया हो। रिपोर्ट के मसौदे को पक्षों के पास उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए भेजना चाहिए। समय पर प्रतिक्रिया प्राप्त करने के बाद, एक अंतरिम रिपोर्ट तैयार की जाती है और सभी पक्षों को दी जाती है। पक्षों से टिप्पणी प्राप्त करने के बाद, अंतिम रिपोर्ट विवाद निपटान निकाय को भेजी जाती है। विवाद निपटान निकाय द्वारा रिपोर्ट प्राप्त करने तक की सभी प्रक्रियाओं को चौदह से अठारह सप्ताह के भीतर पूरा कर लिया जाता है। विवाद निपटान निकाय द्वारा सर्वसम्मति से रिपोर्ट को स्वीकार करने के बाद ही अंतिम रिपोर्ट लागू होती है। इस प्रकार यह पैनल एक प्रभावी तृतीय पक्ष के रूप में निर्णय करता है लेकिन संभावित चूक से बचने के लिए उपाय भी किया गया है। इसके लिए एक अपीलीय निकाय (Appellate Body) है, जिसका गठन चार वर्षों के लिए किया जाता है। हर स्तर पर नियुक्तियाँ और अपीलीय निकाय में निरंतरता को बनाए रखा जाता है। पैनल द्वारा अंतिम रिपोर्ट देने के 60 दिन के भीतर इस निकाय में अपील की जा सकती है। अपीलीय निकाय अपनी रिपोर्ट विवाद निपटान निकाय को सौंपती है।

यदि रिपोर्ट में किसी प्रकार से समझौते का उल्लंघन नहीं पाया गया है, तो मामले को बंद कर दिया जाता है और हारने वाला पक्ष आरोपित अतिक्रमण के संबंध में कोई प्रतिक्रियात्मक कार्रवाई नहीं कर सकता है। दूसरी ओर, यदि रिपोर्ट में पाया जाता है कि अतिक्रमण हुआ है, तो पैनल अथवा अपीलीय निकाय

NMDC-288

प्रभावित पक्ष को प्रतिक्रियात्मक कार्रवाई करने की "सिफारिश" कर सकता है। हारने वाला पक्ष विवाद निपटान निकाय को सूचित कर सकता है कि वह चरणबद्ध तरीके से या "उचित समय के भीतर" रिपोर्ट का पालन करेगा बशर्ते इसे विवाद निपटान निकाय का अनुमोदन प्राप्त हो। "उचित समय" में समय निर्धारित होता है, जो किसी भी स्थिति में 15 महीने से अधिक नहीं होता है। यदि हारने वाला पक्ष पैनल या अपीलीय निकाय की रिपोर्ट के अनुपालन के लिए उपाय करता है, तब प्रश्न उठता है कि क्या अनुपालन पूरी तरह से किया गया था, और क्या इससे फिर पैनल के सामने रखने के लिए विवाद तो नहीं खड़ा होगा।

यह व्यापार संबंधी विवाद, विशेष रूप से व्यापार और कर प्रतिबंध से संबंधित व्यापार विवाद को तीसरे पक्ष द्वारा विवाद सुलझाने की आदर्श प्रणाली है।

8.5 सारांश

जैसा कि हमने देखा कि हिंसात्मक विवाद जिन्हें संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप की ज़रूरत पड़ती है, के सामान्यतः तीन चरण होते हैं। पहला, जब दो या दो से अधिक पक्षों के बीच सैनिक संघर्ष होता है, उस समय संयुक्त राष्ट्र को हिंसा को समाप्त करने के लिए शांति निर्माता की भूमिका निभानी पड़ती है। युद्ध विराम होने पर, दूसरा चरण शुरू होता है। यहाँ पर संयुक्त राष्ट्र युद्ध विराम को बनाए रखने के लिए शांति-निर्वहन का कार्य करता है। तीसरे चरण में, संयुक्त राष्ट्र शांति-निर्माण का कार्य करता है जिसके अंतर्गत आधारभूत संरचना, राजनीतिक संस्थाओं का पुनः निर्माण किया जाता है और भविष्य में संघर्ष से बचने के लिए वह विश्वास का निर्माण करता है। ये चरण एक–दूसरे से पहले भी आ सकते हैं। यद्यपि शांति-निर्वहन सामान्यतः शांति समझौता के बाद आती है, लेकिन जैसा कि हमने अनेक उदाहरणों में देखा है, हमेशा ऐसा नहीं होता। शांति-निर्वहन और शांति-रचना का कार्य साथ-साथ किया जा सकता है।

शांति-रचना की प्रमुख विधियाँ वार्ता, पूछताछ, मध्यस्थता, समझौता, न्यायिक समाधान आदि हैं लेकिन वास्तविक व्यवहार में इसमें बलपूर्वक कार्रवाई और यहाँ तक कि सशस्त्र हस्तक्षेप भी शामिल होता है। कुछ का सुझाव है कि न्यायिक समाधान का शांति-निर्वहन के लिए प्रभावी ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन ध्यान देने की बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय प्रणाली अभी भी अल्पविकसित है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार कुछ ही राज्यों तक सीमित है और वह भी उन राज्यों तक जिन्होंने न्यायालय के क्षेत्राधिकार को एक या अन्य रूपों में स्वीकार करने की सहमति दी है। यूरोप का मानव अधिकार न्यायालय आदि कुछ अन्य न्यायिक निकाय भी हैं, लेकिन इनका क्षेत्राधिकार सीमित है।

8.6 अभ्यास प्रश्न

1) पर्यवेक्षक समूह शांति-निर्वहन समूहों से किस प्रकार भिन्न है?

2) शांति-निर्वहन का अर्थ और उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए। शांति-निर्वहन की सफल कार्रवाई के कुछ उदाहरण दीजिए।

3) सदस्य राष्ट्रों के बीच व्यापार और सीमा शुल्क विवाद के समाधान के लिए विश्व व्यापार संगठन द्वारा अपनाई गई प्रक्रियाओं का वर्णन कीजिए।

4) इस कथन पर टिप्पणी कीजिए कि "अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को विश्व के लिए अदालत के रूप में माना जा सकता है।"

इकाई 9 निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 निरस्त्रीकरण

9.3 अस्त्र-नियंत्रण

9.4 निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण का संक्षिप्त इतिहास

9.5 निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण समझौते

9.6 आशाओं में कमी

9.7 सारांश

9.8 अभ्यास प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

यह सर्वविदित है कि शस्त्रास्त्रों की उपलब्धि मानसिक क्रोध को हिंसात्मक संघर्ष में परिवर्तित कर देती है। युद्ध को जन्म देने में ऐसी ही भूमिका अस्त्रों तथा सशस्त्र सेनाओं की होती है। यद्यपि मानवों को इस बात का आभास प्रायः होता रहा है कि युद्ध की विभीषिका के क्या परिणाम होते हैं और इसीलिए मानव तो युद्ध को टालना चाहते थे। फिर भी, लगभग सदा ही शस्त्रास्त्र त्यागने से चूक गए। इसका कारण विदेशी आक्रमण के विरुद्ध आत्म-रक्षा करने की बलवती आवश्यकता थी। जैसा कि आपने अन्यत्र भी पढ़ा है, राज्य प्रायः अराजकता की स्थिति में रहते रहे हैं, क्योंकि उनके विवादों का समाधान करने के लिए कोई उच्चतर सत्ता नहीं थी। देशों के समक्ष सुरक्षा संबंधी विचित्र उलझन बनी रहती है जैसा कि हर्ज़ (Herz) ने (1950 में) लिखा था "यह ऐसी संरचनात्मक परिस्थिति होती है, जिसमें राज्यों के आत्म-रक्षा के उपाय हावी रहते हैं; वे इस बात की चिंता नहीं करते कि अन्य देशों की सुरक्षा के लिए कितना संकट उपस्थित है। इसी कारण वे अपनी सुरक्षा के उपायों को रक्षात्मक मानते हैं, तथा दूसरों के उपायों को आक्रामक समझते हैं।" आत्म-रक्षा के उपायों में बहुधा अन्य देशों के साथ संधियाँ करना शामिल होता है ताकि "शत्रु" राज्यों की अपेक्षा विशाल और श्रेष्ठ अस्त्र प्राप्त किए जा सकें। अन्य देशों की प्रतिक्रिया भी ऐसी ही होती है। इसी कारण राज्यों अथवा राज्य गुटों के बीच अस्त्रों की होड़ आरंभ हो जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जो दो सैनिक गुट उभरे थे - पूर्वी तथा पश्चिमी गुट - वे शीघ्र ही अस्त्रों की होड़ में व्यस्त हो गए। दो महाशक्तियों, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के नेतृत्व में, क्रमशः पश्चिमी गुट तथा पूर्वी गुट के देश शस्त्रास्त्रों की होड़ में लग गए। 1960 के दशक के आरंभ में उन्होंने इतने अधिक शस्त्रास्त्र जमा कर लिए थे कि वे समूचे विश्व का कई बार विनाश कर सकते थे। इस भयानक पृष्ठभूमि में यह अनुभव किया गया कि शस्त्रास्त्रों की इस होड़ को रोकने के लिए तुरंत प्रभावी कदम उठाने पड़ेंगे; और यह भी अनुभव किया गया कि निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण की दिशा में प्रभावी तथा गंभीर कदम उठाने होंगे। इस इकाई में, संघर्ष को रोकने और सीमित करने की दिशा में किए गए प्रयासों का विश्लेषण किया गया है। इस इकाई में सर्वप्रथम निरस्त्रीकरण और अस्त्र-नियंत्रण के मध्य महत्वपूर्ण अंतर स्पष्ट किया गया है। इन दोनों अवधारणाओं का प्रायः (भ्रमवश) पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। उसके पश्चात्, इस इकाई में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण की दिशा में किए गए विविध प्रयासों का मूल्यांकन करते हुए, इस पर भी चर्चा होगी कि साथ ही अत्यधिक नरसंहारक भीषण अस्त्रों का विकास किया जाता रहा।

9.2 निरस्त्रीकरण

जैसा कि इस शब्द से प्रकट होता है, निरस्त्रीकरण का अर्थ हुआ स्वयं को, या अपने देश को, अस्त्रों या कुछ विशेष प्रकार के अस्त्रों से वंचित रखना। हिंसात्मक संघर्ष करने की प्रेरणा देने के लिए शस्त्रास्त्रों की उपलब्धता, फिर चाहे वह साधारण लाठी हो या प्रक्षेपास्त्र हों, की प्रत्यक्ष भूमिका होती है। अतः हिंसात्मक संघर्ष रोकने के लिए शस्त्रास्त्रों से स्वयं को वंचित रखना आवश्यक है। अतः उनके लिए निरस्त्रीकरण को प्राथमिकता देना मुख्य उद्देश्य होता है जो युद्ध का परित्याग करना, या उसपर अंकुश लगाना चाहते हैं। अति विनाशक अस्त्रों का विकास और उनकी तैनाती विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के तीव्र गति से हुए विकास का परिणाम है - चाहे वे रणभूमि में प्रयोग की जाने वाली तोपें हों या अत्यंत विस्फोटक बम हों, चाहे वे युद्धपोत हों या फिर पनडुब्बियाँ हों, चाहे लड़ाकू विमान हों या फिर रॉकेट हों, तथा चाहे वे ज़हरीली गैस हों या फिर परमाणु बम हों। इस परिस्थिति ने निरस्त्रीकरण की इच्छा और आवश्यकता को प्रोत्साहन दिया।

प्रथम विश्व युद्ध में उपरोक्त अनेक अस्त्रों का प्रयोग आरंभ हुआ, तथा युद्ध की विभीषिका ने युद्ध के विचार मात्र से संसार को भयभीत कर दिया। इसके फलस्वरूप, राष्ट्र संघ (League of Nations) के लिए युद्ध को सीमित करने के उपाय के रूप में 'निरस्त्रीकरण' तुरंत विचार का विषय बन गया।

परन्तु, देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि निरस्त्रीकरण एक साधारण एवं आकर्षक विधा है जो युद्धों को नियंत्रित करने की रामबाण औषधि का कार्य कर सकती है। फिर भी, वास्तव में यह एक विश्वसनीय उपाय नहीं है। न तो यह व्यावहारिक है कि कुछ "आक्रामक" देशों को सशस्त्र सेनाएँ रखने से वंचित कर दिया जाए, और न यह संभव है कि कुछ देशों को कुछ विशेष प्रकार के अस्त्रों (जैसे कि नौसैनिक युद्धपोत अथवा विमान) को त्यागने के लिए कहा जाए। यह भी उतना ही असंभव है कि सशस्त्र सेनाओं की संख्या को सीमित किया जाए। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अस्त्रों की गुणवत्ता में तेज़ी से वृद्धि की गई। अतः मात्रात्मक परिसीमन और भी अव्यावहारिक हो गया। शीत युद्ध के वर्षों में परमाणु अस्त्रों के निर्माण, तथा उन्हें छोड़ने की व्यवस्था (delivery systems) के कारण निरस्त्रीकरण के प्रति उत्साह कम हो गया, और अस्त्र-नियंत्रण प्रमुख विकल्प के रूप में उभरा।

मध्य-उन्नीसवीं शताब्दी से (या शायद उससे पूर्व से ही) निरस्त्रीकरण शांति आंदोलनों, तथा व्यक्तिगत शांति के लिए प्रयास करने वालों के लिए निरस्त्रीकरण एक लक्ष्य बन गया था। परन्तु सैनिक शस्त्रास्त्रों को सीमित करने, या राज्यों को उनसे वंचित करने का विचार केवल तभी व्यावहारिक हो सकता है जब सैनिक प्रौद्योगिकी का स्तर अति उच्च कोटि का हो, क्योंकि इसमें एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति ही विशिष्ट एकमात्र उद्देश्य रह जाता है। अतः आधुनिक अस्त्रों के अनोखापन तथा उनकी विनाशक क्षमता के कारण निरस्त्रीकरण को युद्धों के परिसीमन का प्रमुख उपाय माना जाने लगा। इस विचार के दो प्रमुख आधार हैं। *प्रथम,* चाहे संघर्ष मानव स्वभाव में निहित ही सही, बिना आधुनिक अस्त्रों के प्रयोग के द्वारा लड़ा गया युद्ध मानव समाज के लिए निश्चय ही कम हानिकारक होगा। *द्वितीय,* परस्पर विरोधी अस्त्र भंडारण तथा उससे उपजी अस्त्रों की होड़ को युद्ध का प्रमुख एवं सक्रिय कारण माना जाता है, जो अन्यथा शायद संभव न होता।

दो विश्व युद्धों की मध्यावधि में निरस्त्रीकरण के लिए प्रथम असफल प्रयास किए गए। निरस्त्रीकरण के विविध सिद्धान्त और उपाय अपनाए गए। प्रथम प्रयास में अस्त्र-विशेष संबंधी निरस्त्रीकरण के लिए उपाय किए गए। संयुक्त राज्य अमेरिका के निमंत्रण पर तत्कालीन पाँच बड़ी शक्तियों का एक सम्मेलन अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन डी.सी. में हुआ। इसमें अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा जापान ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 1922 में (अन्य संधियों के अतिरिक्त) एक पाँच-देशीय नौसैनिक संधि पर हस्ताक्षर किए गए, जिसके द्वारा युद्धपोतों इत्यादि की संख्या, और उनके साज-सामान की मात्रा सीमित की गई। इसके पूर्व, पराजित जर्मनी को 'वायु सेना' से पूरी तरह वंचित किया गया तथा उस पर अन्य सैन्य नियंत्रण भी लगाए गए थे।

NMDC-288

उस समय यह विश्वास था कि युद्धों का कारण शस्त्रास्त्र थे; अतः उनकी मात्रा को सीमित किया जाए। परन्तु 1920 के दशक में इटली में फ़ासीवाद तथा 1930 के दशक में जर्मनी में नात्सीवाद की स्थापना के साथ ही यूरोप में निरस्त्रीकरण के स्थान पर अस्त्रों की होड़ आरंभ हो गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात्, पुनः निरस्त्रीकरण के अधिक गंभीर प्रयास आरंभ किए गए, क्योंकि तब तक अणु बम का निर्माण ही नहीं वरन् प्रक्षेपास्त्रों का विकास भी हो गया था। इस पृष्ठभूमि में संयुक्त राष्ट्र ने निरस्त्रीकरण को प्राथमिकता के रूप में अपनाया ताकि वह (संयुक्त राष्ट्र) विश्व में शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने का उत्तरदायित्व निभा सके।

9.3 अस्त्र-नियंत्रण

निरस्त्रीकरण के विचार का आधार यह है कि शस्त्रास्त्रों की उपलब्धि, अनिश्चयता और संघर्ष का मूल कारण होती है। परन्तु, अस्त्र-नियंत्रण उपागम का आधार है कि शस्त्रास्त्रों की उपलब्धि राज्यों के मध्य संघर्ष का कारण न होकर, अन्तःराज्य संघर्ष का परिणाम होता है। जहाँ, निरस्त्रीकरण शस्त्रास्त्रों का उन्मूलन करना चाहता है, वहीं स्थायित्व सुनिश्चित करने के लिए अस्त्र-नियंत्रण अस्त्रों की होड़ को नियमित करना चाहता है।

अस्त्र-नियंत्रण नीतियाँ अस्त्रों के विकास, भंडारण तथा उपयोग के परिसीमन संबंधी वार्ता का उद्देश्य हैं। इन नीतियों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं: अस्त्र-कटौती, अस्त्र-परिसीमन तथा अस्त्रों को बढ़ने न देना (arms freeze)। अस्त्र-कटौती की नीति अस्त्रों की संख्या में कमी करना है। अस्त्र-परिसीमन नीतियों का उद्देश्य इस बात का प्रयास करना है कि युद्ध की विनाशक शक्ति एवं क्षेत्र को सीमित किया जाए तथा युद्ध के दुर्घटनावश (accidental) भड़क उठने को रोका जा सके। अस्त्रों को बढ़ने से रोकने की नीतियों का लक्ष्य कुछ विशेष श्रेणी के अस्त्रों के विकास को रोकना है ताकि प्रतिद्वंद्वी देश सैनिक समानता से संतुष्ट रह सकें।

नए अस्त्रों को इस प्रकार नियंत्रित करने के साथ ही, एक अन्य अवधारणा का उदय भी हुआ है। इसका संबंध परमाणु अस्त्र व्यवस्था की तैनाती के नियमन से है, ताकि इन अस्त्रों का उपयोग कम विनाशक हो, या फिर उसे टाला ही जा सके। सामान्यतः इसे परमाणु रणनीतिक सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। महाशक्तियों के शीत – युद्धकालीन विचारों को इसी सिद्धान्त ने प्रभावित किया था। उदाहरण के लिए, शीत युद्ध के वर्षों में प्रचलित परमाणु अवरोधक की चर्चा इसी विचार का अंग थी। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि जिस देश के पास परमाणु अस्त्र हैं वे उसके लिए अवरोधक (deterrence) का कार्य करेंगे, और शत्रु उस देश पर आक्रमण करने का साहस नहीं करेगा। कोई भी शत्रु देश इस तथ्य के कारण भयभीत रहता है कि परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश उसे नुकसान पहुँचा सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर अन्य उलझन भरे रणनीतिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई, जैसे कि प्रथम तथा द्वितीय आक्रमण करने (first and second strike) की क्षमता, तथा पारस्परिक सुनिश्चित विनाश (Mutually Assured Destruction – MAD)। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि आधुनिक परमाणु अस्त्र अवर्णनीय क्षति कर सकते हैं, अतः प्रतिद्वंद्वी परमाणु अस्त्र देश जान–बूझकर स्वयं को पारस्परिक विनाश के लिए प्रस्तुत करते हैं, ताकि परमाणु आतंक का संतुलन (Balance of Nuclear Terror) बना रहे। इस संभावित आतंक के कारण परमाणु युद्ध होने से बचा रहता है। बदले में इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप, विचित्र, परन्तु वास्तविक (यथार्थ) आशा जागृत होती है कि "अस्त्र-नियंत्रण" का उद्देश्य दोनों ओर के रक्षात्मक अस्त्रों को सीमित करना होता है ताकि प्रत्येक पक्ष स्वयं पर संभावित आक्रमण के लिए तैयार रहे, क्योंकि कभी भी कोई देश मूर्खतावश प्रथम आक्रमण करने का लोभ न कर बैठे। यदि इस प्रकार का मूर्खतापूर्ण आक्रमण (first strike) होता है तब इस आक्रमण से पीड़ित देश अपनी पूर्ण क्षमता से प्रथम आक्रमक के विरुद्ध इतना भीषण जवाबी आक्रमण कर सकता है कि प्रथम आक्रामक पूरी तरह नष्ट हो जाए। पूर्ण विनाश की इस

संभावना के कारण प्रथम आक्रमण करने वाला देश मूर्खतापूर्ण आक्रमण करने से रुक जाएगा। इस रणनीति से संबंधित नीति यह भी है कि आक्रामक महाशक्ति को प्रयत्न करना चाहिए कि शत्रु के अधिक जनसंख्या वाले नगर (city centre) को नष्ट किया जाए, न कि उन स्थलों को जहाँ पर शत्रु के अस्त्र और सैनिक तैनात हों। अस्त्र-नियंत्रण के संदर्भ में इसी प्रकार के अन्य अनेक सिद्धान्त भी प्रस्तुत किए गए। इस प्रकार के अस्त्र-नियंत्रण उपायों के सुझाव, मूल रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के रणनीतिक – शैलिंग, हर्मन कॉन (Kahn) तथा बर्नर्ड ब्रोडीज (Bernard Brodies)। इसे प्रकार निरस्त्रीकरण के प्रयासों में सहायक के रूप में अस्त्र-नियंत्रण के विचारों का प्रतिपादन किया गया। यह उपाय परमाणु युद्ध की विभीषिका को सीमित करने के लिए सुझाए गए।

इन परमाणु रणनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन का यह अर्थ नहीं है कि परमाणु निरस्त्रीकरण के प्रयास समाप्त हो गए। परन्तु, जैसे-जैसे परमाणु अस्त्र सम्पन्न देशों की संख्या में वृद्धि हुई, वैसे-वैसे परमाणु अस्त्रों के पूर्ण उन्मूलन को अव्यावहारिक मानने वाला संयुक्त राज्य अमेरिका प्रथम देश था। परन्तु, यह विवादास्पद है कि सोवियत संघ की नीयत कितनी साफ थी।

लॉरेन्स फ्रीडम ने अपनी पुस्तक *The Evolution of Nuclear Energy* में निरस्त्रीकरण से हटकर अस्त्र-नियंत्रण पर बल देने की इस प्रकार व्याख्या की है कि निरस्त्रीकरण रूपी गंभीर शल्य चिकित्सा को इसलिए अस्वीकार किया गया क्योंकि इसमें जीवन के रणनीतिक तथ्यों की अति सरल रूप में प्रस्तुत किया गया। एक बार अणु बमों का उन्मूलन करने का अवसर हाथ से निकल गया तो फिर नीति निर्धारकों ने पूर्ण निरस्त्रीकरण में विश्वास व्यक्त करना भी बंद कर दिया। अमेरिकी वार्ताकारों ने बम को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का यथार्थ मानकर स्वीकार कर लिया और यह कि उसके प्रभाव को सीमित करना होगा, न कि उसे बुराई मानकर उसका उन्मूलन करने की चेष्टा करना। दुर्भाग्यवश निरस्त्रीकरण वार्ता में प्रगति न होने के फलस्वरूप इसकी निरर्थकता के पक्ष में मत बन गया। "अस्त्र-नियंत्रण" शब्द को अपनाया जाना इस बात का संकेत था कि अब परमाणु अस्त्रों के पूर्ण उन्मूलन के प्रयासों से हटकर (जिनमें पारम्परिक

ध्यान केन्द्रित हुआ।

निरस्त्रीकरण की प्रासंगिकता (The Continuing Relevance of Disarmament)

ऐसा भी नहीं है कि निरस्त्रीकरण को व्यर्थ समझकर त्याग दिया गया हो। बरुच योजना (Baruch Plan) के अधीन परमाणु बम के उन्मूलन के प्रयासों को सराहा गया। यही स्थिति बाद में आईज़नहॉवर (Eisenhower) प्रशासन के प्रयासों की हुई। परन्तु सभी प्रयास विफल हो गए। अंततः 1968 में परमाणु अप्रसार संधि (Non-proliferation Treaty – NPT) पर हस्ताक्षर हुए, और उसे 1970 में लागू किया गया। यह संधि उन्मूलन के लिए किए गए प्रयासों की छाया मात्र ही सही, फिर भी इसे परमाणु निरस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण (यद्यपि सांकेतिक) क़दम माना जा सकता है। इसे अस्त्र-नियंत्रण का उपाय तो कदापि नहीं कहा जा सकता है। उसी प्रकार अनेक परमाणु परीक्षण निषेध समझौते, और क्षेत्रीय "परमाणु अस्त्र मुक्त" समझौते निरस्त्रीकरण के लिए किए गए उपाय हैं। आगे इस इकाई में इन सभी निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण प्रयासों की समीक्षा की जाएगी।

9.4 निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण का संक्षिप्त इतिहास

राष्ट्र संघ और उसके पश्चात संयुक्त राष्ट्र दोनों ही के तत्त्वाधान में निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण के उपायों पर विचार किया गया, तथा कुछ हद तक वे सफल भी रहे। अस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण के प्रयासों को दोनों विश्व युद्धों की मध्यावधि में कोई विशेष सफलता नहीं मिली। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत और संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के पश्चात् सामान्य निरस्त्रीकरण की सफलता की आशा व्यक्त की गई।

इनका संबंध परमाणु अस्त्रों तथा प्रौद्योगिकी के नियंत्रण से था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1946 में बरूच योजना के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय अणु विकास प्राधिकरण का प्रस्ताव किया, जो परमाणु बमों के निर्माण में प्रयोग की जाने वाली सामग्री के उत्पादन का निरीक्षण करेगा। इसी प्राधिकरण के पास ही परमाणु शक्ति के परीक्षण का एकाधिकार होगा, और यह परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग को भी प्रोत्साहन देगा। इसके पश्चात्, धीरे-धीरे विभिन्न चरणों में सभी देश अपनी परमाणु शक्ति को त्याग देंगे। सोवियत संघ ने इस योजना को रद्द कर दिया, तथा अपनी ओर से परमाणु अस्त्रों पर प्रतिबंध के लिए ग्रोमिको योजना (**Gromyko** Plan) प्रस्तुत की। इसे 1952 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अस्वीकार कर दिया, तथा संयुक्त राष्ट्र महासभा ने "संयुक्त राष्ट्र निरस्त्रीकरण आयोग" स्थापित किया, ताकि वह समस्त प्रकार के शस्त्रास्त्रों के नियमन, परिसीमन, तथा संतुलित कटौती के उद्देश्य से एक प्रस्ताव पेश करे। साथ ही उससे अपेक्षा थी कि वह नरसंहार के अस्त्रों (Weapons of Mass Destruction) के उन्मूलन का सुझाव रखेगा। सन् 1953 ——— "शान्ति के लिए एटम" कार्यक्रम प्रस्तुत किया और सुझाव दिया कि अणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग को प्रोत्साहित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना की जाए। अणु ऊर्जा के सैन्य उपयोग को रोकना भी इस संस्थान का कार्य होगा। लम्बे समय तक चली राजनीतिक वार्ता के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र महासभा ने नवें सत्र में "अन्तर्राष्ट्रीय अणु ऊर्जा संस्थान" (International Atomic Energy Agency - **IAEA**) की स्थापना का निर्णय किया। शीत युद्ध के चलते प्रतिस्पर्द्धी महाशक्तियों, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ, ने निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण के उपाय सुझाए ताकि तनाव को कम करके रणनीतिक स्थायित्व को बढ़ावा दिया जा सके।

1945 के बाद संयुक्त राष्ट्र और महाशक्तियों द्वारा निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण के लिए किए गए प्रयासों की इकाई के अगले भाग में समीक्षा की गई है।

9.5 निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण समझौते

1945 में पहली बार अणु बमों के जापान पर गिराए जाने के बाद से ही संसार भर के देश अस्त्रों की होड़ को रोकने के लिए प्रयास करते रहे हैं। परन्तु दो महाशक्तियों के पारस्परिक अविश्वास और शंका के कारण इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

1) **अन्टार्टिक संधि (Antarctic Treaty):** इस संधि को, निरस्त्रीकरण के प्रथम समझौते के रूप में देखा जाता है। इस संधि पर 1959 में 26 देशों ने हस्ताक्षर किए थे। इसके द्वारा अन्टार्टिक के सैनिक उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसमें विशेषकर अन्टार्टिक क्षेत्र में परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने के साथ-साथ, परमाणु कचरे (nuclear waste) के भंडारण इत्यादि पर भी रोक लगाई गई। संधि में घोषणा की गई कि अन्टार्टिक का उपयोग केवल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किया जाएगा। इसमें अन्टार्टिक में सैनिक अड्डों की स्थापना तथा किलाबंदी पर भी पूर्ण प्रतिबंध लगाया गया। इस संधि को अनुमोदन के पश्चात् 1961 में लागू किया गया।

2) **आंशिक परमाणु अस्त्र परीक्षण निषेध संधि (Partial Test Ban Treaty - PTBT):** क्यूबा के प्रक्षेपास्त्र संकट (1962) के शीघ्र बाद निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण की दिशा में अगस्त 1963 में एक महत्वपूर्ण संधि – आंशिक परमाणु अस्त्र परीक्षण संधि– पर ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ ने हस्ताक्षर किए। इसके द्वारा सम्बद्ध देशों ने यह वचन दिया कि वायुमंडल में, धरती पर तथा जलाशयों में कोई परमाणु परीक्षण नहीं किए जाएँगे। इस संधि को 10 अक्टूबर 1963 से लागू किया गया। बाद में, भारत सहित, अन्य अनेक देशों ने भी इस संधि पर हस्ताक्षर कर उसे अंगीकार किया। सभी देशों ने यह वचनबद्धता व्यक्त की कि अंततः सभी परमाणु विस्फोटों को समाप्त कर पर्यावरण में धर्मीकरण को रोक दिया जाएगा।

इस संधि के हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने यह निश्चय किया कि वे अपने-अपने क्षेत्राधिकार में परमाणु परीक्षणों एवं विस्फोटों को नहीं होने देंगे। संधि में प्रावधान है कि वे अपने वायु क्षेत्र में, धरती के ऊपर, बाह्य पर्यावरण में, जलाशयों (नदियों, झीलों तथा सागर) में कोई परमाणु परीक्षण नहीं करेंगे। सागर में तटीय जल (territorial waters) ही नहीं, वरन् खुले सागर (open sea) में भी कोई परीक्षण नहीं किया जाएगा। कोई भी ऐसा परीक्षण नहीं होगा जोकि परीक्षण करने वाले राज्य की सीमा के बाहर किसी अन्य प्रदेश में रेडियोधर्मी कचरे का प्रसार करे। परन्तु, इस संधि में धरती के भीतर (भूगर्भ में) परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबंध नहीं लगाया, बशर्ते कि किसी परीक्षण से उत्पन्न रेडियाधर्मी कचरे का किसी अन्य देश पर भी प्रभाव न पड़े। धरती के नीचे परीक्षणों की अनुमति के कारण ही इसे आंशिक परीक्षण संधि कहा गया। यह संधि अनिश्चितकाल के लिए है।

संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए सभी देशों को आमन्त्रित किया गया। इसमें यह भी प्रावधान है कि कोई भी हस्ताक्षर करने वाला देश कभी भी स्वयं को इस संधि से मुक्त कर सकता है। इस संधि पर 1987 तक 116 देश हस्ताक्षर कर चुके थे।

3) **अंतरिक्ष संधि (Outer Space Treaty):** इस संधि पर 83 देशों ने 1967 में हस्ताक्षर किए थे। इस संधि का औपचारिक नाम है: अंतरिक्ष की खोज (exploration) तथा उपयोग संबंधी गतिविधियों को नियमित करने वाले सिद्धान्तों के विषय में संधि, जिसमें चन्द्रमा तथा अन्य सूर्यमंडल विषयक नियमन भी शामिल होगा। अंतरिक्ष संधि ने पृथ्वी के चारों ओर परमाणु अस्त्रों की तैनाती पर प्रतिबंध लगाया। इसी प्रकार, नर संहार (**mass** destruction) के सभी अस्त्रों को अंतरिक्ष में तथा उपग्रहों पर तैनात करने पर भी रोक लगा दी।

वास्तव में इस संधि ने अंतरिक्ष संबंधी प्रथम कानून तय किया। अन्य संधियों जैसे 1979 की चंद्रमा संधि ने इस अंतरिक्ष संधि को सुदृढ़ किया।

4) **ट्लाटेलेटको संधि (Tlatelelco Treaty):** इसे लैटिन अमेरिकी परमाणु मुक्त क्षेत्र संधि भी कहते हैं। इस पर 1967 पर 22 लैटिन अमेरिकी राज्यों ने हस्ताक्षर किए। इसके द्वारा परमाणु परीक्षणों, परमाणु अस्त्रों के स्वामित्व एवं तैनाती पर प्रतिबंध लगाया गया। साथ ही परमाणु सुविधा संबंधी कुछ नियमों की भी व्यवस्था की गई। अर्जेन्टीना, ब्राज़ील, चिली और क्यूबा को छोड़कर शेष सभी लैटिन अमरीकी देश इस संधि से बाध्य हैं। इस संधि की अवहेलना न हो, इस पर दृष्टि रखने का उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय अणु ऊर्जा प्राधिकरण (IAEA) का है। इसकी एक विशेषता है कि उपरोक्त प्राधिकरण को सूचना देकर तथा उसके पर्यवेक्षण में शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए परमाणु परीक्षण किए जा सकते हैं।

5) **परमाणु अप्रसार संधि (Nuclear Non-Proliferation Treaty - NPT):** इस महत्वपूर्ण संधि पर 1968 में प्रमुख परमाणु शक्तियों ने हस्ताक्षर किए तथा इसे 1970 में, आवश्यक अनुमोदन के बाद, लागू किया गया। इससे पूर्व (1963 में) आंशिक परीक्षण निषेध के पश्चात् अस्त्र-नियंत्रण वार्ता को गति प्रदान की गई, तथा पाँच वर्ष के राजनयिक प्रयासों के पश्चात् 1968 में अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर किए गए। इस पर अधिकतर वार्ता संयुक्त राष्ट्र की 18-सदस्यीय निरस्त्रीकरण समिति में हुई थी।

इस संधि पर मूल हस्ताक्षरकर्ता ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ थे। भारत ने अब तक, इस पर भेदभावपूर्ण होने का आरोप लगाते हुए, हस्ताक्षर नहीं किए हैं। तत्कालीन परमाणु शक्ति चीन ने भी इस पर 1992 में जाकर हस्ताक्षर किए। परमाणु अप्रसार संधि में प्रावधान किया गया कि तत्कालीन परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश (ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, फ्रांस और चीन) अन्य किसी भी ग़ैर-परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश को परमाणु अस्त्र, परमाणु विस्फोटक

NMDC-288

सामग्री अथवा परमाणु प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण नहीं करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि जो 5 देश (P-5) परमाणु अस्त्र सम्पन्न थे वे तो अपने अस्त्रों में कोई अस्त्र कटौती नहीं करेंगे, परन्तु अन्य देशो को यह अस्त्र प्राप्त करने नहीं दिया जाएगा। इसी भेदभाव के चलते भारत इसका विरोध करता रहा है। अप्रसार के लिए ग़ैर-परमाणु अस्त्र सम्पन्न देशों को कहा गया कि वे अन्तर्राष्ट्रीय अणु ऊर्जा आयोग के साथ समझौते करेंगे। इन समझौतों के द्वारा यह देश अपने शान्तिपूर्ण असैनिक कार्यों के लिए उपलब्ध परमाणु अस्त्र सामग्री की सूचना अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा आयोग को देंगे। इस आयोग के सदस्यों को पूर्ण अधिकार होगा कि वे घोषित सामग्री का निरीक्षण करते रहें।

यह संधि 1 जुलाई 1968 को हस्ताक्षर के लिए खोली गई। जिस समय 5 मार्च 1970 को यह संधि लागू हुई तब तक 3 मूल सदस्यों (संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ब्रिटेन) के अतिरिक्त 59 अन्य देश भी हस्ताक्षर कर चुके थे।

सन् 2000 तक कुल 187 देशों ने अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। भारत, पाकिस्तान, इज़रायल तथा क्यूबा हस्ताक्षर न करने वाले देश हैं। उत्तरी कोरिया जिसने पहले हस्ताक्षर किए थे, उसने 2003 में स्वयं को इससे अलग कर लिया।

परमाणु अप्रसार संधि को अस्त्र-नियंत्रण का एक प्रमुख कदम माना जाता है। इस संधि को 25 वर्ष के लिए (1970 में) लागू किया गया, और इसमें समय-समय पर पुनर्विचार की व्यवस्था थी। 25 वर्ष पश्चात् 1995 में इस पर हस्ताक्षर करने वालों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें इस संधि को अनिश्चितकाल के लिए बढ़ा दिया गया।

6) **सन् 1972 की बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र विरोधी संधि (Anti-Ballistic Missile – ABM Treaty):** बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र विरोधी संधि का उद्देश्य इन प्रक्षेपास्त्रों को सीमित करना है। इस द्विपक्षीय संधि पर 26 मई 1972 को संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पूर्व सोवियत संघ ने हस्ताक्षर किए। यह संधि 3 अक्टूबर 1972 को प्रभावी हुई।

इस संधि ने दोनों पक्षों को बाध्य किया कि वे बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग प्रथम परमाणु आक्रमण करने के उद्देश्य से एक कवच के रूप में नहीं करेंगे। दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि उनके मात्र दो-दो बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र विरोधी (ABM) तैनाती क्षेत्र होंगे। वे राष्ट्रव्यापी बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र विरोधी रक्षात्मक कार्यवाही के लिए या इनके और अधिक विकास के लिए उपयोग में नहीं लाए जाएँगे। दोनों पक्षों का एक –दूसरे की प्रवेश क्षमता (penetrationcapability) पर कोई नियंत्रण नहीं होगा। दोनों पक्ष अपनी-अपनी राजधानियों की रक्षा के लिए इस प्रकार का एक केन्द्र स्थापित कर सकेंगे, तथा दूसरा केन्द्र अन्तरमहाद्वीपीय बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र चलाने वाले क्षेत्र (ICBM launch area) की सुरक्षा के लिए होगा। किसी भी प्रकार के क्षेत्रीय सुरक्षा क्षेत्र के बनने अथवा राष्ट्रव्यापी प्रणाली के शुरू होने से बचाने के लिए दोनों केन्द्र एक–दूसरे से कम से कम 1,300 किलोमीटर की दूरी पर होंगे।

इस संधि ने निश्चित गुणात्मक एवं मात्रात्मक **(qualitativeand** quantitative) सीमाएँ निर्धारित की हैं, जिसके अनुसार ही इस व्यवस्था की तैनाती की जा सकती है। प्रत्येक क्षेत्र में अधिकतम 100 विरोधी आक्रमणों को रोक लेने, तथा 100 आक्रामक प्रक्षेपास्त्र होंगे।

दोनों पक्ष इस बात के लिए भी सहमत हुए कि वे अपने प्रक्षेपास्त्रों में गुणात्मक सुधार को सीमित रखेंगे। उदाहरण के लिए वे ऐसे किसी ए.बी.एम. प्रक्षेपक, या चलाने वाले (launcher) का विकास नहीं करेंगे जोकि एक ही समय में एक से अधिक विरोधी आक्रमण को रोकने वाले प्रक्षेपास्त्रों **(interceptor** missiles) का मुकाबला करने की क्षमता वाला हो।

अधिक से अधिक देश बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों को प्राप्त कर रहे थे, इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों से सुरक्षा के लिए एक रक्षा प्रणाली का विकास किया। इन अस्त्रों के परीक्षण और विकास के लिए, जून 2002 में संयुक्त राज्य अमेरिका इस संधि से अलग हो गया। परन्तु 2002 में राष्ट्रपति बुश ने अमेरिका को यह कह कर अलग कर लिया कि यह तो शीत युद्ध की देन थी। अतः अब यह संधि प्रभावी रह ही नहीं गई। इस पर रूस और चीन ने गंभीर चिंता व्यक्त की थी।

7) **साल्ट-I:** रणनीतिक अस्त्र परिसीमन वार्ता (Strategic Arms Limitation Talks – SALT) 1969 से 1972 तक चली, और 26 मई **1972** के दिन, ए.बी.एम. संधि के साथ ही, एक 'रणनीतिक आक्रामक अस्त्र विषयक अन्तरिम समझौते' पर अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन और सोवियत नेता ब्रेज़नेव ने हस्ताक्षर किए। इस अंतरिम समझौते को उस समय चल रहे तनाव शैथिल्य (*détente*) की पराकाष्ठा कहा गया। यह मूल रूप से रणनीतिक बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों के चालक यंत्रों की संख्या सीमित करने वाला एक मात्रात्मक अंतरिम समझौता था। इसमें तय किया गया था कि अमेरिका के पास 710 से अधिक पनडुब्बियों पर प्रक्षेपक, तथा 44 से अधिक आधुनिक प्रक्षेपास्त्र पनडुब्बियाँ नहीं होंगी तथा सोवियत संघ के पास अधिकतम 950 प्रक्षेपक और 62 पनडुब्बियाँ होंगी। इसको तब तक का सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र नियंत्रक समझौता कहा गया। इसे जहाँ का तहाँ रोक देने वाला (freeze agreement) समझौता कहा गया। संधि का प्रथम भाग अनिश्चितकाल के लिए था।

साथ ही दोनों नेताओं ने साल्ट-I (वार्ता) की समाप्ति पर 1972 में ही एक अन्य समझौते, पनडुब्बी प्रेक्षपित बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र (submarine launched Ballistic Missiles) समझौते पर भी हस्ताक्षर किए। ये दोनों समझौते 5 वर्ष की अवधि के लिए थे।

आक्रामक (offensive) अस्त्र समझौता में केवल अधिक दूरी पर मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों से संबंधित था, मध्यम दूरी पर मार करने वाले अस्त्रों से नहीं। इस समझौते में दोनों महाशक्तियों के परमाणु अस्त्रों को शामिल नहीं किया जोकि दोनों महाशक्तियों के पास बड़ी मात्रा में थे। दोनों महाशक्तियाँ वार्ता को जारी रखने पर भी सहमत हुईं।

8) **साल्ट-II (1979):** रणनीतिक अस्त्रों को परिसीमित करने के लिए एक अन्य वार्ता 1972 से आरंभ हुई और 18 जून 1979 को साल्ट-II समझौते पर अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर एवं सोवियत राष्ट्रपति ब्रेज़नेव ने वियना में हस्ताक्षर किए। इस वार्ता का उद्देश्य 1972 के अंतरिम समझौते के स्थान पर एक व्यापक समझौता करना था, ताकि परमाणु प्रक्षेपकों को दोनों पक्ष कम कर सकें, तथा गुणात्मक विकास पर प्रतिबंध लगाया जा सके।

साल्ट-II के बुनियादी ढाँचे पर नवम्बर 1974 में अपनी व्यलाडीवॉस्क वार्ता में ब्रेझनेव तथा राष्ट्रपति फोर्ड ने सहमति व्यक्त की थी, परन्तु इस पर हस्ताक्षर 1979 में हुए। परन्तु, अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमंण (दिसम्बर 1979) से उत्पन्न स्थिति में अमेरिकी सीनेट ने इस समझौते का अनुमोदन नहीं किया। परन्तु, फिर भी दोनों महाशक्तियों ने इसका पालन करने की इच्छा व्यक्त की। सन् 1985 में अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन ने आरोप लगाया कि इस समझौते की राजनीतिक प्रतिबद्धता की सोवियत संघ ने अवहेलना की।

साल्ट-II समझौते में व्यवस्था थी कि दोनों पक्ष अन्तरमहाद्वीपीय बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों, पनडुब्बी-आधारित प्रक्षेपास्त्रों के प्रेक्षपकों, भारी बम वर्षकों (6,000 किलोमीटर दायरे से अधिक) पर 2,400 की संख्या की सीमा का पालन करेंगे। यह सीमा 1981 तक घटाकर 2,250 कर दी जानी थी।

इसके अतिरिक्त दोनों पक्ष इस पर भी सहमत हुए थे कि अतिरिक्त स्थापित (fixed) अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपकों का निर्माण नहीं करेंगे। यह प्रक्षेपक जितने बम फेंक सकेंगे उनकी संख्या को भी सीमित किया गया था।

यह समझौता मूलतः 5 वर्ष के लिए था, परन्तु यह अब भी प्रभावी है।

9) **सीमा पर परीक्षण निषेध संधि (Threshold Test Ban Treaty)** पर जुलाई 1974 में मॉस्को में हस्ताक्षर किए गए। इसने परमाणु सीमा निर्धारित की जिसके अनुसार 150 किलोमीटर से अधिक के परमाणु परीक्षण धरती के भीतर (भूगर्भ में) भी नहीं किए जाएँगे। परन्तु अमेरिका की इस हठ के कारण कि परीक्षणों के निरीक्षण की व्यवस्था की जाए, इस संधि को 1990 तक लागू नहीं किया जा सका। एक अन्य संधि पर 1976 में (नीचे देखें) हस्ताक्षर होने के बाद तक दोनों का अनुमोदन रुका रहा। और दोनों ही 1990 में लागू की गईं; यद्यपि दोनों ही महाशक्तियाँ अनुमोदन के बिना ही इसका पालन करती रहीं उनका अनुकरण अन्य देशों ने भी किया।

10) **शान्तिपूर्वक परमाणु विस्फोट संधि, 1976 (Peaceful Nuclear Explosion Treaty, 1976):** 1974 की संधि में (ऊपर देखिए), भूगर्भ में भी 150 किलो टन से अधिक के परीक्षणों पर लगाने के बाद यह अनुभव किया गया कि कोई भी देश शान्तिपूर्ण विस्फोटक के बहाने 150 किलो टन से अधिक के परीक्षण कर सकता था। अतः 18 महीने तक चली वार्ता के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि एक अन्य संधि के द्वारा शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए भी 150 किलो टन से अधिक के परमाणु विस्फोटों पर प्रतिबंध लगाया जाए। इसी उद्देश्य से 1976 में इस नई संधि पर हस्ताक्षर किए। परन्तु निरीक्षण के प्रश्न पर अनुमोदन रुका रहा। अंततः 1990 में दोनों संधियों को लागू किया गया ताकि धरती के नीचे भी किसी भी प्रकार का परमाणु परीक्षण न किया जाए। न केवल व्यक्तिगत तौर पर बल्कि राष्ट्रों का कोई समूह भी इस प्रकार के परीक्षण नहीं कर सकेगा।

11) **मध्यम परमाणु बल संधि (1987) (Intermediate range Nuclear Force – INP Treaty, 1987) :** इस महत्वपूर्ण संधि के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य वार्ता जिनेवा में 1981 के आरंभ में हुई थी। परन्तु 1982 में सोवियत संघ वार्ता से अलग हो गया। इस वार्ता का उद्देश्य मध्यम दूरी के परमाणु अस्त्रों को सीमित करना और उनकी संख्या कम करना था। वार्ता पुनः मार्च 1985 में आरंभ हुई। नए सोवियत पार्टी महासचिव ख्रुश्चेव तथा अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन के दृढ़ संकल्प के कारण यह संधि संभव हो सकी। परन्तु इसके लिए दो शिखर सम्मेलन - जिनेवा, 1985 तथा रेकेविक (Reykjavik), 1986 - असफल रहे। रेकेविक में तो हस्ताक्षर होते-होते रह गए। दोनों नेताओं के मध्य तीसरा सम्मेलन वाशिंगटन (डी.सी.) में दिसम्बर 1987 में हुआ जिसमें इस संधि पर हस्ताक्षर हुए। अनुमोदन के पश्चात् जून 1988 में मास्को शिखर वार्ता में ख्रुश्चेव और रीगन ने इसे प्रभावी करने की घोषणा की। इस संधि में यह प्रावधान किया गया दोनों महाशक्तियाँ 3,000 से 3,400 मील की दूरी पर मार करने वाले सभी भू-प्रक्षेपित अस्त्रों तथा उनके ढाँचे को समाप्त कर देंगी। यह कटौती 1991 तक काफी मात्रा में पूर्ण हो गई थी।

शीत युद्ध के अंतिम दिनों की इस संधि में, इसे लागू किए जाने संबंधी, निरीक्षण की व्यापक व्यवस्था थी। निरीक्षण करने के लिए एक संस्थान की स्थापना 1988 में ही कर दी गई थी। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ/रूस दोनों ने सैकड़ों निरीक्षण किए। यह संधि इसलिए अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें पहली बार अस्त्र-कटौती की व्यवस्था की गई, और उसका पालन भी किया गया। इससे पूर्व केवल अस्त्रों की होड़ चल रही थी। अस्त्र-नियंत्रण प्रयासों के बावजूद, इस संधि से पूर्व कभी किसी स्तर के अस्त्रों में कटौती हुई ही नहीं थी।

12) **रणनीतिक अस्त्र-कटौती वार्ता एवं संधि (Strategic Arms Reduction Treaty – START I) :** सभी रणनीतिक अस्त्रों की संख्या में कमी करने के लिए 1982 में वार्ता आरंभ हुई। यह वार्ता 1983 में स्थगित कर देनी पड़ी थी, तथा 1985 में पुनः आरंभ होकर 1991 में सम्पन्न हुई। इस दिशा में पहल करते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने माँग की थी कि, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत

NMDC-288

संघ दोनों के रणनीतिक आक्रामक परमाणु अस्त्रों में भारी कमी की जाए; दोनों के अस्त्रों की सीमा एक समान हो तथा उस प्रक्रिया के निरीक्षण के लिए प्रभावी तथा व्यापक व्यवस्था हो। इस संधि (START-I) में दोनों महाशक्तियों के अस्त्रों में लगभग 30 प्रतिशत कटौती की व्यवस्था की गई।

इस संधि (START-I) का मुख्य प्रावधान यह था कि रणनीतिक प्रक्षेपकों की व्यवस्था पर 1600 की सीमा, तथा निर्धारित युद्ध-अस्त्रों पर 6,000 की सीमा होगी। साथ ही, बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों से संबंधित युद्ध-अस्त्रों की उप-सीमा 4900 होगी, भारी प्रक्षेपास्त्रों पर 1540 की सीमा निर्धारित की गई, तथा 1100 युद्ध-अस्त्र चलते–फिरते प्रक्षेपास्त्रों से सम्बद्ध थी।

स्टार्ट-I (START-I) एक व्यापक अस्त्र-नियंत्रण व्यवस्था सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त दोनों पक्षों की ओर से अनेक साझे वक्तव्य जारी किए गए, तथा निरीक्षण इत्यादि से सम्बद्ध 6 समझौते भी किए गए। सोवियत संघ के विघटन की प्रक्रिया दिसम्बर 1991 में पूरी होने पर एक के स्थान पर 15 देश अस्तित्व में आए। इनमें से चार के क्षेत्र में पूर्व सोवियत संघ के अस्त्रों का भंडारण 47 था। यह थे – रूस, बेलारूस, यूक्रेन और कज़ाकिस्तान। इसके साथ ही आक्रामक अस्त्रों में और अधिक कमी की माँग बढ़ने लगी। बुश प्रशासन इसके लिए सहमत हो गया तथा 1992 में स्टार्ट-II (START-II) के लिए बातचीत आरंभ हो गई। सोवियत संघ परमाणु-भंडार वाले चारों उत्तराधिकारी राज्यों को इसमें शामिल किया गया।

13) **रणनीतिक अस्त्र-कटौती वार्ता एवं संधि - II (Strategic Arms Reduction Treaty – START II)** : यह संधि अस्त्र-नियंत्रण के द्विपक्षीय प्रयास का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है। अस्त्रों की और अधिक कटौती की माँग को स्वीकार करते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस ने पारस्परिक वार्ता आरंभ की तथा 1993 में मॉस्कों में (Yeltsin) तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बुश (प्रथम) ने स्टार्ट-II (START-II) पर हस्ताक्षर किए। इस मूल संधि की व्यवस्था करने वाला एक समझौता (Protocol) 1997 में हैल्सिंकी सम्मेलन (Helsinki Summit) के दौरान सम्पन्न हुआ। इस पर दोनों देशों ने, अनुमोदन के पश्चात्, न्यूयॉर्क में सितम्बर 1997 में हस्ताक्षर किए।

मूल समझौते के अनुसार दोनों देश अपने सभी भूमि संस्थापित अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का दिसम्बर 2003 तक उन्मूलन कर देने पर सहमत हुए। शेष सभी रणनीतिक परमाणु बमों की तैनाती दोनों देश 3,000-3,500 से अधिक नहीं करेंगे। हैल्सिंकी सम्मेलन में हुए समझौते ने अस्त्रों में कमी की समय सीमा दिसम्बर 2003 से बढ़ाकर दिसम्बर 2007 कर दी थी। यह तय हुआ कि स्टार्ट-III (START-111) के लिए वार्ता आरंभ की जाए ताकि 2007 तक युद्धास्त्रों (warheads) की संख्या 2000-2500 के मध्य आ सके।

14) **व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि, 1996 (Comprehensive Nuclear Test Ban Treaty – CTBT):** जब से 1963 में आंशिक परमाणु परीक्षण संधि पर हस्ताक्षर हुए थे, तब से ही इस बात का प्रयास होता रहा था कि भूगर्भ (धरती के भीतर) के परीक्षण भी समाप्त किए जाने चाहिए। अंततः सयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा गठित निरस्त्रीकरण पर सम्मेलन (Conference on Disarmament – C.D.) ने जिनेवा में लगातार लगभग 3 वर्ष की वार्ता के बाद व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि का एक प्रारूप किया। भारत (जो आरंभ में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मिलकर संधि का सह प्रस्तावक था) ने उस रूप में संधि को स्वीकार करने से इनकार कर दिया जिस रूप में जिनेवा सम्मेलन इसको पारित करना चाहा था। भारत का आरोप था कि यह संधि (अप्रसार संधि की भाँति) पक्षपातपूर्ण थी, क्योंकि इसमें तत्कालीन 5 परमाणु सम्पन्न देशों को अपने अस्त्र पूरी तरह समाप्त करने का आह्वान नहीं था। प्रस्ताव था कि परमाणु क्षमता वाले 44 देश इस पर सहमत हों। इन 44 में 5 तत्कालीन परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश थे और तीन देश (भारत, पाकिस्तान, इज़रायल) कभी

भी परमाणु अस्त्र बना सकते थे, तथा शेष वे देश थे जो परमाणु शक्ति के विकास के लिए कार्यरत् थे। भारत ने इस शर्त को भी स्वीकार नहीं किया। भारत के विरोध को निषेधाधिकार (Veto) का नाम दिया गया, तथा जिनेवा सम्मेलन ने अपनी विफलता स्वीकार की।

उस स्थिति में ऑस्ट्रेलिया के नेतृत्व में अनेक देशों ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में उसी प्रारूप को अपनी ओर से पेश किया। महासभा ने भारी बहुमत से संधि को 23 सितम्बर 1996 को पारित कर दिया। इसके विरोध में केवल तीन मत पड़े। वे थे – भारत, भूटान तथा लीबिया। संधि को तुरंत राष्ट्रों के हस्ताक्षरों के लिए प्रस्तुत किया गया। अगले ही दिन, अर्थात् 24 सितम्बर 1996, को न्यूयार्क आकर राष्ट्रपति क्लिंटन ने अमेरिका की ओर से हस्ताक्षर किए। अन्य अनेक देशों ने भी शीघ्र ही इस पर हस्ताक्षर कर दिए। भारत, पाकिस्तान एवं उत्तर कोरिया ने अब तक इस मसौदे पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। उधर विधि की विडम्बना यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट ने इस संधि का अनुमोदन करने से इनकार कर दिया, यद्यपि न केवल अमेरिकी राष्ट्रपति ने सबसे पहले हस्ताक्षर किए थे बल्कि भारत पर हस्ताक्षर के लिए निरंतर दबाव बनाए रखा गया थे। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अनुमोदन प्राप्त न होने के कारण आज तक संधि प्रभावी नहीं हो सकी है।

व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि में प्रावधान है कि कोई सदस्य देश किसी भी प्रकार का तथा कहीं भी परमाणु परीक्षण नहीं करेगा, चाहे वह अस्त्र संबंधित हो या शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए। इस प्रकार इस संधि ने भूगर्भ में किए जाने वाले परीक्षणों पर भी प्रतिबंध लगा दिया। इस संधि का पूरी तरह पालन हो इसलिए एक व्यापक निरीक्षण प्रणाली की व्यवस्था की गई। संधि असीमित समय तक चलनी थी, परन्तु कोई भीं देश, जिसने इस पर हस्ताक्षर किए हों, छः मास का नोटिस देकर संधि से स्वतंत्र हो सकता था। संधि की प्रभाविता का अवलोकन करने के लिए प्रत्येक दस वर्ष पश्चात् एक पुनर्विलोकन सम्मेलन होना था।

यह संधि अब तक लागू नहीं हुई है। उधर भारत और पाकिस्तान (जिन्होंने इस पर हस्ताक्षर ही नहीं किए थे) ने मई 1998 में परमाणु परीक्षण करके स्वयं को परमाणु अस्त्र-सम्पन्न देश घोषित कर दिया। अनेक प्रकार के दबाव के बावजूद इन्होंने अपने अस्त्रों का त्याग नहीं किया है। भारत का कहना है कि यदि अन्य परमाणु अस्त्र सम्पन्न देश अपने अपने परमाणु अस्त्र त्यागने को तैयार हों, तो भारत भी उनका नाश कर देगा, अन्यथा नहीं। भारत परमाणु अस्त्र-सम्पन्न (haves) तथा परमाणु अस्त्रों से वंचित राष्ट्रों (havenots) में संसार के विभाजन को स्वीकार नहीं करता।

15) **जैविक तथा विषैले अस्त्र संबंधी समझौता (The Biological and Toxic Weapons Convention):** जैविक तथा विषैले (ज़हरीले) अस्त्रों के विकास, उत्पादन तथा भंडारण पर प्रतिबंध लगाने वाले और इस प्रकार के अस्त्रों को नष्ट करने संबंधी इस समझौते पर 10 अप्रैल 1972 को हस्ताक्षर हुए थे, तथा इसे मार्च 1975 में लागू किया गया। इस पर 168 देशों ने हस्ताक्षर किए तथा जैविक एवं विषैले अस्त्रों का उत्पादन इत्यादि रोक दिया। यह बहुराष्ट्रीय समझौता एक श्रेणी के सभी नरसंहार के अस्त्रों (Weapons of Mass Destruction) का उन्मूलन करने संबंधी एक महत्वपूर्ण कदम था। इसके लागू किए जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण सार्वभौमिक रूप में प्रभावी हुआ है।

समय-समय पर इस समझौते के पालन संबंधी पुनर्विलोकन सम्मेलन होते रहे हैं। सन् 2002 तक इस प्रकार के 5 सम्मेलन हो चुके थे। इनमें कई महत्वपूर्ण सिफारिशें की गईं, जिनमें निरीक्षण व्यवस्था का मूल्यांकन करने के लिए गठित विशेषज्ञ, तदर्थ समूह भी शामिल हैं। सन् 2002 में स्थापित तदर्थ समूह से अपेक्षा की गई थी कि वह इस समझौते को अधिक प्रभावी बनाने के उपाय सुझाए।

16) **रासायनिक अस्त्र समझौता (Chemical Weapons Convention-CWC):** रासायनिक अस्त्रों के विकास, उत्पादन तथा भंडारण और उपयोग पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने वाली इस बहुराष्ट्रीय संधि को जिनेवा में 1992 में स्वीकार किया गया, और 1993 में यह सभी देशों के द्वारा हस्ताक्षर एवं अनुमोदन के लिए प्रस्तुत की गई। भारत इसका अनुमोदन करने वाला एक प्रमुख देश है। इसको 27 अप्रैल 1997 को लागू किया गया। उस समय तक अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, भारत इत्यादि सहित 87 देश इस संधि का अनुमोदन कर चुके थे। इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों की संख्या 2004 में 161 हो गई थी। सभी हस्ताक्षरकर्ता देशों की वचनबद्धता है कि वे 2007 तक अपने सभी रासायनिक अस्त्रों को नष्ट कर देंगे।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि संसार की सैन्य शक्ति में कमी करने से युद्ध की संभावना भी कम होगी। परन्तु यह धारणा तथ्यों पर आधारित प्रतीत नहीं होती। ऐसा माना जाता है कि अधिकांश देशों पर निरस्त्रीकरण उपाय थोपे गए हैं, स्वेच्छा से कम। महाशक्तियों के मध्य हुए शिखर सम्मेलनों में (शीत युद्ध के दौरान) कई अस्त्र-नियंत्रण समझौते किए गए। शीत युद्ध के पश्चात् अस्त्र-नियंत्रण के सफल प्रयास होते रहे हैं, फिर भी, शक्तिशाली देश अब भी अपने अस्त्रों के आधुनिकीकरण में व्यस्त हैं। अस्त्र-नियंत्रण को आज भी युद्धों की संख्या और विभीषिका में कमी करने का प्रमुख साधन माना जाता है। फिर भी अस्त्र-नियंत्रण के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित हैं। संघर्ष की संभावना और राज्यों की अस्त्रों पर निर्भरता के कारण युद्ध का ख़तरा तो बना ही रहेगा। युद्ध की संभावना कम करने के उपाय के रूप में अस्त्र-नियंत्रण आज भी महत्वपूर्ण है।

9.6 आशाओं में कमी

शांति के लिए तथा युद्ध का उन्मूलन हो सकेगा – इस विषय पर मानवता की अपेक्षाओं में जो निराशा हुई है, उस संबंध में एक बात की ओर विशेष ध्यान देना होगा। जैसे-जैसे शान्तिपूर्ण विश्व का आदर्श असंभव हो गया है वैसे-वैसे युद्धों को सीमित करने का आदर्श भी मानवता की पकड़ से बाहर होता जा रहा है। इसके स्थान 'निरस्त्रीकरण' के अधिक यथार्थवादी लक्ष्य ने ले लिया है। स्वयं निरस्त्रीकरण का स्थान अस्त्र-नियंत्रण ने ले लिया है, जिसे अधिक संभव विकल्प माना जा रहा है। शान्ति की श्रेष्ठ (चोटी की) अपेक्षा से हट कर मानव अब अस्त्र-नियंत्रण की कठिन घाटी में विचरण कर रहा है। राष्ट्रों के मध्य अविश्वास की भावना, अस्त्रों की विनाशक सामर्थ्य को सीमित करने के मार्ग में प्रमुख रुकावट है। युद्ध का उन्मूलन कर पाना तो बहुत दूर की बात है। पहले भी तो कहा जाता था "निरस्त्र करो और निरीक्षण करो" (Disarm and verify); अब अस्त्र-नियंत्रण के उलझन भरे मार्ग में भी निरीक्षण, जाँच व्यवस्था, तथा पारस्परिक शंका ने संकट उत्पन्न कर दिया है।

9.7 सारांश

इस इकाई में हमने देखा है कि अस्त्र प्रौद्योगिकी में गुणात्मक एवं मात्रात्मक वृद्धि कब और कैसे चिंता का विषय बनी। जैसा कि हमने देखा है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुई प्रगति का प्रत्यक्ष परिणाम हुआ – युद्धों को टालने और नियंत्रित करने के लिए महत्वपूर्ण द्विपक्षीय और बहुपक्षीय पहल। हमने देखा है कि यद्यपि 'निरस्त्रीकरण' एवं 'अस्त्र-नियंत्रण' प्रायः पर्याय के रूप में, एक-दूसरे के लिए प्रयोग किए जाते हैं, और दोनों का ही सामान्य लक्ष्य सैनिक स्थायित्व है, फिर भी वे दो अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। प्रसिद्ध विद्वान मार्गेन्थाऊ (Morgenthau) के शब्दों में दोनों अवधारणाओं में अंतर यह है कि, "जहाँ निरस्त्रीकरण शस्त्रास्त्रों में कमी या उनका उन्मूलन करता है, वहाँ अस्त्र-नियंत्रण सैनिक स्थायित्व के उद्देश्य से अस्त्रों की होड़ को नियंत्रित करने से सम्बद्ध है।" संसार में जहाँ पूर्ण निरस्त्रीकरण एक स्वप्न मात्र है, अस्त्र-नियंत्रण, अस्त्रों के विकास, उनके भंडारण तथा उनकी तैनाती को नियंत्रित करके अस्त्रों की होड़ को सीमित करने का प्रयास करते हुए निरस्त्रीकरण के प्रयत्नों को आसान बनाता है।

NMDC-288

9.8 अभ्यास प्रश्न

1) अस्त्र-नियंत्रण और निरस्त्रीकरण की धारणाओं में महत्वपूर्ण अंतर क्या हैं?

2) शीत युद्धोत्तर काल में निरस्त्रीकरण की दिशा में किए गए प्रयासों का वर्णन कीजिए। ये प्रयास क्यों विफल हुए?

3) अस्त्र-नियंत्रण उपाय के रूप में मध्यम परमाणु बल संधि (INF Treaty) के महत्व की समीक्षा कीजिए।

4) परमाणु अप्रसार संधि पर एक संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

5) "अब जबकि शान्तिपूर्ण विश्व का आदर्श प्राप्त करना असंभव हो गया है, उसके बदले में युद्ध को सीमित करने का कम प्रभावी आदर्श भी मानवता की पकड़ से बाहर हो गया है।" – इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

NMDC-288

इकाई 10 विश्वास निर्माण उपाय

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 विश्वास निर्माण के मुख्य तत्व

10.3 यूरोप में तीन समानान्तर प्रक्रियाएँ

10.3.1 हेलसिंकी प्रक्रिया

10.3.2 स्टॉकहोम समझौता

10.3.3 विएना प्रलेख

10.4 एशियाई और यूरोपीय मॉडल (प्रतिमान) निर्माण

10.5 भारत के अनुभव

10.5.1 भारत-पाकिस्तान विश्वास निर्माण उपाय

10.5.2 भारत-चीन विश्वास निर्माण उपाय

10.6 क्या विश्वास निर्माण उपाय प्रभावी रहे हैं?

10.7 सारांश

10.8 अभ्यास प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

विश्वास निर्माण, शान्ति और संघर्ष अध्ययन में एक नया दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण का आविर्भाव सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच शीत युद्ध की प्रतिद्वंद्विता के संदर्भ में हुआ। शीत युद्ध संघर्ष का स्वरूप ही एक ऐसा कारण था जिससे किसी भी मुद्दे पर किसी भी प्रकार के सहयोग या सहमति पर प्रगति प्रायः अत्यंत धीमी थी। परमाणु अस्त्रों की भयंकर विनाशकारी शक्ति से बुद्धिजीवी वर्ग चिन्तित था। उन्होंने इस प्रकार के अस्त्रों के प्रयोग से बचने के तरीकों पर गंभीरता से सोचना आरंभ किया। उन्होंने "अवरोधक" (deterrence) और "पारस्परिक आश्वासित विनाश" (mutual assured destruction) की धारणाओं पर यह सुनिश्चित करने के लिए अपना ध्यान केन्द्रित किया कि कोई भी पक्ष भयंकर प्रतिशोध के भय से अपने परमाणु अस्त्रों का प्रयोग नहीं करेगा। यदि यह प्राप्त हो जाता है तो वे तनावों के उन रूपों को कम करने के तरीकों पर विचार करना आरंभ करेंगे जो परमाणु विनिमय का कारण बन सकते हैं। विश्वास निर्माण दृष्टिकोण इन प्रयासों की एक प्रशाखा है।

विश्वास निर्माण एक ऐसा प्रयास है जिसमें संघर्ष रोकने के लिए ऐसी क्रियाविधियाँ विकसित करना और विरोधियों को शून्य से सहयोगपूर्ण सकारात्मक संबंधों की ओर बढ़ने में सहायता करना अनिवार्यतः आवश्यक है। विश्वास निर्माण उपायों (Confidence Building Measures – CBMs) के रूप में परिचित इन क्रियाविधियों का उद्देश्य है: तनाव और संदेह कम करना, सशस्त्र संघर्ष (चाहे यह दुर्घटना के या गलत अनुमान के फलस्वरूप हो) के खतरे को कम करना, सैन्य शक्ति के प्रयोग को कम करने के लिए संचार और सहयोग विकसित करना, और प्रत्येक पक्ष के सुरक्षा मुद्दों तथा रक्षा संबंधी प्राथमिकताओं की आपसी

NMDC-288

समझ बढ़ाना। विरोधियों के बीच आपसी विश्वास और समझ विकसित करने से विश्वास निर्माण उपाय, संघर्ष समाधान तथा दीर्घकालिक शान्ति स्थापित करने के अवसर प्रदान करते हैं।

विश्वास निर्माण उपाय सैन्य, राजनयिक, सांस्कृतिक या राजनीतिक हो सकते हैं तथापि लम्बे संघर्ष में उलझे हुए पक्षों में विश्वास निर्माण में सैन्य और राजनयिक उपाय सबसे अधिक सामान्य रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। चूँकि विश्वास निर्माण उपाय सुरक्षा पहलुओं पर बल देने लगे हैं इसलिए उन्हें विश्वास सुरक्षा निर्माण उपाय (Confidence Security Building Measures - CSBMs) भी कहा जाता है।

विश्वास निर्माण उपाय अलग-अलग सरकारों, ग़ैर-राज्य अभिकर्त्ताओं (non-state actors) या तीसरे पक्षों (जैसे संयुक्त राष्ट्र, क्षेत्रीय संगठन या अन्य राज्यों) की पहल से किए जा सकते हैं। आर्डेण्ट (Ardent) इस नए दृष्टिकोण का समर्थन करता है और विश्वास करता है कि राज्यों के बीच और उनके अंदर ऐसी प्रक्रिया में विश्वास निर्माण उपाय को सुव्यवस्थित करना संभव है, राज्यों के बीच और उनके अंदर विरोधी संबंधों का समाधान करने में सहायता करने की प्रक्रिया में विश्वास निर्माण उपाय संहिताबद्ध करना संभव है, और इस प्रकार दीर्घकालिक शान्ति के लिए परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है।

10.2 विश्वास निर्माण के मुख्य तत्व

विश्वास निर्माण दृष्टिकोण के मुख्य तत्वों का आविर्भाव शीत युद्ध संघर्ष के संदर्भ में हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसका प्रभुत्व छाया रहा। यहाँ शीत युद्ध समीकरण के नौ तत्वों की पहचान की जा सकती है जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सिद्धान्त व्यवहार में विश्वास निर्माण दृष्टिकोण के विकास का संकेत कहा जा सकता है। इन तत्वों को नकारात्मक, सकारात्मक और संकट प्रबंधक समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इनके विकास को भी इसी क्रम में रेखांकित किया जा सकता है।

शीत युद्ध के प्रारंभिक वर्षों में पूरब-पश्चिम के विरोधात्मक समीकरणों में विश्वास निर्माण के नकारात्मक (कोई वचनबद्धता नहीं) तत्व तीन भिन्न-भिन्न तरीकों में दिखाई दिए। पहला, यह तथ्य कि द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ का पश्चिम की ओर विस्तार सफलतापूर्वक परन्तु ग्रीस (1947) और बर्लिन (1948) में उसको रोक दिया (contained) गया, शीत युद्ध के दौरान पहला सूचक था कि दोनों पक्षों ने यथापूर्व स्थिति का सम्मान करने का निर्णय किया (विवश नहीं)। इसका अभिप्राय है कि महाशक्तियाँ विश्व के राजनीतिक मानचित्र बदलने के लिए अपनी असीमित शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगी और अपने समीकरणों में स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए संघर्ष-वर्धन से परहेज करेंगी। यथापूर्व स्थिति स्वीकार करने का यही निर्णय था जिसके परिणामस्वरूप कोरिया और जर्मनी का विभाजन बना रहा। इसके बाद विश्व मानचित्र पर राजनीतिक परिवर्तन न्यूनतम स्तर और बाह्य सतह पर रखे गए।

दूसरा, परमाणु अस्त्रों का प्रयोग और सीमांतवर्तिता (brinkmanship) न हो, इसके लिए संघर्ष-वर्धन से परहेज किया गया परन्तु यह देखा गया कि सेना के भड़काऊ कार्यों, जैसे यू.2 घटनाओं से शत्रुतापूर्ण प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुईं। जब एक अमेरिकी जासूसी वायुयान 1960 के दौरान सोवियत संघ द्वारा मार गिराया गया। दोनों पक्षों को भी यह सुनिश्चित करना था कि भविष्य में कभी भी सैनिक भड़काऊ कार्यों की पुनरावृत्ति न हो। वास्तव में, अंत में इस विचारधारा के फलस्वरूप कई करारों और संधियों पर हस्ताक्षर हुए। चूँकि किसी भी पक्ष ने अपनी भूमि पर निरीक्षकों को आने की अनुमति देने के लिए पर्याप्त विश्वास विकसित नहीं किया था इसलिए इन प्रारंभिक करारों के पालन की मानीटरिंग अहस्तक्षेपीय सत्यापन विधियों के माध्यम से की गई। उदाहरण के लिए, 1972 के समुद्री घटनाएँ समझौते (Incidents at Sea Agreement) का उद्देश्य समुद्र पर विमान-वाहकों, पोतों और पनडुब्बियों की गतिविधियों और युक्तिचालनों की बहुत-सी

ऐसी घटनाओं को कम करना है जिनसे युद्ध हो सकता है। यहाँ भी दोनों पक्षों ने अपने अपने पक्षों के शीर्ष, नौसैनिक अधिकारियों, एडमिरलों की वार्षिक बैठकों का आयोजन कर सेना-से-सेना स्तर की कठिनाइयों और समस्याओं का समाधान करना स्वीकार किया। विश्वास निर्माण करारों के माध्यम से सेना की भड़काऊ गतिविधियों से बचने के लिए इस प्रकार के प्रयासों ने अंततः अस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण करारों की शृंखलाओं का मार्ग प्रशस्त किया। यह शृंखला 1972 की संधि प्रक्षेपास्त्र विरोधी (ABM) करार और स्ट्रेटिजिक आर्म्स लिमिटेशन वार्ता (साल्ट-I) से आरंभ हुई।

तीसरा, 1962 के क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट के अपने अनुभवों के बाद दोनों पक्ष सहमत हुए कि परमाणु सीमांतवर्तिता की पुनरावृत्ति अत्यधिक खतरनाक रणनीति थी। इस बार जब क्यूबा और तुर्की से दोनों पक्षों ने प्रक्षेपास्त्र हटाए तो इस प्रकार की परमाणु सीमांतवर्तिता पूरी तरह से समाप्त हो गई। यह ऐसा कुछ नहीं था बल्कि आपसी विश्वास के स्तंभ निर्माण और विश्वास निर्माण दृष्टिकोण की इस समझ के फलस्वरूप दोनों पक्षों ने आगे इसे सुदृढ़ करने में अधिक सकारात्मक पहल आरंभ की।

नकारात्मक पारस्परिक विश्वास निर्माण के इस आधार पर कार्य करने से कई नई पहलें शुरू हुईं जिन्हें शीत युद्ध विश्वास निर्माण के सकारात्मक तत्वों के समुच्चय के रूप में माना जा सकता है। पहला, विश्वास निर्माण पर बल देने से मास्को और वाशिंगटन दोनों को अब अपने भावी समझौतों में अपने आगामी सैन्य बल आदि सुधारों की सूचना देने के लिए "अग्रिम सूचना" का प्रावधान रखना नेमी तौर पर आवश्यक था। नए समझौतों, जैसे - 1967 की समुद्र तल संधि और बाह्य अंतरिक्ष संधि - मुद्दों पर भी हस्ताक्षर करने के लिए भी ऐसा प्रावधान करना आवश्यक था, भले ही उनकी तात्कालिक राष्ट्रीय सुरक्षा से उनका कोई संबंध नहीं था। इन समझौतों का पारस्परिक विश्वास निर्माण में और स्थिरता सूचक बनाने में प्रतीकात्मक महत्व था। दूसरा, इन विश्वास निर्माण उपाय में से कुछ का संहिताबद्ध होने पर सत्यापन अधिकांश नई संधियों और शासन प्रणालियों की मुख्य सीमांकनकारी विशेषता के रूप में प्रकट हुआ। 1980 के दशक के प्रारंभ के दौरान राष्ट्रपति रीगन को बार-बार प्रत्येक संधि में ऐसी सत्यापन व्यवस्थाओं की आवश्यकता का औचित्य सिद्ध करने के लिए रूसी चेतावनी "विश्वास करे, परन्तु सत्यापित करे" (Trust, but verify) का उल्लेख करना पड़ा था। इनके बाद बाहरी विशेषज्ञों द्वारा "on-line", "challenge", "intrusive" जैसे नए परिवर्तित सत्यापन साधनों का अनुसरण किया जाना था। तीसरा, एक बार जब इन मानदंडों और प्रक्रियाओं में से कुछ संहिताबद्ध हो जाते हैं तो दोनों पक्ष इन प्रावधानों के "निष्ठापूर्वक क्रियान्वयन" पर बल देना आरंभ कर देते थे। वास्तव में, "एक पक्षीय पहलें" धीरे-धीरे इस प्रकार के विश्वास निर्माण के अधिक दृढ़ प्रमुख तत्व हो गए थे। विशेषकर, 1980 के दशक के मध्य में गोर्बाचोव की नई विचारधारा पारस्परिक विश्वास निर्माण में एक-पक्षीय प्रयासों का प्रतीक माना गया था।

यहाँ तक कि जैसे विश्वास निर्माण के तत्वों का समुच्चय मूर्त रूप ग्रहण कर रहा था, शीत युद्ध में बंटे दोनों पक्षों ने संकट प्रबंधन पर ध्यान केन्द्रित करना आरंभ किया जिसे विश्वास निर्माण दृष्टिकोण का अभिन्न भाग बनना था। यहाँ दोनों पक्षों ने नई प्रवृत्तियाँ स्थापित कीं। पहला, संचार को विश्वास निर्माण उपाय के सबसे अधिक संवेदनशील आधार (Core) के रूप में विकसित होना था। पूरब-पश्चिम "हॉट लाइन" से आरंभ करके (जो 1962 के क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट के बाद स्थापित की गई थी) इसे संचार के अन्य माध्यमों में विकसित किया जाना था। इसमें मुख्य सम्मेलन से "शिखर" बैठकों के "दौरान अन्य बैठकों" और शीर्ष नेतृत्व के अन्य नियमित पारस्परिक क्रियाएँ शामिल थीं। इन सभी का उद्देश्य पारस्परिक विश्वास बनाना था। दूसरा, दोनों पक्षों को अपने-अपने परमाणु अस्त्रों और प्रक्षेपास्त्रों के विफल सुरक्षा कमान और नियंत्रण केन्द्रों पर बल दिया जाना था और इसके लिए कार्य करना था। यह आकस्मिक या अनधिकृत आक्रमणों के विरुद्ध पारस्परिक सुरक्षा की गारंटी थी जिसकी संभावना को नकारा नहीं जा सकता था। बाद में इसका विस्तार सामान्य तकनीकी केन्द्रों के निर्माण में किया गया जो दोनों पक्षों को आँकड़ा संग्रह निर्माण करने और परामर्श देने के लिए था। अंत में, पूरब-पश्चिम विभाजन के दोनों पक्षों

NMDC-288

को यह प्रदर्शन करना था कि वे विद्यमान विश्वास निर्माण उपायों से कभी भी किसी प्रकार संतुष्ट नहीं थे और निरंतर नई संभावनाओं की खोज करते रहते थे। यह इसलिए है क्योंकि लगातार प्रस्तुत करने के लिए भी संघर्ष जारी रहा है। जबकि विश्वास निर्माण करने के लिए नई संस्थाएँ और माध्यम विकसित किए जा रहे थे और पुरानों की लगातार समीक्षा की जा रही थी। इसका अभिप्राय यह सुनिश्चित करना था कि विश्वास निर्माण दृष्टिकोण अपनी भावी चुनौतियों का सामना करने में सक्षम थे।

10.3 यूरोप में तीन समानान्तर प्रक्रियाएँ

इन सामान्य प्रवृत्तियों के अलावा, जिन्होंने इस विश्वास निर्माण दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया था जैसा कि दो महाशक्तियों और उनके मित्र राष्ट्रों के शक्ति समीकरण द्वारा इसे आगे बढ़ाया गया था। इस दृष्टिकोण का अधिक गंभीर सैद्धान्तिक विकास यूरोपीय मंच में होना था, जहाँ ध्यान अधिक, व्यापक और दीर्घकालिक था। ये प्रयास विभिन्न स्तरों पर स्वतंत्र विचारकों और विशेषज्ञों की नियमित बैठकों से संचालित होने थे। यद्यपि इनमें से तीन - स्टॉकहोम, हेलसिंकी और विएना - को विश्वास निर्माण उपाय प्रक्रिया के समग्र व्यवस्था विकसित करने की ओर उनके पथप्रदर्शक कार्यों के लिए विशेष रूप से ज्ञान केन्द्र होना था। उन्हें इन मानदंडों में से कुछ को संहिताबद्ध किया जाना था और उन्हें यूरोपीय जीवन और चिंतन का भाग बनाया जाना था। इन मॉडलों में से अधिकांश बाद में अन्य संघर्ष–ग्रस्त क्षेत्रों में दोहराए गए और विश्वास निर्माण में अन्य क्षेत्रीय पहलों के लिए दृष्टान्त बनाए गए। इन्होंने अन्य क्षेत्रों में समानांतर में भी बहस को प्रोत्साहन देना था। और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में विश्वास निर्माण दृष्टिकोण पर वैकल्पिक विचारों के रूप में भी वैसी ही विचारधारा उत्पन्न की जानी थी।

10.3.1 हेलसिंकी प्रक्रिया

यूरोप में सुरक्षा तथा सहयोग सम्मेलन (Conference on Security and Cooperation in Europe - CSCE) के देशों के विशेषज्ञों और पदाधिकारियों के बीच हेलसिंकी वार्ताओं के लम्बे दौरों ने अंततः 1975 का हेलसिंकी अधिनियम तैयार किया। प्रारंभ में यह प्रयास अस्त्र नियंत्रण और संधिवार्ताओं तथा क्रियान्वयन पर केन्द्रित था और यह यूरोप में 1970 के दशक का सबसे अधिक महत्वपूर्ण मुद्दा था। इसके अलावा, इन संधिवार्ताओं को यथापूर्व स्थिति की मान्यता प्राप्त करने पर बल देना था और शीत युद्ध विभाजन के दोनों पक्षों के बीच अंतर्क्रिया प्रोत्साहित करना था। इस प्रयोजन के लिए, पहले यूरोपीय राजनीति की दो मुख्य विशेषताओं पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करना था अर्थात् (क) अपेक्षाकृत सुरक्षित और सुस्पष्ट अंतर-राज्य सीमाएँ; और (ख) कानूनी संस्थाओं के समग्र स्थापित नेटवर्क तथा उनके कार्यकरण में विश्वास। इन प्रयासों तथा हेलसिंकी अधिनियम को उस तरीके को पूरी तरह से परिवर्तितन करना था जिस तरीके से यूरोपीय देशों के बीच समस्याओं को देखा जाता था। और यूरोप में सुरक्षा और सहयोग सम्मेलन (CSCE) को यूरोप में अंतर-राज्य संबंधों के संचालन में विश्वास निर्माण दृष्टिकोण की प्रभाविता सुनिश्चित करने का मंच बना था।

10.3.2 स्टॉकहोम समझौता

1986 का स्टॉकहोम समझौता यूरोप में निरस्त्रीकरण सम्मेलन द्वारा की गई पहल का प्रतिफल था। अस्त्र नियंत्रण प्रणाली का भाग होने के कारण यह सुरक्षा स्थापनाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करने और अपने ऐसे नए कार्यों के लिए जाना जाता था, जैसे "स्थल' निरीक्षण, सैन्य "प्रेक्षक'' और सैनिक अभ्यासों की "वार्षिक सूची' भेजना जो उसकी संधिवार्ता की मुख्य कार्यसूची होते थे। बाद में स्टॉकहोम वार्ताओं का विस्तार स्वतः हुआ और इसमें "सहयोगशील हवाई निरीक्षणों' का नेटवर्क विकसित किया जाने लगा। फलस्वरूप अंततः "खुला आकाश' करार हुआ। इस करार के अधीन, वारसा संधि संगठन (Warsaw

Treaty Organisation - WTO) और उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (North Atlantic Treaty Organisation -NATO), पूरब-पश्चिम विभाजन के सैन्य प्रतीकों की सैन्य सुविधाओं का पारस्परिक निरीक्षण करने की अनुमति दी जानी थी। अंततः इसके परिणामतः विएना (आस्ट्रिया) में संकट निवारण केन्द्र की स्थापना हुई जिसे विश्वास निर्माण सफलता का अनूठा उदाहरण बनना था।

10.3.3 विएना प्रलेख

1990 के विएना प्रलेख (Vienna Document) में आगे आँकड़ा संग्रह नेटवर्क का विस्तार और पारस्परिक विश्वास निर्माण के तरीके के रूप में विरोधियों के बीच आँकड़ों का आदान-प्रदान करना था। विएना वार्ता का ध्यान विशेष रूप से कुछ क्षेत्रों पर था, जैसे (क) सेना की तैनाती, (ख) नए अस्त्रों के कार्यक्रम; और (ग) रक्षा व्यय। इन पर सूचना देशों को और विश्वास निर्माण विश्लेषणकर्त्ताओं को उपलब्ध कराई जानी थी। 1992 के अनुवर्ती विएना समझौते में विशेषकर नए अस्त्रों के कार्यक्रमों के क्षेत्र में "पारदर्शिता" (transparency) के महत्व को उजागर करना था जिसमें पक्षों को अपने नए अस्त्रों की संभावना प्रदर्शित करने के लिए कहा गया। यह अपने आपमें विरोधियों के बीच विश्वास निर्माण प्रोत्साहित करने के प्रयास के रूप में देखा गया था। यह ऐसा समय था जब यूरोप में विश्वास निर्माण दृष्टिकोण की सफलता ने अन्य क्षेत्रों, विशेषकर एशिया के संघर्षग्रस्त भागों पर ध्यान आकर्षित करना आरंभ किया।

10.4 एशियाई और यूरोपीय मॉडल (प्रतिमान) निर्माण

वास्तव में, एशियाई राष्ट्रों में ऐसी ही व्यवस्थाओं का प्रयोग बहुत पहले किया गया था। एशियाई संदर्भ में विश्वास निर्माण उपायों में यदि पहले कोई बात हुई थी तो वे सभी पश्चिमी प्रतिमान थे। इसलिए एशिया में विश्वास निर्माण उपाय के विचार न तो पूरी तरह से यूरोप से लिए गए और न ही यूरोपीय मॉडलों में निर्धारित उपायों के समान थे। अनुभव दिखाता है कि अंतर-राज्य विश्वास निर्माण में एशिया का स्वयं अपना ही मॉडल है जैसा कि इन यूरोपीय मॉडलों को किस प्रकार गंभीर सीमाओं का सामना करना पड़ा है जब उन्हें एशियाई परिस्थितियों में प्रयोग किया गया था।

भारत अपने ही अनुभव से उदाहरण ले तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संपूर्ण गांधीवादी दृष्टिकोण शान्तिपूर्ण तरीके से सत्ता का हस्तांतरण प्राप्त करने पर आधारित था न कि ब्रिटेन को भारत का शत्रु बनाना था। अधिक स्पष्टता से कहा जाए तो 1948 के संयुक्त रक्षा परिषद् से, जिसने भारत और पाकिस्तान के बीच परिसम्पत्तियों और सशस्त्र बलों का विभाजन पूरा किया था, लेकर 1954 के चीन-भारत पंचशील समझौते और बाद में 1972 के भारत-पाक शिमला समझौता तक विभिन्न औपचारिक और अनौपचारिक संधियाँ हो चुकी थीं। इन संधियों में भारत की विदेश और सुरक्षा नीति निर्माण में इन विश्वास निर्माण उपायों का समावेश किया गया था। वास्तव में, भारत और चीन द्वारा प्रवर्तित शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (पंचशील) के पाँच सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में स्थिरता और शान्ति सुनिश्चित करने में सबसे अधिक सक्षम रहे हैं।

अपने वास्तविक व्यवहार में भी भारत और पाकिस्तान के बीच नागरिक लक्ष्यों के विरुद्ध बल प्रयोग न करना या सशस्त्र बलों के चयनात्मक प्रयोग पर अव्यक्त करार जैसे मुद्दों पर, अपने व्यवहार में भी, संहिताबद्ध प्रलेखों और अन्य क्रियाविधियों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावकारी विश्वास निर्माण उपाय रहे हैं; जिन्हें इस अशान्तिग्रस्त संबंध में सुनिश्चित करने के लिए रखा गया है। वास्तव में, एशिया में विश्वास निर्माण उपाय की विचारधारा को सिद्धान्त का रूप देने की कोई परम्परा नहीं थी, विशेषकर मॉडल निर्माण की परम्परा नहीं रही है जो बहुत यूरोपीय और विधिवादी तथा कठोर हो। एशियाई विश्वास निर्माण उपाय बहुत अधिक व्यापक आधार और अनौपचारिक रहे हैं जहाँ व्यक्ति अधिक प्रभावकारी रहते हैं, न कि संस्थाएँ। यह विश्वास निर्माण उपाय की प्रभाविता पर नियंत्रण हो सकता है।

NMDC-288

संक्षेप में, एशियाई विश्वास निर्माण उपायों की तुलना पश्चिमी प्रतिमान से की जाती है तो विशेषकर कुछ अधिक मुख्य विशेषताएँ नजर आती हैं, की पहला, सन्निकट संकट की अवास्तविक अनुभूति होने की दशा, जो विश्वास निर्माण उपायों की उन सभी पश्चिमी अवधारणाओं के लिए बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। एशिया की वैसी ही परिस्थितियों में उसी मात्रा की तीव्रता और परिशुद्धता से सदा नहीं निपटा जाता है। एशिया की कुछ-कुछ अस्पष्ट बहुकेन्द्रिक स्थिति में, राष्ट्र कभी भी उसी प्रकार अधिक स्पष्ट रूप से विभाजित नहीं रहे हैं जैसे साम्यवादी और उदार लोकतंत्र जो शीत युद्ध विभाजन के लक्षण हैं। दूसरा, संघर्ष के संभाव्य पक्षों के बीच सैन्य क्षमता की व्यापक समानता की बुनियादी दशा, फिर यह विश्वास निर्माण उपायों की यूरोप केन्द्रित लक्षण अधिक हैं। यह संकट की एशियाई दशाओं में अनुपस्थित प्रतीत होता है। चीन, भारत और पाकिस्तान का उल्लेख शक्ति की इस असमानता के आदर्श उदाहरण के रूप में किया जा सकता है जो इन देशों में से प्रत्येक की संस्कृतियों, राजनीतिक और रणनीतिक प्रणालियों के निश्चित स्वरूप को सीमित या बहुगुणित करता है। तीसरा, अंतर्राज्यीय सीमाएँ, जो यूरोपीय विश्वास निर्माण उपायों के बुनियादी तत्वों का निर्माण करते है। यह अपने आपमें ही एक समस्या है और इसलिए इसी उद्देश्य के प्रति अधिकांश एशियाई विश्वास निर्माण उपाय समाधान देने का प्रयास करते हैं। एशियाई विश्वास सुरक्षा निर्माण उपायों का समर्थन साधारणतया सदैव व्यापक नेटवर्क द्वारा होता है, जैसे राज्य प्रयोजित लोगों का लोगों से संपर्क जिसका उद्देश्य दोनों ओर के सम्पूर्ण सामाजिक समुदायों के बीच आपसी विश्वास और समझ का विस्तार करना है।

इसलिए यह मिथक है कि एशियाई विश्वास निर्माण उपाय यूरोपीय प्रतिमान का उपोत्पादन होने के कारण सुरक्षा का आधार नहीं है। वास्तव में, एशियाई देशों में विश्वास निर्माण उपायों की अपेक्षा यूरोपीय विश्वास निर्माण उपायों की मॉडलिंग में भूमंडलीय कारकों का निश्चित रूप से कहीं अधिक प्रभाव है। यह केवल इसलिए है कि ऐसा यूरोप में नहीं हुआ है जैसे (क) एशिया में विद्यमान संघर्षों को दोनों महाशक्तियों के राष्ट्रीय हितों के लिए कभी भी महत्वपूर्ण नहीं देखा गया था; और (ख) मध्यम श्रेणी की शक्तियाँ, जैसे चीन और भारत शीत युद्ध के वर्षों की संगठित द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था से निरन्तर मुक्त हो रहे थे।

10.5 भारत के अनुभव

पहला, भारत-चीन संबंधों में विश्वास-निर्माण उपायों के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए दोनों पक्षों के प्रयासों को दो भिन्न-भिन्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है; 1962 के युद्ध से पहले का चरण और युद्ध के बाद का चरण, जब दो एशियाई महाशक्तियाँ कुछ किस्म के शीत युद्ध संघर्ष में उलझ गए थे। जहाँ तक पाकिस्तान का प्रश्न है यह 1947 के हिंसाग्रस्त विभाजन से पहले भारत का ही भाग रहा था, इस घटना ने दोनों पक्षों पर एक स्थायी क्षतचिह्न छोड़ दिया था। इस प्रकार वे एक-दूसरे के नम्बर एक शत्रु बने रहे। तदनुसार विश्वास निर्माण उपायों के लिए भारत-पाक पहले निरंतर होती रहीं, यद्यपि वे काफी धीमी थीं। वैसे चीन-भारत विश्वास निर्माण उपायों की तुलना में इनकी संख्या भी काफी अधिक थी। परन्तु उनके समीकरणों के निश्चित स्वरूप के बावजूद चीन-भारत विश्वास निर्माण उपाय अपने संघर्षों की हिंसात्मक अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने में अधिक प्रभावी रहे हैं। अतः तुलनात्मक दृष्टि से चीन-भारत विश्वास निर्माण उपायों ने कहीं अधिक सकारात्मक परिवेश उत्पन्न किया है और विकसित भी किया है जो उन्हें यूरोप के अनुभवों से भिन्न करता है बल्कि कुछ सीमा तक भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों के विकास से भी भिन्न करता है।

10.5.1 भारत-पाकिस्तान विश्वास निर्माण उपाय

भारत-पाक के अपने विश्वास निर्माण उपायों के विकास में मुख्य पहलों के मार्ग की रूपरेखा प्रस्तुत करने से पहले भारत-पाक दोनों के संघर्षों के निश्चित स्वरूप को समझना, भारत-पाक विश्वास निर्माण उपाय

को भी समझना संभवतः महत्वपूर्ण होगा। और यहाँ दक्षिण एशियाई विश्वास निर्माण उपायों के सामान्य स्वरूप के अनुसार उन पर विचार करने के अलावा, चीन-भारत और भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों के बीच कुछ आवश्यक अंतरों को समझना महत्वपूर्ण है। यह संभवतः भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों के आवश्यक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए महत्वपूर्ण है।

पहला, चीन-भारत प्रतिस्पर्धा की तुलना में, भारत और पाकिस्तान के बीच प्रतिस्पर्धा और विश्वास निर्माण उपाय सदा कहीं अधिक दिखाई दिए हैं। बहुधा उन्होंने अपनी सार्वजनिक भावना के भावात्मक प्रस्फोट के रूप में व्यक्त किया है, चाहे वे सकारात्मक हो या नकारात्मक। फिर भी, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारत-पाक विश्वास निर्माण उपाय चीन-भारत विश्वास निर्माण उपायों की अपेक्षा किसी भी प्रकार से अधिक प्रभावी रहे हैं।

दूसरा, भारत-पाक सैनिक संघर्ष और संकट की कल्पना सदैव अधिक नियमित और वास्तविक रहीं है और इसलिए ये भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों के क्रमिक विकास में अधिक बाध्यकारी कारक रहे हैं। जबकि चीन-भारत के विश्वास निर्माण उपाय अधिक गति और आपसी समझ से उत्पन्न हुए हैं। तदनुसार, न्यून प्रोफाइल के होने के बावजूद चीन-भारत विश्वास निर्माण उपाय कई अन्य की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी तो रहे हैं परन्तु भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों की भाँति अस्पष्ट नहीं।

तीसरा, भारत-पाक पहलों में विश्वास निर्माण उपायों का प्रयोग बहुधा प्रतिस्पर्धा को छिपाने के लिए किया गया है। प्रतिस्पर्धा तेज़ करने के लिए या विश्वास निर्माण उपाय विकसित करने की पहलें चीन-भारत संबंधों में हुई पहलों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से एक साथ हुए हैं या परस्परछादी रहे हैं। इस दृष्टि से 1999 की घटना भारत के जम्मू और कश्मीर राज्य के करगिल क्षेत्र में पाकिस्तानी घुसपैठ की घटना हो सकती है जो फरवरी 1999 की लाहौर शिखर बैठक की पृष्ठभूमि में हो रही थी।

और अंत में भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों का विश्लेषण करते समय ध्यान में रखा जाने वाला सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक भारत के विभाजन की ऐतिहासिक देन (धरोहर) और बाद में पाकिस्तान का विखंडन और भारत के सक्रिय प्रोत्साहन से नए राज्य बांग्लादेश का निर्माण है। इसने न केवल दक्षिण एशिया उपमहाद्वीप के रणनीतिक समीकरणों को पूर्णतः रूपांतरित किया है अपितु भारत–पाक अंतर्राज्य प्रतिस्पर्धा को पूरी तरह से पृथक संदर्भ में रखा है।

जहाँ तक भूतपूर्व संयुक्त पाकिस्तान से भारत के विश्वास निर्माण उपायों का संबंध है, ये 1970 के दशक के बाद आने वाले उन भारत-पाक विश्वास निर्माण उपाय से कम समरूप हैं जो अन्य दक्षिण एशियाई पड़ोसियों के साथ भारत के विश्वास निर्माण उपाय हुए हैं जिन्हें भारत के आकार और पराक्रम के बारे में उसी प्रकार के तनाव और संदेह से देखा गया है, यद्यपि ये भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों की अपेक्षा भी कम महत्वपूर्ण रहे हैं। इस तथ्य के बावजूद ये अन्य छोटे-छोटे दक्षिण एशियाई राज्य विवादास्पद सीमाओं, भारत के साथ परस्परव्यापी; धार्मिक और सांस्कृतिक नृजातीयता के बारे में एक जैसी समस्याओं का सामना कर रहे हैं, उनके साथ विश्वास निर्माण उपायों का निर्माण पाकिस्तान के साथ विश्वास निर्माण उपाय कार्य की अपेक्षा अधिक आसान है। उनकी निश्चित ऐतिहासिक देन (धरोहर), भारत-पाक अन्योन्यक्रियाओं में पारस्परिक संदेह भारत के अन्य पड़ोसियों की तुलना में बहुत अधिक गहरे हैं। तदनुसार बीजिंग या इस्लामाबाद की तुलना में भारत इन छोटे-छोटे दक्षिण एशियाई देशों के साथ विश्वास निर्माण उपाय विकसित करने में अधिक सफल रहा है। इस संबंध में स्पष्टतः पाकिस्तान सबसे अधिक कठिन देश रहा है। विवादों को हल करने के लिए अपने दृष्टिकोण में सबसे अधिक बुनियादी अंतर का उल्लेख करें तो इस्लामाबाद ने भारत-पाक समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने का बार-बार प्रयास किया है, जबकि भारत ने द्विपक्षीय स्तर पर कठिनाइयों को हल करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार, भारत यद्यपि

NMDC-288

चीन-भारत संबंधों, विशेषकर पाकिस्तान के परमाणु और प्रक्षेपास्त्र कार्यक्रमों में चीन के कथित सहयोग के प्रति अत्यधिक संवेदनशील रहा है। पाकिस्तानी शक्ति सम्पन्न वर्ग में अधिकांश नीति निर्माताओं ने इस कारक की पूरी तरह से अनदेखी की है।

इस तथ्य के बावजूद कि जहाँ तक भारत-पाक पहलों के प्रयासों का संबंध है, भारत की शक्ति सम्पन्न वर्ग के कुछ वर्गों से पाकिस्तान की इसी विचारधारा को नकारात्मक प्रतिक्रिया मिली है और दोनों ने चार युद्ध लड़े हैं। भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों का विकास केवल इस तथ्य से पर्याप्त सुकर हुआ है कि ब्रिटिश से सत्ता का शान्तिपूर्ण हस्तांतरण हुआ है। दूसरा, दो स्वतंत्र उपनिवेशी राज्यों में भारत का शान्तिपूर्ण विभाजन सुनिश्चित करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व की स्वीकृति ने भी कम से कम कुछ समय बाद भारत पाक सकारात्मक पारस्परिक क्रिया के लिए मार्ग प्रशस्त किया। वास्तव में, भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों का पहला उदाहरण 1946-48 के दौरान संयुक्त रक्षा परिषद् की कार्यविधि में स्वतः निहित था क्योंकि इसने ब्रिटिश भारतीय सशस्त्र बलों के भंडार, उपकरण और जनशक्ति के और इसी प्रकार भारत और पाकिस्तान के दो स्वतंत्र उपनिवेशी राज्यों (dominions) के बीच उसकी अन्य आर्थिक परिसम्पत्तियों का विभाजन करने का प्रयास किया। यहाँ तक कि उनके 1948 के प्रमुख युद्ध के दौरान ऐसे कई उदाहरण हैं कि दोनों पक्षों के (जिन्होंने 1947 तक साथ-साथ काम किया था) किस प्रकार फील्ड कमाण्डरों के पारस्परिक व्यवहार ने दोनों पक्षों से मामले को सुलझाने तथा आगे हिंसक कार्रवाइयाँ रोकने में सहायता की।

एक प्रकार से इसने भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों के सम्पूर्ण पथ की वह आधारशिला रखी थी जो विभिन्न अवसरों पर करारों की शृंखलाओं और समझौतों में दिखाई दी। फिर भी, यहाँ तक कि दोनों पक्ष कई विश्वास निर्माण उपायों पर सहमत हुए जिनमें सैनिक टुकड़ियों की शान्तिकाल की स्थिति पर वापसी, युद्ध विराम/नियंत्रण रेखा (Line of Control–LoC) का सीमांकन, और ऐतिहासिक ताशकंद और शिमला समझौते भी शामिल हैं। हिंसक विभाजन की उनकी राजनीतिक आकांक्षाएँ विश्वास निर्माण उपाय के सकारात्मक पहलों को क्षति पहुँचाती रहीं। आपसी विश्वास और समझ के अभाव में, लिखित समझौतों का पुलिन्दा व्यक्तिपरक व्याख्या और अक्रियान्वयन के लिए सुरक्षित बना रहा। फिर भी, दोनों ने कुछ सबसे अधिक महत्वपूर्ण विश्वास निर्माण उपायों के समझौते किए जैसे (क) एक-दूसरे के परमाणु प्रतिष्ठानों पर हमला नहीं करना, (ख) सैन्य अभ्यासों के संबंध में पूर्व-सूचना, और (ग) दो प्रधानमंत्रियों के बीच "हॉट लाइन" टेलीफोन सम्पर्क चालू करना। दोनों देशों की विदेशमंत्री स्तर की वार्ताओं ने भी संधिवार्ताओं के लिए महत्वपूर्ण कड़ी विकसित की है। परन्तु विभिन्न कारणों से भारत-पाक संघर्षों को नियंत्रित करने में ये उपाय सदा की भाँति सीमित रहे हैं।

भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों के विकास में यह ध्यान में रखना चाहिए कि 1980 के दशक के उत्तरार्ध से इन उपायों को बढ़ावा मिला है। कम से कम भारतीय परिप्रेक्ष्य से इसने आंशिक रूप में जागरूकता बढ़ाई है। इसके विपरीत, पाक-चीन संबंध अधिक गहरे होने के कारण और पाकिस्तान के परमाणु तथा प्रक्षेपास्त्र कार्यक्रमों की सफलता, भारत के पंजाब तथा जम्मू और कश्मीर राज्यों में पाकिस्तान के लगातार कम तीव्रता का युद्ध के कारण भी है। अंतर-राज्य सैन्य प्रतिस्पर्धा की परम्परागत दृष्टि से भी इस अवधि ने भारत के ब्रासटेक और पाकिस्तान के जेट-बे-मोमिन जैसे बड़े सैन्य अभ्यासों को देखा है जो सैन्य शक्ति प्रदर्शन की आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति थी। इसके अलावा, पाकिस्तान ने अल्प तीव्रता के छद्म युद्ध का भी सहारा लिया था। यह भारत के लिए बहुत मँहगा सिद्ध हुआ, और पाकिस्तान को भी अपने रणनीतिक उद्देश्यों में कोई अच्छी सफलता नहीं मिली। इन सबने पश्चिमी संचार माध्यमों के पत्रकारों तथा विश्लेषणकर्त्ताओं का ध्यान बहुत अधिक आकर्षित किया। भारत-पाक प्रतिस्पर्धा ने अब विभिन्न पश्चिमी गैर-सरकारी तथा सरकारी संगठनों का ध्यान आकर्षित किया है। पश्चिमी समीक्षकों के

NMDC-288

अनुसार ये दोनों देश 1991 और 1999 के दौरान बार-बार अपने संकट के साथ खुले युद्ध के समीप आ गए थे और इसमें कथित तौर पर परमाणु युद्ध की संभावना भी हो सकती थी।

भारत-पाक प्रतिस्पर्धा के बारे में उजागर की गई इस संभ्रान्ति ने इन दोनों देशों के बीच ट्रेक-II कूटनीति को नया प्रोत्साहन दिया जिसने 1990 के दशक के प्रारंभ से गति पकड़ी। इन ट्रेक-II वार्ताओं ने संघर्षरत शक्ति-सम्पन्न देशों के बीच संचार को दूसरा मार्ग प्रदान किया और नई नीति संबंधी पहलुओं के लिए परीक्षण के आधार के रूप में सरकारी स्थितियों के बीच अंतर कम करने का प्रयास किया। इन ट्रेक-II गतिविधियों से क्या प्राप्त हो सकता है, इसका उदाहरण दोनों प्रधानमंत्रियों के बीच द्विपक्षीय वार्ता द्वारा जो अब कोई गोपनीय नहीं है, हाल ही में दिखाई दी है। यह वार्ता विशेष दूतों – नियाज नाइक और आर. के. मिश्रा के माध्यम से हुई। उनकी वार्ता के ग्यारह दौर हुए थे और कथित रूप से वे कश्मीर के ऐतिहासिक समाधान के "बहुत समीप" पहुँच गए थे कि अक्टूबर 12, 1999 के पाकिस्तान के चौथे सैनिक शासन परिवर्तन द्वारा यह प्रक्रिया समाप्त हो गई। इस प्रकार अंत में, यद्यपि विश्वास निर्माण उपाय विकसित करने के प्रति भारत पाक की पहलों ने इन दो देशों के बीच आपसी समझ और पारदर्शिता बढ़ाई है, फिर भी, वे राजनीतिक इच्छा और चमत्कारी नेतृत्व द्वारा साहसिक व्यक्तिशः पहलुओं पर टिक कर रह गया है और इसलिए उनकी अंतर-राज्य प्रतिस्पर्धा नियंत्रित करने में उनकी प्रभाविता का स्तर और वार्ताएँ सदा की भाँति अनिर्णायक रही हैं।

10.5.2 भारत-चीन विश्वास निर्माण उपाय

यदि चीन-भारत के विश्वास निर्माण उपाय की, प्रथम अवस्था को स्मरण करें तो चीन की 1949 की अक्टूबर क्रांति के शीघ्र बाद माओ की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने वाला तथा बीजिंग से राजनयिक संबंध स्थापित करने वाला भारत पहला ग़ैर साम्यवादी देश और चौथा एशियाई देश था। संयुक्त राज्य अमेरिका से नकारात्मक संकेत मिलने के बावजूद संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में बीजिंग की स्थायी सदस्यता का समर्थन भी भारत ने किया था। अमेरिका का संकेत था कि वह सुरक्षा परिषद में चीन के स्थान पर भारत की स्थायी सदस्यता पर विचार कर सकता है। तथापि भारत अमेरिकी प्रलोभनों का शिकार नहीं हुआ बल्कि भारत ने तिब्बत में अपनी सभी सैनिक और प्रशासनिक उपस्थिति समाप्त कर दी और नए चीन के प्रति अपनी सद्भावना प्रदर्शित करने के लिए चीनी गणतंत्र के स्वायत्त क्षेत्र के रूप में तिब्बत को मान्यता दी। यह 29 अप्रैल 1954 के पंचशील समझौते के अधीन किया गया। इस पर संधिवार्ताओं के महीनों बाद बीजिंग में हस्ताक्षर किए गए। ये सभी पहलें चीन-भारत की शंकाओं और मतभेद की संभावनाओं को नियंत्रित करने के लिए की गई थीं; परन्तु उनका आचरण अनिवार्यतः वैसा ही था जैसा बाद में यूरोपीय विश्वास निर्माण उपायों के लिए रहा। यह माना जाता है कि ये रियायतें सीमा संबंधी उन प्रश्नों पर बड़े समझौते की दृष्टि से की गई थी जो नेहरु और चाऊ इन लाई के बीच स्वीकृत हुए थे। इन आशाओं को 1962 के चीन-भारत युद्ध ने विफल कर दिया और इससे दोनों देशों के बीच गंभीर संधिवार्ता को आरंभ करने में बहुत लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। यद्यपि उन्होंने 1976 में राजनयिक संबंध बहाल कर दिए थे परन्तु यह केवल 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में हुआ था कि भारत-चीन संबंधों का सामान्य होना आरंभ हुआ, और सीमा तनावों के बाद उनके संबंधों में पर्याप्त सुधार हुआ। 1986 में वास्तविक नियंत्रण रेखा की निगरानी कर रहे भारतीय सेना की टुकड़ियों ने विवादास्पद सीमा के पूर्वी क्षेत्र में संदुरंग चू घाटी में थोड़े समय तक कब्जा रखा तो चीनी सैनिक टुकड़ियों ने वहाँ स्थायी आधार स्थापित कर दिया। भारत और चीन एक-दूसरे पर अतिक्रमण का आरोप लगाते रहे। ऐसा प्रतीत होता था कि इस घटना से भारतीय नेतृत्व को यह विश्वास हो गया था कि सीमा समस्या सैन्य उपायों से हल नहीं हो सकती थी। तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने चीन के दौरे में राजनयिक प्रयास किया। इसके बाद भारत और चीन के नेताओं के दौरों का क्रम आरंभ हुआ तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान

हुए। अंततोगात्वा इनसे दो प्रमुख विश्वास निर्माण उपायों पर हस्ताक्षर करने का मार्ग प्रशस्त हुआ जो निस्संदेह उनकी विवादग्रस्त सीमाओं पर शान्ति सुनिश्चित करने में प्रभावी हुए।

पहला विश्वास निर्माण उपाय समझौता 1993

प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव और प्रधानमंत्री ली फ़ंग के बीच 7 सितम्बर 1993 को बीजिंग में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। "वास्तविक नियंत्रण रेखा के साथ शान्ति बनाए रखने पर समझौता" (इसके बाद **AMPT–Agreement on Maintenance of Peace and Tranquility)** को दो एशियाई देशों के बीच किसी त़ीसरे पक्ष की किसी प्रकार की मध्यस्थता के बिना ऐसा पहला प्रमुख परम्परागत अस्त्र नियंत्रण करार के रूप में माना गया। अप्रैल 1954 के अपने पंचशील समझौते के बाद यह अपनी किस्म का पहला कदम था। इसके फलस्वरूप यह पंचशील में विश्वास दोहराकर प्रारंभ होता है और निश्चयपूर्वक कहता है कि ये सभी अंतरराज्य संबंधों का आधार होना चाहिए। परन्तु उनके पिछले पंचशील समझौते से दूर, जिसमें केवल भारत ने ही बड़ी रियायतें दी थीं, यह दोनों पक्षों के लिए केवल "सौजन्य" तथा "पारस्परिक तथा समान" लाभ के सिद्धान्त पर भूमिका स्वरूप रह गया है और इन विशिष्ट विश्वास निर्माण उपायों की रूपरेखा मुहैया करता है जिसे चीन-भारत की समझ और आपसी विश्वास को आगे अधिक सुदृढ़ करना चाहिए।

AMPT का एक अनुच्छेद सीमा के प्रश्न को "यद्यपि शान्तिपूर्ण और मैत्रीपूर्ण परामर्श' से हल करने की सम्मति को महत्व देते हुए आरंभ होता है और दोनों पक्ष "वास्तविक नियंत्रण रेखा का दृढ़ता से सम्मान करने तथा पालन करने" का और "बल प्रयोग करने की धमकी या प्रयोग कभी न करने" का संकल्प करते हैं और जब कभी आवश्यक हो, अपनी सीमाओं की "संयुक्त रूप से जाँच करने तथा उसके क्षेत्र **(sectors)** निर्धारित करने" का वचन देता है। अनुच्छेद दो दोनों पक्षों को अपनी सीमा पार सैनिकों की उपस्थिति "मैत्रीपूर्ण और अच्छे पड़ोसी के संबंधों के अनुरूप न्यूनतम स्तर पर" रखने और इन सैनिकों को "पारस्परिक तथा समान सुरक्षा के सिद्धान्त की आवश्यकताओं के अनुरूप" आगे "कम करने" पर बल देता है। यहाँ से आगे बढ़ते हुए अनुच्छेद तीन "प्रभावी विश्वास निर्माण उपायों" को विकसित करने, "पारस्परिक रूप में निर्धारित क्षेत्रों में सैन्य अभ्यास न करने" और सीमा क्षेत्रों के साथ "सैन्य अभ्यासों की अधिसूचना देने" का उल्लेख करता है। अनुच्छेद चार और पाँच में अतिक्रमण और अन्य आपात स्थितियों से निपटने की क्रियाविधि बनाने के लिए उनकी सहमति के बारे में प्रावधान हैं। अनुच्छेद 6 में दोनों पक्ष यह घोषणा करते हैं कि इन संकल्पों के होते हुए भी इस संधि में कुछ भी "सीमा प्रश्न पर उनकी अपनी अपनी स्थितियों पर प्रतिकूल प्रभाव" नहीं डालेंगे।" इस प्रकार उनका मुख्य विवाद, यद्यपि औपचारिक रूप से स्वीकार किया गया है, विश्वास निर्माण उपाय बढ़ाने के मार्ग में बाधक नहीं बनाया गया है।

भावी पहलों को प्रारंभ करने के लिए अनुच्छेद 7 दोनों पक्षों को "प्रभावकारी/सत्यापन (verification) उपायों के प्रकार, विधि, माप और मात्रा" विशिष्ट रूप से परिभाषित कर आरंभ करने के लिए कहता है। अनुच्छेद 8 प्रत्येक पक्ष को "पारस्परिक परामर्श के माध्यम से वर्तमान समझौते के क्रियान्वयन के उपाय तैयार करने के लिए राजनयिकों और सैन्य विशेषज्ञों को नियुक्त करने" की राह सुझाता है। इस अनुच्छेद-8 के अधीन विशेषज्ञ समूह स्थापित करने की भी व्यवस्था है। इन्हें चीन-भारत विश्वास निर्माण उपायों के संस्थानीकरण में इस संधि की अधिकतम उपलब्धि के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। रक्षा, आंतरिक और विदेश मंत्रालयों तथा भारतीय सर्वेक्षण के अधिकारी इस समूह में हैं। यह समूह अब सीमा अंकन और अन्य संबद्ध समस्याओं पर बातचीत करने का सबसे अधिक नियमित और समर्पित माध्यम बन गया है।

NMDC-288

दूसरा विश्वास निर्माण उपाय समझौता, 1996

विश्वास निर्माण उपायों पर यह बारह अनुच्छेदों का समझौता है। इस समझौते पर राष्ट्रपति जिआंग ज़ेमिन की नवम्बर 1996 में नई दिल्ली यात्रा के दौरान हस्ताक्षर किए गए थे, इसे भी अद्वितीय और महत्वपूर्ण स्वीकारा गया है। नई पहलों में उनके विद्यमान विश्वास निर्माण उपायों को आगे विस्तार करने के लिए सैन्य क्षेत्र में अधिक निश्चित और संवेदनशील बनाया गया है। इसका पहला अनुच्छेद इस प्रकार है: "कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष के विरुद्ध अपनी सैन्य क्षमता का प्रयोग नहीं करेगा"। इस प्रकार इसे वस्तुतः "युद्ध वर्जन समझौता" बनाता है। और दोनों पक्षों ने इसे उसी भावना में अपनाया है। एक बार फिर यह LoAC (अनुच्छेद दो) के प्रति उनकी वचनबद्धता स्वीकार करता है, जबकि इस बार फिर पूर्णतः यह स्वीकार करते हुए कि कुछ क्षेत्रों (sectors) पर दोनों के "भिन्न-भिन्न विचार" हैं और "यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र अपनी-अपनी अवधारणाएँ निर्दिष्ट करने वाले मानचित्रों का आदान-प्रदान करना आरंभ करें।" यह संवेदनशील प्रश्नों के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण दोनों पक्षों पर पारस्परिक विश्वास को प्रतिबिम्बित करता है।

इन सभी वर्षों में मुख्य भ्रम यह रहा है कि तिब्बत में सेना की तैनाती को चीन पारस्परिक कटौती के लिए खुला नहीं मानता है। उसे चीन आंतरिक सुरक्षा के लिए मानता है, जबकि भारत का विश्वास है कि तिब्बत पठार पर चीनी सेना स्पष्टतः भारत की सेना की तुलना में एक से दस का लाभ है। इस भ्रान्ति को स्पष्ट करने के लिए अनुच्छेद तीन में व्यवस्था है कि "पारस्परिक और समान सुरक्षा के सिद्धान्त" का अनुसरण करते हुए सभी उच्चतम सीमाएँ "भूक्षेत्र के स्वरूप, मार्ग संचार और अन्य बुनियादी सुविधाओं तथा सेना और सैन्य सामग्री की तैनाती हटाने में लिया जाने वाला समय जैसे मापदंडों पर आधारित होने की आशा की जाती है।" अनुच्छेद चार कुछ प्रकार के आपत्तिजनक आयुधों का स्पष्टतः वर्गीकरण करता है, जिसकी प्रक्रिया को प्राथमिकता प्राप्त होगी। इनमें युद्धक टैंक, पैदल सेना के युद्धक वाहन, 75 मिमी या अधिक व्यास की तोपें (हाद्रिजर्स सहित) 120 मिमी. या बड़े व्यास के मोर्टार, जमीन से जमीन पर मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र" शामिल हैं। प्रारंभ में दोनों पक्ष "सैन्य बल और सैन्य सामग्री पर आँकड़ों का आदान-प्रदान" करेंगे जिनमें कटौती की जाती है। यह दोनों पक्षों को "वास्तविक नियंत्रण रेखा (LoAC) के निकटवर्ती क्षेत्र में ऐसा सैन्य अभ्यास न करने के लिए प्रोत्साहित करेगा जिसमें एक डिविजन (15,000 सैनिकों) से अधिक हो" और "अभ्यास के प्रकार, स्तर, आयोजित समय-अवधि और क्षेत्र" के बारे में एक-दूसरे को सूचित करेंगे, यदि इसमें एक ब्रिगेड (5,000 सैनिकों) शामिल हैं और समापन पर पाँच दिन के अंदर सेना की कटौती के बारे में सूचित करेंगे। दूसरा पक्ष कितने भी स्पष्टीकरण लेने के लिए स्वतंत्र होगा।

मुख्य कदम आगे बढ़ाते हुए दोनों ने स्वीकार किया कि कोई भी लड़ाकू विमान जिसमें "फाइटर, बमवर्षक, टोही, प्रशिक्षक विमान (मिलिटरी ट्रेनर), सशस्त्र हेलिकॉप्टर और अन्य विमान शामिल हैं, दूसरे पक्ष की पूर्व अनुमति के अलावा, वास्तविक नियंत्रण रेखा के " दस किलोमीटर के अंदर उड़ान नहीं कर सकेंगे। अनुच्छेद छह "वास्तविक नियंत्रण रेखा के दो किलोमीटर के अंदर खतरनाक रसायन, विस्फोट कराने या बंदूक या विस्फोट से शिकार करने" की मनाही करता है जब तक यह विकास कार्य का भाग न हो, इस मामले में दूसरे पक्ष को "सीमा-कर्मियों को राजनयिक माध्यमों द्वारा या बैठक आयोजित करके पाँच दिन पहले सूचित करना होगा। तब "अपने सैन्य-कर्मियों और स्थापनाओं के बीच आदान-प्रदान और सहयोग" सुदृढ़ करने के लिए अनुच्छेद सात प्रावधान करता है कि दोनों पक्ष विस्तार करेंगे: (क) दोनों पक्षों के बीच निर्धारित स्थानों पर उनके सीमा प्रतिनिधियों के बीच बैठकें; (ख) इन सीमा बिन्दुओं के बीच दूर संचार संपर्क; और (ग) सीमा अधिकारियों के बीच धीरे-धीरे मध्यम से उच्च स्तर पर सम्पर्क स्थापित करना।

NMDC-288

क्या कोई जमीनी या हवाई अतिक्रमण "प्राकृतिक आपदा जैसी परिस्थितियों में, अपरिहार्य हो सकता है, इस विषय पर दूसरे पक्ष से अनुच्छेद आठ के अधीन उन्हें सभी संभव सहायता देने की" आशा की गई है और दोनों सूचना का आदान-प्रदान करेंगे तथा "संबंधित कर्मियों की वापसी की औपचारिकताएँ" तैयार करने के लिए परामर्श करेंगे।" और अंत में, अनुच्छेद ग्यारह के अधीन सीमा प्रश्न पर चीन-भारत कार्य दल "ब्यौरेवार क्रियान्वयन उपायों" के लिए "आपस में परामर्श" प्रारंभ करने के लिए प्रेरित किया गया है और अनुच्छेद नौ के अधीन प्रत्येक पक्ष को उस "तरीके के बारे में स्पष्टीकरण माँगने का अधिकार है जिसमें दूसरा पक्ष समझौते को देख रहा है" या सीमावर्ती क्षेत्र में "संदेहास्पद परिस्थिति" देख रहा है।

10.6 क्या विश्वास निर्माण उपाय प्रभावी रहे हैं?

पहले स्थान में विश्वास निर्माण उपायों की प्रभाविता के बारे में इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि इन विश्वास निर्माण उपायों से कोई क्या प्राप्त होने की आशा करता है। स्पष्ट है कि विश्वास निर्माण उपायों से अंतर-राज्य विवाद का समाधान होने या उनके अंतर-राज्य प्रतिस्पर्धा या संघर्षों का कोई भी टिकाऊ हल प्राप्त होने की आशा नहीं की जाती है। विश्वास निर्माण उपायों से अधिक से अधिक ऐसे मार्गदर्शी सिद्धान्तों की शृंखला के अनुसार सम्मिलित पक्षों की व्यक्त इच्छाओं पर केवल बल दिया जा सकता है जो निश्चित विवाद या विवादों के बारे में उनकी आचार संहिता का निर्धारण कर सकेगा, और उनकी अंतर-राज्य प्रतिस्पर्धा विनियमित करेगा और इसी प्रकार गलतफहमियों की संभावनाओं को रोकेगा जिनके कारण आपस में विनाशकारी हिंसात्मक कार्रवाई हो सकती है। तदनुसार, विश्वास निर्माण उपाय दोनों पक्षों में किसी भी एक द्वारा तब भंग किए जा सकते हैं जब कभी वह ऐसी रूपरेखा के अभाव में खतरा उठाना चाहता है या यदि वह सोचता है कि रूपरेखा उसकी राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के लिए अप्रासंगिक या हानिकारक हो गई है। इसलिए दक्षिण एशियाई विश्वास निर्माण उपायों की प्रभाविता का आकलन उन चुनौतियों के संबंध में किया जाना चाहिए जो भविष्य में इसी प्रकार उनके शक्ति सम्पन्न वर्ग की ओर से उपलब्ध राजनीतिक इच्छा से उत्पन्न होंगे।

सबसे अधिक स्पष्ट स्तर पर यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि इन पिछले 50 वर्षों के दौरान भारत का चीन से केवल एक युद्ध हुआ है जबकि पाकिस्तान से इसके चार युद्ध हुए हैं, चीन-भारत विश्वास निर्माण उपाय कहीं अधिक प्रभावकारी रहे हैं। इस तर्क की पुष्टि यह कहकर भी हो सकती है कि पाकिस्तान की अपेक्षा चीन अन्यथा कोई अधिक शान्तिप्रिय नहीं रहा है क्योंकि इन पिछले पाँच दशकों के दौरान चीन और पाकिस्तान दोनों प्रत्येक चार-चार बड़े परम्परागत युद्धों में उलझे रहे हैं, यद्यपि एक-दूसरे के विरुद्ध न सही। परन्तु तब इस निष्कर्ष को भी उनकी राष्ट्रीय प्राथमिकताओं, उनकी राष्ट्रीय क्षमताओं और कई अन्य परिवर्तियों के अनुसार भी देखा जाना चाहिए जो इस प्रकार के किसी भी जटिल विश्लेषण शुरू करने की जटिलता बढ़ाती है। इसलिए जिन चुनौतियों से निपटा जाना है उनसे विश्वास निर्माण उपायों की तुलना करने से उनकी प्रभाविता का आकलन करना संभवतः अधिक आसान है। और यहाँ भी चीन-भारत विश्वास निर्माण उपायों का वास्तविक निष्कर्ष निश्चित करें तो यह प्रतीत होता है कि इन्होंने दोनों देशों के बीच विशाल पारस्परिक विश्वास और समझ (understanding) उत्पन्न की है और इसलिए ये अधिक सफल सिद्ध हुए।

अधिक निश्चित रूप से चीन-भारत विश्वास निर्माण उपायों की यह प्रभाविता उनकी सेनाओं के बीच विश्वास निर्माण उपायों की स्थापना और संस्थानिकीकरण से देखी जा सकती है जो संभवतः उनके दो समाजों के अंदर सबसे अधिक रूढ़िवादी बलों का प्रतिनिधित्व करता है। उनके दो रक्षा संस्थापनाओं के बीच विश्वास निर्माण उपायों पर चार सीमा बिन्दुओं, अर्थात् बुअला, और डिचू (पूर्वी क्षेत्र), लिपूलेख

NMDC-288

(Lipulekh) (केन्द्रीय क्षेत्र) और शिप्की ला (Shipki La) (पश्चिमी क्षेत्र में) पर कमाण्डरों की नियमित बैठकों पर विचार करने पर संभवतः इसे इस बात का सबसे अधिक उदाहरण कहा जा सकता है कि सबसे अधिक संवेदनशील बिन्दुओं पर विश्वास निर्माण उपाय किस प्रकार नियंत्रण और मार्गदर्शन कर सकते हैं। हाल ही में, नाथूला (पूर्वी क्षेत्र) में सैनिक कमाण्डरों ने आपात स्थितियों के मामले में वास्तविक तथ्य जानने के लिए "हॉट लाइन" टेलीफोन चालू किया गया है। इन सैन्य विश्वास निर्माण उपायों में अन्य अति महत्व का अगस्त 1995 के दौरान नई दिल्ली में संयुक्त कार्य दल (Joint Working Group–JWG) की बैठकों का आठवाँ दौर रहा है जिसने वाँगडोंग क्षेत्र में चार सीमा चौकियों को वास्तव में विघटित करना स्वीकार किया था, जहाँ सेना की टुकड़ियाँ एक-दूसरे के बहुत समीप आ गई थीं इससे कभी भी कोई समस्या उस खड़ी उत्पन्न हो सकती थी। उस वर्ष PLA वायुसेना के प्रतिनिधिमंडल ने भी भारतीय वायु सेना अड्डों का दौरा किया। इसी प्रकार नवम्बर 1993 के दौरान चीनी नौसेना पोत, झाँगडे (Zhang He) ने मुंबई की सद्भावना यात्रा की जो पिछले 35 वर्षों में अपने किस्म की पहली थी, जबकि आई.एन.एस. मैसूर ने 1958 के दौरान शंघाई का दौरा किया। दोनों नौसेनाओं के बीच नियमित नौ सैनिक अभ्यास अब सामान्य और नियमित हो गए हैं।

संभवतः व्यापार अब भारत का विश्वास निर्माण का सबसे अधिक स्पष्ट प्रतीक बन गया है। इसे भारत का अपने शत्रुओं के साथ विश्वास के प्रभावकारी निर्माण करने की एक सबसे अधिक स्वीकार्य प्रगति के रूप में उल्लेख किया गया है। पुनः भारत-चीन और पाकिस्तान का उदाहरण देने के लिए वर्ष 1994 के विश्वास निर्माण का बहुत महत्वपूर्ण वर्ष रहा है। इस वर्ष, भारत दक्षिण एशियाई देशों में चीन का सबसे बड़ा व्यापार का भागीदार बन गया, इससे निकटतम मित्र देश पाकिस्तान को भी पार कर गया। इससे उन प्रस्तावकों को बहुत प्रोत्साहन मिला जो इस क्षेत्र में अधिक समझदारी के लिए विश्वास निर्माण उपाय निर्धारित करते हैं। पाकिस्तान से भारत का व्यापार अभी भी कम प्रभावी है यद्यपि भारतीय सामान ने पाकिस्तानी समाज के अंदर पहले ही महत्वपूर्ण क्षेत्र विकसित कर लिया है। इस पृष्ठभूमि में पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा उठाई गई अनुक्रमिक पहलों को देखा जाना चाहिए जिसका उद्देश्य चीन और पाकिस्तान से साथ-साथ विश्वास निर्माण करना है। इसे अब भारत की सुरक्षा और शान्ति निर्माण के अभिन्न अंग के रूप में देखा जाता है।

10.7 सारांश

शब्द 'विश्वास निर्माण उपाय' अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की शब्दावली में केवल 1970 के दशक में आया। जैसा कि हम देखते हैं, विश्वास निर्माण उपायों के उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के कुछ सिद्धान्तों को सकारात्मक क्रियाओं में क्रियान्वित करना है ताकि राज्यों को उनके शान्तिपूर्ण इरादों की स्वीकृति की विश्वसनीयता प्राप्त हो सके। विशेष रूप से, वे सैन्य बलों और युद्ध सामग्री के प्रयोग के संबंध में सूचना और सत्यापन के आदान-प्रदान में संलग्न रहते हैं। कुछ उपाय सैन्य क्षमताओं को अधिक पारदर्शी बनाने के और सैन्य तथा राजनयिक क्रियाकलापों के इरादे स्पष्ट करने के प्रयास करते हैं। सैन्य बलों के संचालन के बारे में, और अन्य ऐसे नियमों के अनुपालन के लिए क्रियाविधि के बारे में भी नियम बनाते हैं। इन समझौतों का अभिप्राय प्रतिस्पर्धी पक्षों में दबाव बनाना और बढ़ते संघर्ष को सीमित करना है।

यद्यपि विश्वास निर्माण के ये तत्व शीत युद्ध प्रतिस्पर्धा के संदर्भ में प्रकट हुए हैं फिर भी, ये संघर्ष के अन्य क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न सफलता से लगातार प्रयोग किए गए हैं। जैसा कि हमने देखा, भारत के विश्वास निर्माण उपाय चीन और पाकिस्तान दोनों में उत्पत्ति, प्रक्रिया और प्रभाविता में भिन्न-भिन्न हैं। चीन-भारत विश्वास निर्माण उपाय धीरे-धीरे पुनर्मेल और आपसी समझ से अधिक उत्पन्न हुए हैं जबकि भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों के विकास में अकाट्य कारक नियमित सैन्य संघर्ष और पारस्परिक धमकी की

NMDC-288

धारणाएँ हैं। तदनुसार निम्न प्रोफाइल की पहलों के होते हुए भी, बहुत से परन्तु अस्पष्ट भारत-पाक विश्वास निर्माण उपायों की अपेक्षा चीन-भारत विश्वास निर्माण उपाय कहीं अधिक प्रभावी रहे हैं। ऐसे में व्यापार भारत और चीन के बीच विश्वास निर्माण का स्पष्ट प्रतीक के रूप में उभरा है परन्तु भारत-पाक सैन्य संघर्ष के बारे में अत्यधिक भ्रान्ति ने ट्रैक-II की नई कूटनीति को बढ़ावा दिया है।

10.8 अभ्यास प्रश्न

1) विश्वास निर्माण दृष्टिकोण के उन प्रमुख तत्वों का उल्लेख कीजिए जो महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध से उत्पन्न हुए थे।

2) एशिया में विश्वास निर्माण उपायों की मुख्य विशेषताओं का विवेचन कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि वे यूरोप के विश्वास निर्माण उपायों से किस प्रकार भिन्न हैं?

3) भारत और पाकिस्तान के बीच विश्वास निर्माण उपायों की पहलों और प्रभाविता का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

4) चीन-भारत विश्वास निर्माण उपायों की विशेषता और प्रभाविता का विश्लेषण कीजिए।

5) चीन से भारत की कूटनीति में विश्वास निर्माण उपाय के रूप में व्यापार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

इकाई 11 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष–प्रबंधन तथा समाधान

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

11.3 संघर्ष समाधान

11.4 संघर्ष समाधान के उपाय

- 11.4.1 राजनयिक (कूटनीतिक) उपाय
- 11.4.2 न्यायिक उपाय
- 11.4.3 अहिंसात्मक तथा युद्धोपम (short of war) उत्पीड़क प्रक्रियाएँ
- 11.4.4 नागरिक राजनय (कूटनीति)

11.5 सारांश

11.6 अभ्यास प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष प्रबंधन से अभिप्राय है राजनीतिक, वैधानिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, जोकि राज्यों के पास उपलब्ध भी है और राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान उसका उपयोग भी करते हैं ताकि संघर्ष प्रबंधन किया जा सके। इसमें कभी-कभी बल प्रयोग या युद्ध से कम (बिना युद्ध के) बल प्रयोग, उत्पीड़न राजनय और प्रतिबंध जैसे उपाय शामिल होते हैं। इनका प्रयास होता है – संघर्ष में कमी करना, उससे उत्पन्न कष्ट कम करना और उनमें फ़ेरबदल करना। इन उपायों में शामिल हो सकते हैं: संधियाँ, विवादों के निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रक्रियाएँ, निरस्त्रीकरण एवं अस्त्र-नियंत्रण, तथा सामान्य रूप से शान्ति निर्वहन (peacekeeping) के लिए संयुक्त राष्ट्र का उपयोग। संक्षेप में असुरक्षित विश्व में सुरक्षा की खोज के लिए व्यवस्था तलाश करना। मूल मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में संघर्ष तो अनिवार्य है। फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि राज्यों के परस्पर विरोधी अमैत्रीपूर्ण संबंधों में भी सहयोग के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं ताकि संघर्ष में कमी की जा सके। इसके लिए आवश्यक है सहयोग के दायरे को बढ़ाना और मतभेद के क्षेत्र में कमी करना। शान्ति और संघर्ष के सामान्य अध्ययन के लिए यह विषय इतना महत्वपूर्ण है कि निम्नलिखित में से अनेक संकेतों का उल्लेख अन्यत्र भी होता है।

11.2 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

संसार के सशस्त्र संघर्ष प्रायः क्षेत्रों या संसाधनों की प्राप्ति के लिए, वर्चस्व के लिए, ऐतिहासिक शत्रुता के कारण या आत्म-सम्मान अथवा विस्तारवादी पहचान के लिए होते रहते हैं। राज्यों के मध्य संघर्ष के लिए उत्तरदायी कुछ बुनियादी कारणों को दूर करके संघर्ष प्रबंधन किया जा सकता है। जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में संघर्ष के उपचार के रूप में शक्ति संतुलन के सिद्धान्त का विकास हुआ था, वहाँ बीसवीं शताब्दी में नए संस्थागत और वैधानिक उपक्रमों का विकास हुआ ताकि संघर्ष प्रबंधन किया जा सके। ऐसा विशेषकर दो विश्वयुद्धों के अंतराल काल में हुआ। द्वितीय युद्धोत्तर समय में भी अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के नए उपाय तलाश किए गए हैं।

NMDC-288

राज्यों के मध्य, अथवा राज्यों के आंतरिक संघर्ष विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सम्बद्ध पक्षों की दृष्टि में परस्पर-विरोधी हित होते हैं। प्रारंभ में संघर्ष प्रच्छन्न (latent) हो सकते हैं, जोकि गुप्त (covert) गतिविधियों के रूप में व्यक्त हों।

'प्रच्छन्न' (गुप्त) संघर्ष 'स्पष्ट' या प्रत्यक्ष (overt) संघर्ष का रूप ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त, संघर्ष पहचाने हुए (identified) हो सकते हैं, या फिर ग़ैर-पहचाने (unidentified) हुए भी हो सकते हैं। पहचाने हुए संघर्ष का आधार परस्पर विरोधी हित होते हैं, जिनका संबंध किसी विवाद या कुछ विवादों से होता है। ग़ैर-पहचाने हुए संघर्ष स्पष्ट असहमति के बिना भी उत्पन्न हो जाते हैं। स्पष्ट संघर्ष की अभिव्यक्ति विभिन्न पक्षों के बर्दाश्त के स्तर पर आधारित होती है। कैनेथ बॉल्डिंग (Kenneth Boulding) के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की प्रकृति वास्तव में युद्ध और शान्ति में होते हुए परिवर्तन (alternation) के रूप में व्यक्त की जा सकती है। स्पष्ट संघर्ष प्रायः अनुमानित धमकी (threat) तथा उस धमकी के रूप पर निर्भर करता है। राज्यों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर प्रभाव के विषय में विभिन्न अनुमान लगाए जाते हैं। यह या तो विनाशक या नष्ट करने वाला (destructive) हो सकता है, या फिर शान्ति प्रक्रिया को दृढ़ करने वाला निर्माणात्मक (constructive) हो सकता है। कुछ लेखक संघर्ष को विकास की दृष्टि से भी देखते हैं। संघर्ष समाधान इस अवधारणा पर आधारित होता है कि संघर्ष की समाप्ति हो जाएगी। परन्तु संघर्ष का अंत अन्य रूपों में भी हो सकता है जैसे कि वापसी (withdrawal), विजय (conquest), तथा वार्ता और सौदेबाज़ी (negotiation and bargaining)।

संघर्ष और तनाव, एक ही स्थिति के नाम नहीं हैं। तनाव में छिपी हुई या गुप्त शत्रुता, एक–दूसरे पर शंका इत्यादि शामिल होते हैं, परन्तु उनका प्रत्यक्ष विरोध नहीं होता। परन्तु, प्रायः तनाव के बाद ही संघर्ष उत्पन्न होते हैं, अर्थात् तनाव संघर्ष का प्रथम चरण होता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष राज्यों के मध्य होते हैं। परन्तु, इन राज्यों के नेतागण इन संघर्षों की प्रकृति निर्धारित कर सकते हैं। जो संघर्ष राज्यों में आंतरिक रूप से प्रकट होते हैं वे क्रांति, सैनिक तख्ता - पलट, नागरिक अव्यवस्था, तथा आतंकवाद इत्यादि के रूप में व्यक्त हो सकते हैं।

अनेक लेखकों की रचनाओं में 'युद्ध तथा सशस्त्र आक्रमण' पर बल दिया गया है। मिशिगन (Michigan) विश्वविद्यालय की "कोरिलेट ऑफ वार" (Correlates of War) परियोजना, या स्वीडन के उपासला विश्वविद्यालय का "शान्ति एवं संघर्ष अनुसंधान अध्ययन" ऐसे प्रमुख अध्ययन हैं जिन्होंने विश्व–भर में युद्ध पर ध्यान आकर्षित किया। इनका निष्कर्ष है कि सैनिक प्रौद्योगिकी विकास के कारण संघर्ष की प्रकृति में परिवर्तन आया है। नए शस्त्रास्त्रों ने संघर्ष की तीव्रता, अवधि और उसके भूगोल को प्रभावित और परिवर्तित किया है। 1945 के बाद की अवधि की दो विशेषताएँ हैं। ये हैं – (क) विकसित देशों में संघर्ष में कमी आई है; तथा (ख) अधिकांश संघर्षों की उत्पत्ति अल्प-विकसित और विकासशील देशों में हुई है।

परमाणु अस्त्र तथा नरसंहार के अन्य अस्त्रों (weapons of mass destruction - WMD) ने उन देशों की युद्ध करने, अथवा चल रहे युद्धों की तीव्रता बढ़ने से रोका (या निरुत्साहित) है जिनके पास ये अस्त्र उपलब्ध हैं।

मोटे तौर पर संघर्ष के विभिन्न सिद्धान्तों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता हैं। प्रथम वे जो कि मानव स्वभाव को संघर्ष का आधार मानते हैं। (कोनार्ड लोरेंज, टेड रॉबर्ट गर इत्यादि)। दूसरे वे जोकि राज्यों की आंतरिक विशेषताओं - सरकार का रूप, जातीय विविधता, अर्थव्यवस्था, सैन्य शक्ति, आकार तथा विचारधारा इत्यादि – को संघर्ष के लिए उत्तरदायी मानते हैं। अंत में कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जोकि संघर्ष का कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में 'युद्ध और शान्ति के चक्र' को मानते हैं। संघर्ष प्रबंधन या समाधान के लिए आवश्यक है कि संघर्ष को समझा जाए और उसकी समीक्षा की जाए। ऐसा विविध दृष्टिकोणों से करना होगा ताकि समाधान तलाश किए जा सकें।

11.3 संघर्ष समाधान

गोल्डस्टीन (Goldstein, 2003) के अनुसार, संघर्ष को सुलझाने के लिए शान्ति रणनीतियों के विकास और उनके क्रियान्वयन - हिंसात्मक भाषा के स्थान पर वैकल्पिक भाषा के प्रयोग - को "संघर्ष समाधान" के नाम से जाना जाता है। संघर्ष समाधान की व्यवस्था नई नहीं है। जैसा कि आपने इकाई 7 में पढ़ा है, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में कुछ उन उपायों का उल्लेख है जिनके द्वारा राज्यों के मध्य संघर्षों को सुलझाया जा सकता है। अनुच्छेद 51 में राज्यों के मध्य संघर्ष को निपटाने के कुछ उपायों का उल्लेख है। परन्तु, धीरे-धीरे संघर्ष समाधान के मार्ग को अधिकाधिक अपनाया गया है, तथा अब वह पहले से अधिक परिष्कृत और सफल हो गया है।

यह संभव है कि राज्यों के मध्य संघर्ष की गति को कम किया जा सके, अथवा पूरी तरह रोका जा सके। चार्ल्स ऑस्गुड (Charles Osgood) एवं मॉर्टन ड्यूच (Morton Deutsch) तथा अमिताई ऐन्ज़ियोनी (Etzioni) का तर्क है कि कोई सरकार जो संघर्ष रोकना (या कम करना) चाहती है उसे एकतरफा रियायतें या समझौते के संकेत देने चाहिए। वे ऐसे हों जिनका विरोधी पक्ष भी स्वागत करें या उनको स्वीकार करे। इन राज्यों को अब प्रायः विश्वास स्थापित करने वाले उपाय (Confidence Building Measures – CBMs) कहा जाता है। विरोधियों द्वारा उठाए गए इन कदमों के द्वारा संघर्ष कम या समाप्त किए जा सकते हैं। पिछली इकाई में आपको यूरोप और एशिया में किए जा रहे विश्वास स्थापित करने वाले राज्यों से अवगत कराया गया है। परन्तु यह भी हो सकता है कि एकतरफा समझौता गतिविधियों को नज़रअंदाज कर दिया जाए तथा संघर्ष बना रहे। कभी-कभी कोई आक्रामक देश, दूसरी ओर की ऐसी पहल को शक्तिहीनता का चिह्न मान बैठता है, तुष्टीकरण का प्रयास कहकर इसकी अवहेलना की जा सकती, या फिर उसके विरुद्ध, विरोधी की ओर से और अधिक शक्ति प्रदर्शन करके संघर्ष बढ़ाया जा सकता है।

एक विचार यह भी है कि किसी एक या दोनों संघर्षरत् देशों की आंतरिक संरचनात्मक प्रक्रिया संघर्ष को समाप्त कर सकती है। किसी अधिनायकवादी देश में लोकतंत्रीकरण, या उस ग़ैर-लोकतांत्रिक सरकार के पतन से भी शान्ति स्थापित हो सकती है, तथा संघर्ष समाप्त हो सकता है। जैसा कि आपको ज्ञात है, शीत युद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद, सोवियत संघ के विघटन से, पूर्व-पश्चिम संघर्ष लगभग समाप्त हो गए।

कार्ल ड्यूच (Karl W. Deutsch) का कहना है कि परस्पर विरोधी हितों वाले देशों में संघर्ष का जन्म हो सकता है जो अत्यधिक पारस्परिक-निर्भर हों या जिनके अत्यधिक पारस्परिक सम्पर्क बन गए हों। जो परिणाम एक देश के लिए लाभकारी हों वे ही दूसरे के लिए कष्टदायक हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में पारस्परिक-निर्भरता को कम करके संघर्ष का प्रबंधन या उसमें कमी की जा सकती है। जैसे-जैसे एक-दूसरे के साथ संपर्क कम होता है वैसे-वैसे संघर्ष समाधान की संभावना भी बढ़ सकती है। संघर्ष में कमी का एक अन्य उपाय है – पारस्परिक-विरोधी हितों में कमी करना। 1962 में सोवियत संघ द्वारा क्यूबा से अपने प्रक्षेपास्त्र वापस मंगा लेना, एक उत्तम उदाहरण है।

टॉमस शैलिंग (Thomas **C.** Shelling) जिन्होंने विस्तार से तनाव शैथिल्य की व्याख्या की थी, ने एक सुंदर

जिन्हें एक-दूसरे से आक्रमण का भय हो, का यह सामान्य हित है कि युद्ध की संभावना को टाला जाए। आक्रमण की संभावना उस देश में चिंता का विषय होती है जिस पर आक्रमण की आशंका हो, और यह संभावित आक्रमणकर्ता (threatener) के लिए भी सुखद नहीं होता, और खर्चीला भी होता है। इस संदर्भ में, प्रत्यक्ष समझौता वार्ता (negotiation) या तीसरे पक्ष की सहायता (good offices) संघर्ष को टालने में सफल हो सकते हैं।

आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्व में, संघर्ष समाधान के नए और बेहतर उपाय उपलब्ध हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ सभी संघर्ष समाधान और प्रबंधन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

रिचर्ड ई. बैरिंगर का मत है कि संघर्ष उन सभी देशों के मध्य विवादों का उप-संग्रह (subset) है जोकि युद्ध आरंभ करने (आक्रमण करने) की क्षमता रखते हैं। सबसे व्यापक अवधारणा है 'विवाद' (dispute) की, जिसमें सभी संघर्ष परिवर्तित हो जाते हैं, तथा वे भी जिनका परिणाम युद्ध नहीं होता। समीक्षात्मक भाषा में, विवाद की उत्पत्ति उन देशों के बीच होती है जिनमें युद्ध आरंभ करने की क्षमता होती है, और तब जबकि एक पक्ष को इस बात का आभास हो जाता है कि दोनों के अनुमानिक हितों, उद्देश्यों तथा भविष्य की स्थिति में कोई मेल नहीं (incompatability) है। विवाद का सार है एक ऐसा देश जो आक्रमण करने की क्षमता रखता है उनके द्वारा किसी गंभीर अन्याय या शिकायत की भावना का अनुभव करना, या उसकी धारणा बना लेना। वह यह माँग करता है कि दूसरा पक्ष उसकी औचित्यपूर्ण माँग को स्वीकार करे। यदि यह शिकायत इतनी गंभीर है कि किसी कार्यवाही की आवश्यकता पड़ सकती है, और उसके समाधान के लिए ऐसी राजनीतिक व्यवस्था तथा संस्थाएँ मौजूद हैं जिनके द्वारा एक-दूसरे की माँगों में समन्वय प्राप्त हो सकता है। तब इस शिकायत से विवाद का जन्म हो सकता है।

11.4 संघर्ष समाधान के उपाय

जहाँ राज्यों के हितों में संघर्ष हो, उस स्थिति में युद्ध अनेक में से एक विकल्प होता है जिसके द्वारा संघर्ष, या विवाद का समाधान तलाश किया जा सकता है। यह एकमात्र उपाय अब नहीं है, चाहे अतीत में अवश्य था। संघर्ष समाधान के कुछ अन्य उपाय हैं -- समझौता-वार्ता (negotiation), सुलह करवाना (conciliation), मध्यस्थता (mediation), पंच निर्णय (arbitration) और न्यायिक प्रक्रिया (adjudication)। आपको इकाई 7 में इनसे अवगत कराया गया है। परन्तु, यह तथ्य कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में संघर्ष बने ही रहते हैं, यह राज्यों के लिए आवश्यक हो जाता है कि वे अपने विवाद सुलझाने के लिए स्वयं कुछ उपाय विकसित करें, तथा अन्य व्यवस्थाएँ अपनाएँ। जब संघर्ष इतना बढ़ जाता है कि युद्ध की संभावना उत्पन्न हो जाती है, तब कोई न कोई औपचारिक प्रबंध करना आवश्यक हो जाता है। कई बार राष्ट्रीय प्रतिष्ठा संघर्ष समाधान के मार्ग में बाधा बन जाती है। ऐसी परिस्थिति में आवश्यक होता है कि औपचारिक प्रक्रियाओं के अनुसार विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान का मार्ग अपनाया जाए। विवादों के समाधान के लिए राजनयिक - राजनीतिक - तथा न्यायिक उपाय अपनाए जाएँ। राजनयिक राज्यों में वार्ता, सदाशयता (good offices), मध्यस्थता, जाँच तथा समझौता (inquiry and conciliation) शामिल होते dl न्यायिक प्रक्रिया में पंचनिर्णय और न्यायिक निर्णय शामिल किए जाते हैं। इनके कुछ पक्षों का वर्णन अन्य इकाइयों में किया गया है। फिर भी, यहाँ पर इनका संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है।

11.4.1 राजनयिक (कूटनीतिक) उपाय

समझौता-वार्ता (Negotiation): संघर्षरत् राज्यों के बीच वार्ता या तो द्विपक्षीय होती है, या फिर बहुपक्षीय भी हो सकती है। ये वार्ताएँ सम्बद्ध राज्यों के मध्य बातचीत या तो राज्याध्यक्षों/ शासनाध्यक्षों के बीच प्रत्यक्ष रूप से हो सकती है, या फिर उन देशों के राजदूतों अथवा विशेष प्रतिनिधियों के बीच हो सकती है। जिन राज्यों के मध्य हित-टकराव है उनके बीच में वार्ता अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से भी हो सकती है।

वार्ता, सदाशयता, मध्यस्थता तथा समझौता इत्यादि पंच निर्णय और न्यायिक निर्णय की अपेक्षा विवादों को निपटाने के कम औपचारिक उपाय होते हैं।

समझौता वार्ता प्रायः सदाशयता (good offices) या मध्यस्थता से पूर्व अपनाए जाने वाला उपाय/मार्ग होता है। इसमें परामर्श और संचार-संबंध (communications) शामिल होते हैं। 1965 के ऑस्ट्रेलिया-न्यूजीलैंड मुक्त व्यापार समझौते में परामर्श का प्रावधान था। 1963 के अमेरिकी-सोवियत दूरसंचार समझौते में वार्ता और परामर्श निहित थे।

सदाशयता तथा मध्यस्थता (Good Offices and Mediation) - सदाशयता और मध्यस्थता दोनों के लिए एक तीसरे मित्र पक्ष की आवश्यकता होती है, जोकि विवाद सुलझाने के लिए अपनी सहायता दे सकता है। सदाशयता अथवा मध्यस्थता का प्रस्ताव, या सुझाव, करने वाला कोई व्यक्ति हो सकता है, या राज्य या फिर कोई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन। सदाशयता और मध्यस्थता में अंतर मामूली-सा ही होता है। सदाशयता में कोई तीसरा पक्ष विवाद में फंसे दोनों पक्षों को एक मंच पर लाकर समझौते का सुझाव देता है, परन्तु वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से समझौता-वार्ता में शामिल नहीं होता। मध्यस्थता में मध्यस्थ की भूमिका अधिक सक्रिय होती है, जिसमें वह स्वयं वार्ता में शामिल होकर शान्तिपूर्ण समाधान के लिए प्रयास कर सकता है। परन्तु, मध्यस्थ के सुझाव बाध्यकारी नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, 1966 में ताशकंद में भारत और पाकिस्तान के बीच समझौता कराने के लिए पूर्व सोवियत संघ ने मध्यस्थता की थी।

सदाशयता और मध्यस्थता का क्षेत्र सीमित होता है। इसके लिए कोई निर्धारित प्रक्रिया नहीं है। प्रयास यह किया जाता है कि विवादग्रस्त राज्य स्वैच्छिक वार्ता भागीदारी करें ताकि विवाद को सुलझाया जा सके। उदाहरण के लिए श्रीलंका-एल.टी.टी.ई. संघर्ष सुलझाने में सहायता के लिए नार्वे ने सदाशयता का सुझाव दिया था।

सुलह करवाना (Conciliation): सुलह करवाने की प्रक्रिया में जाँच और मध्यस्थता दोनों शामिल होते हैं। कोई व्यक्ति या आयोग विरोधी पक्षों में सुलह करवाने का प्रयास कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र ने सुलह करवाने के अनेक प्रयास किए हैं।

सुलह करवाने की प्रक्रिया में अनेक उपाय उपयोग में लाए जा सकते हैं ताकि विवाद का शान्तिपूर्ण समाधान तलाश किया जा सके। इसमें प्रायः तथ्यों की जाँच के पश्चात्, विवाद समाधान के सुझाव दिए जाते हैं ताकि विरोधी विचारों में सुलह करवाई जा सके। सुलह करवाने के आयोगों (Conciliation Commissions) का प्रावधान हेग (The Hague) के 1899 और 1907 के दस्तावेजों में किया गया है। इस प्रकार के आयोगों की स्थापना सम्बद्ध पक्षों के मध्य किए गए विशेष समझौतों के द्वारा की जाती है। यह आयोग जाँच-पड़ताल करके अपनी सिफारिशें करता है। परन्तु ये सिफारिशें बाध्यकारी नहीं होती हैं। बोगोटा समझौते (Bogota Protocol), 1948 में भी इस प्रकार के आयोग की व्यवस्था है।

जाँच, सुलह करवाने की प्रक्रिया से भिन्न है, क्योंकि इसमें कोई सिफारिश नहीं की जाती है। परन्तु, जाँच के द्वारा विवाद से सम्बंधित तथ्यों का पता लग जाता है, ताकि सम्बद्ध पक्ष वार्ताओं के माध्यम से विवाद के समाधान का प्रयास कर सकें। विवादास्पद सीमाओं के प्रश्न पर जाँच आयोग महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

पंच निर्णय (Arbitration): पंच निर्णय में विवाद कुछ ऐसे व्यक्तियों को सौंपा जाता है जो कि पंच (arbitrators) कहलाते हैं। इन व्यक्तियों को दोनों पक्ष स्वेच्छा से चुनते हैं। वे अपना निर्णय देने में किसी कानूनी बाधा से बंधे नहीं होते हैं। परन्तु, कभी-कभी ऐसे विवाद भी, पंच निर्णय के लिए सौंपे जाते हैं जिनमें मात्र कानूनी मुद्दे शामिल होते हैं। विभिन्न देशों द्वारा हस्ताक्षर की गई अनेक संधियों में विवाद समाधान के लिए पंच निर्णय के प्रावधान पाए जाते हैं। पंच निर्णय की परम्परा शताब्दियों पुरानी है। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य सम्पन्न 1794 की जे संधि (Jay Treaty) में आपसी विवादों के

NMDC-288

समाधान के लिए पंच निर्णय की व्यवस्था की गई थी। सन् 1872 के, ब्रिटेन और अमेरिका के विवाद संबंधी अलाबामा विवाद में दिए गए निर्णय ने पंच निर्णय के महत्व को स्थापित एवं सिद्ध किया था।

पंच निर्णयों में दिए गए निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधायन का स्रोत बने हैं, क्योंकि इनमें विविध संधियों/समझौतों के प्रावधानों की व्याख्या की जाती है। हेग सम्मेलन, 1899 ने पंच निर्णय संबंधी कानूनों को संहिताबद्ध (codified) किया, तथा पंच निर्णय के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का आधार स्थापित किया। यह न्यायाधिकरण व्यवहार में न तो न्यायालय है, और न ही स्थायी है। इस 'न्यायालय' का आधार विभिन्न देशों द्वारा मनोनीत विशेषज्ञों की एक सूची है। इनमें कानूनी विशेषज्ञ शामिल होते हैं जिनमें से आवश्यकता पड़ने पर विवाद-सम्बंधित देश पंचों का चयन करते हैं। प्रत्येक देश दो पंचों का चयन करता है जिनमें से एक उसी देश का नागरिक होता है, तथा दूसरा उस सूची में से लिया गया जो किसी अन्य देश का होता है। यह पंच स्वयं अपने अध्यक्ष का चयन करते हैं जो पंच-न्यायाधिकरण की अध्यक्षता करता है। सभी निर्णय बहुमत से किए जाते हैं। सभी पंच मिलकर स्वयं अपनी प्रक्रिया तथा क्षेत्राधिकार का निर्णय करते हैं। वे यह भी तय करते हैं कि किन नियमों पर उनके निर्णय आधारित होते हैं। इस "स्थायी न्यायालय" का अपना कोई निश्चित क्षेत्राधिकार नहीं है।

पंच निर्णय मूल रूप से जिस प्रक्रिया पर कार्य करता है वह प्रायः आम सहमति पर आधारित होती है। राज्यों को उनकी इच्छा के विरुद्ध पंच निर्णय के लिए विवश नहीं किया जा सकता है। उनकी स्वीकृति के बिना पंचों के चयन को भी अंतिम रूप नहीं दिया जा सकता है। विभिन्न पंच निर्णयों में कानूनी प्रश्नों पर भी निर्णय दिए गए हैं। इसके अलावा, उन प्रश्नों अथवा विषयों पर भी निर्णय दिए गए हैं जो तथ्यों पर आधारित विवाद होते हैं तथा जिनमें स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है। यह प्रक्रिया तकनीकी प्रश्नों पर अधिक प्रभावी और कम खर्चीली होती है। इसका यह लाभ भी होता है कि इसमें प्रचार नहीं किया जाता, तथा दोनों पक्ष इस पर भी सहमत हो सकते हैं कि पंचों के निर्णय को प्रकाशित न किया जाए।

11.4.2 न्यायिक उपाय

मोटे तौर पर संघर्ष समाधान के लिए दो न्यायिक प्रक्रियाएँ होती हैं। ये हैं – पंच निर्णय तथा न्यायिक निर्णय (adjudication)। विवादों का समाधान प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार किया जाता है। दोनों ही प्रक्रियाओं में न्यायाधिकरण के निर्णय सम्बद्ध पक्षों पर बाध्य होते हैं। वे उनकी अवहेलना नहीं कर सकते।

जहाँ पंच निर्णय तदर्थ (adhoc) न्यायाधिकरण के द्वारा अपनाया जाता है, वहीं न्यायिक निर्णय "अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय" (International Court of Justice–ICJ) के द्वारा किए जाते हैं। यह प्रत्येक देश का संप्रभु अधिकार है कि वह न्यायिक प्रक्रिया का मार्ग अपनाए या नहीं। यह स्वैच्छिक होता है।

न्यायिक प्रक्रिया प्रायः अधिक प्रभावी होती है क्योंकि सम्बद्ध पक्ष उसे स्वेच्छा से अपनाते हैं, और स्वयं को निर्णय से बाध्य करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राज्यों के कानूनी विवादों का, उनकी स्वैच्छिक न्यायिक विकल्प अपनाने पर सुनवाई करता है तथा निर्णय देता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के अनुसार कार्य करता है। हेग में स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, राष्ट्र संघ के कार्यकाल के अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय का उत्तराधिकारी है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अपना संविधान (Statute) है, जिसका औपचारिक आधार संयुक्त राष्ट्र का चार्टर (UN Charter) है। जो राज्य स्वयं को इस न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन करते हैं, उन्हें इसकी न्यायिक प्रक्रिया बाध्य होती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कार्यवाही सार्वजनिक या खुली होती है। इसके निर्णय औपचारिक रूप से प्रकाशित किए जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 92-96 में पाई जाती है। इसकी स्थापना 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तथा संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के पश्चात् हुई। यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्र के छः प्रमुख अंगों (**principal** organs) में से एक है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में 15 न्यायाधीश होते हैं। इनका निर्वाचन महासभा और सुरक्षा परिषद् अलग-अलग मतदान में करते हैं। वे विश्व की विभिन्न न्याय व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोई भी दो न्यायाधीश एक ही देश के नागरिक नहीं हो सकते हैं। इनका निर्वाचन 9 वर्ष के लिए किया जाता है। न्यायालय नीदरलैंड्स के नगर हेग में स्थापित है।

संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य देश अंतर्राष्ट्रीय न्यायलय के क्षेत्राधिकार में आते हैं। परन्तु कोई भी देश किसी अन्य के विरुद्ध तब तक मुकदमा दायर नहीं कर सकता है जब तक कि दोनों देश स्वेच्छा से अपना कोई विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में पेश नहीं करते। एक बार इसका क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लेने पर दोनों पक्ष न्यायालय के निर्णय से बाध्य हो जाते हैं। चार्टर के एक अन्य प्रावधान के अधीन यदि कुछ देश सदा के लिए, वैकल्पिक धारा (optional clause) के अधीन, स्थायी रूप से न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लेते हैं, तब ऐसे देश, बिना पूर्व सहमति के, एक-दूसरे के विरुद्ध न्यायालय का द्वार खटखटा सकते हैं। ये देश न्यायालय के संविधान के अनुच्छेद 36 के अनुसार यह घोषणा (लिखित) करते हैं कि वे सभी कानूनी विवादों में स्वयं को स्थायी रूप से न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन करते हैं। वे निम्नलिखित संदर्भ में न्यायालय के अधीन दायित्व स्वीकार कर लेते हैं: (क) किसी संधि की व्याख्या; (ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई प्रश्न; (ग) किसी ऐसे तथ्य की जानकारी जोकि अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की अवहेलना हो; तथा (घ) इस प्रकार के उत्तरदायित्व की अवहेलना पर दोषी राज्य से कितनी क्षतिपूर्ति माँगी जाए, इसका प्रश्न।

सभी विवादों पर कुल उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत से निर्णय लिए जाते हैं। न्यायालय के निर्णय केवल सम्बद्ध राज्यों पर, और सम्बद्ध विवाद के संदर्भ में ही बाध्य होते हैं। प्रत्येक पक्ष को, विवाद के न्यायिक निर्णय पर व्यय स्वयं वहन करना होता है, जब तक कि न्यायालय को कोई अन्य आदेश न दे। कानूनी प्रश्नों पर संयुक्त राष्ट्र की महासभा तथा सुरक्षा परिषद, न्यायालय से परामर्श (advice) भी माँग सकते हैं। यह न्यायालय के परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार में आता है। इस प्रकार दिया गया परामर्श बाध्यकारी नहीं होता है।

सुरक्षा परिषद् की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् दो प्रकार के विवादों में योगदान दे सकती है। वे हैं: (क) ऐसे विवाद जोकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते हैं; तथा (ख) वे विवाद जो शान्ति के लिए धमकी हों अथवा जब आक्रमण हो गया हो। सबसे पहले सुरक्षा परिषद् सम्बद्ध पक्षों को सलाह दे सकती है कि वे अपने संघर्ष का समाधान शान्तिपूर्ण उपायों से करें। यह अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का सुझाव भी दे सकती है। परिषद को यह निर्धारित करने का अधिकार है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने, या पुनः स्थापित करने के लिए क्या उपाय करने चाहिए। सुरक्षा परिषद सम्बद्ध पक्षों को सलाह भी दे सकती है कि वे कुछ अन्तरिम उपायों को अपनाएँ। यह एक जाँच आयोग की स्थापना कर सकती है, या फिर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास विवाद को निर्णय के लिए भेजने की सिफारिश कर सकती है। चार्टर के अनुच्छेद 41-47 के अधीन सुरक्षा परिषद् अपने निर्णय मनवाने के लिए न केवल आर्थिक प्रतिबंध जैसे उत्पीड़क उपाय उठा सकती है, बल्कि आवश्यक हो तो न मानने वाले राज्य के विरुद्ध बल प्रयोग का आह्वान भी कर सकती है।

1982 के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान संबंधी मनीला घोषणा का महासभा ने अनुमोदन किया था। इस घोषणा को शान्तिपूर्ण समाधान के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्तों की संहिता माना जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनेक सिद्धान्तों को भी इस घोषणा में शामिल किया गया था। मनीला घोषणा में प्रत्यक्ष वार्ता, तथ्यों की जाँच-पड़ताल, न्यायिक निर्णय तथा सुरक्षा परिषद् के समक्ष विवाद प्रस्तुत करने

के लिए महासचिव की भूमिका पर बल दिया गया है। ऐसा उस परिस्थिति में किया जा सकता है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए संकट उत्पन्न हो गया हो। जैसा कि आपको ज्ञात है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की वचनबद्धता है कि विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान का मार्ग अपनाएँगे, और वे युद्ध या धमकी से दूर रहेंगे। ऐसी चार्टर के अनुच्छेद 2 में व्यवस्था की गई है।

11.4.3 अहिंसात्मक तथा युद्धोपम उत्पीड़क प्रक्रियाएँ (Non-violent and Coercive Procedures Short of War)

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त, अन्य अनेक युद्धोपम उपाय हैं जिनका उपयोग विभिन्न राज्य अपने संघर्ष समाधान के लिए करते हैं। उन उपायों में अपने राजनयिकों को वापस बुलाना (recall), विदेशी राजनयिकों का निष्कासन करना, संधियों और समझौतों का निलम्बन, घेराबंदी, आयात-निर्यात पर प्रतिबंध, अस्त्र-नाविक राजनय या शाब्दिक शिकायतें (sabre-rattling)।

मात्र बल प्रयोग की धमकी से प्रायः ऐसे संघर्षों का समाधान हो जाता है, जो अन्यथा गंभीर और खतरनाक हो सकते हैं। ऐसा ही 1962 में क्यूबा के प्रक्षेपास्त्र संकट के समय हुआ था। कभी-कभी तो अन्तर्राष्ट्रीय गुट (या समूह) संघर्ष की प्रवृत्तियों का सामना करने में सहायक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, कई बार गुट निरपेक्ष आन्दोलन ने विकासशील देशों में ऐसी ही भूमिका सफलतापूर्वक निभाई है।

11.4.4 नागरिक राजनय (कूटनीति)

जब देशों की सरकारें संघर्ष को कम करने के लिए पहल नहीं करतीं तब सामान्य नागरिक संघर्ष को कम करने के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के प्रयास कर सकते हैं। इसको ट्रैक-II (Track II) राजनय या नागरिक राजनय कहा जाता है। ये औपचारिक विश्वास निर्माण करने का प्रयत्न माने जाते हैं ताकि परस्पर-विरोधी राज्य संघर्ष को कम कर सकें। हाल के वर्षों में भारत और पाकिस्तान के नागरिक समूहों ने दोनों देशों के मध्य संबंध सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। राष्ट्रों द्वारा अपनाए जाने वाले उपायों में एक यह है कि संघर्ष को कई भागों में बाँटकर उनके अलग-अलग निपटान का प्रयास करते हैं। इस उपाय से संघर्ष को धीरे-धीरे समाप्त करने में सहायता मिलती है!

11.5 सारांश

हमने इस इकाई में देखा है कि अंतःराज्यीय संबंधों के संदर्भ में संघर्ष समाधान के अनेक उपायों में से युद्ध एक विकल्प होता है। यह संघर्ष समाधान का अतिवादी और हिंसात्मक उपाय है। इसके अतिरिक्त संघर्ष समाधान के अन्य अनेक अहिंसात्मक उपाय हैं। इनमें प्रमुख हैं: समझौता-वार्ता, सुलह करवाना, मध्यस्थता, पंच निर्णय तथा न्यायिक निर्णय। उन उपायों को राजनयिक और न्यायिक उपायों की श्रेणी में रखा जाता है। हमने इन श्रेणियों के विभिन्न उपायों का इस इकाई में अध्ययन किया है। हमने देखा है कि विवादग्रस्त देश राजनयिक उपाय अपनाते हैं। तब वे या तो प्रत्यक्ष द्विपक्षीय रूप से समाधान करने का प्रयास करते हैं या फिर कुछ (एक या अधिक) मध्यस्थों की सहायता लेते हैं। इसके विपरीत न्यायिक प्रक्रिया एक निष्पक्ष तीसरी संस्था (पंच-न्यायाधिकरण या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय) के द्वारा संचालित होती है। न्यायिक प्रक्रिया में निष्पक्ष संस्था द्वारा किया गया निर्णय विवाद के दोनों/सभी पक्षों पर बाध्य होता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कम प्रचलित उपाय भी हैं जिनकी ओर संघर्ष समाधान के विद्यार्थियों का ध्यान बहुत कम आकर्षित होता है। प्रथम तो वे जो उत्पीड़क (coercise) उपाय हैं, परन्तु उनमें हिंसात्मक (युद्ध) समाधान शामिल नहीं होता। अंत में कुछ उपाय ऐसे भी हैं जिनमें नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी होती है।

11.6 अभ्यास प्रश्न

1) सदाशयता और मध्यस्थता में अंतर बताते हुए राज्यों के मध्य संघर्ष के समाधान में उनकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।

2) संघर्ष समाधान के उपाय के रूप में पंच-निर्णय की क्या विशेषताएँ हैं?

3) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की रचना और उसके क्षेत्राधिकार की समीक्षा कीजिए।

4) नागरिक राजनय क्या होता है? क्या आप ऐसे कुछ उदाहरण दे सकते हैं जिनमें नागरिक राजनय का सफलतापूर्वक उपयोग किया गया।

NMDC-288

इकाई 12 कार्यात्मक उपागम और क्षेत्रीयतावाद

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 शान्ति का कार्यात्मक उपागम

12.3 कार्यात्मकता के आलोचक

12.4 क्षेत्रीयतावाद और विश्व शान्ति तथा सुरक्षा

12.5 सामूहिक सुरक्षा के विकल्प के रूप में क्षेत्रीय सुरक्षा

12.6 संघर्ष निवारण (अवरोधन) और समाधान में क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका

12.7 शान्ति स्थापना में क्षेत्रीय संगठनों की प्रभावी सहभागिता की शर्तें

12.7.1 आर्थिक क्षेत्रीयतावाद

12.8 सारांश

12.9 अभ्यास प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुई प्रगति के प्रभावों में से एक है – राज्यों की बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता। और यह निर्भरता बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठनों के आविर्भाव में प्रतिबिम्बित होती है। इन संगठनों के प्रसार से नए चिंतकों का उदय हुआ। इन्होंने तर्क दिया कि कार्यात्मक और राजनीतिक गतिविधियों से देशों के तकनीकी विशेषज्ञों या शक्ति सम्पन्न अभिजात वर्ग, के बीच अधिक सहयोग हुआ जिसके फलस्वरूप अंततः क्षेत्रीय या भूमंडलीय समाकलन (एकीकरण) होगा और इस प्रकार शान्ति होगी। इस विचारधारा के अनुयायियों अर्थात् समाकलन सिद्धान्तवादियों ने राज्यों के बीच संघर्ष और प्रतिस्पर्धा पर यथार्थवाद और नव-यथार्थवाद के विशेष बल को अस्वीकार किया और अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय संगठनों में राज्यों के सहयोगात्मक प्रयासों का समर्थन किया। इस इकाई में शान्ति के लिए दो उपागमों – कार्यात्मकता और क्षेत्रीयतावाद – का विश्लेषण किया जा रहा है।

12.2 शान्ति का कार्यात्मक उपागम

सिद्धान्त के रूप में कार्यात्मकता के मुख्य रचनाकार डेविड मिट्रानी हैं। उनका निबंध '*ए वर्किंग पीस सिस्टम*' कार्यात्मकवादियों के मुख्य तर्कों का सार प्रस्तुत करता है और निबंध के शीर्षक के अनुसार ही उनके मुख्य दावे की ओर ध्यान आकर्षित करता है – कार्यात्मकता स्थायी शान्ति का मार्ग है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अवधि के दौरान लिखते हुए मिट्रानी ने अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र में कल्याणकारी राज्यवाद के प्रति बढ़ती हुई घरेलू (आंतरिक) प्रवृत्ति का प्रेक्षण किया था और तर्क दिया था कि ये सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था के परिणाम थे। जबकि हमारे सामान्य समाज का वास्तविक कार्य गरीबी, अज्ञानता और बीमारी पर विजय प्राप्त करना है। संप्रभुता पर आधारित वर्तमान राज्य प्रणाली न केवल अपर्याप्त है अपितु भूमंडलीय समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने के लिए बाधक भी है। तकनीकी और ग़ैर-राजनीतिक समस्याओं की बढ़ती हुई संख्या, जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पन्न हुए हैं, के लिए

NMDC-288

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का ढाँचा बनाना आवश्यक है। यहाँ कार्यात्मकवादियों (कार्यवादियों) ने राजनीतिक अभिजात वर्ग के बदले तकनीशियनों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सुझाव दिया। मिट्रानी ने तर्क दिया कि सामाजिक क्रियाकलापों को राजनीतिक और ग़ैर-राजनीतिक (तकनीकी) श्रेणियों में पृथक किया जाए और यह कि ऐसे ग़ैर-राजनीतिक या कार्यात्मक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित करना संभव है क्योंकि इन संस्थाओं के कल्याणकारी लाभों के कारण राज्य से प्रतिरोध कम होने की संभावना है।

जैसा कि हमने देखा है, सरकारी और ग़ैर-सरकारी दोनों क्षेत्रों में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का आविर्भाव हुआ। वे प्रमुख रूप से संचार, परिवहन, वाणिज्य, स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में थे। इनमें से कई ने दो महायुद्धों को झेला और अभी भी संयुक्त राष्ट्र की विशेषज्ञ एजेंसियों के रूप में और अन्य स्वतंत्र संगठनों के रूप में कार्य कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक संगठन, जैसे विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation – WHO). खाद्य और कृषि संगठन (Food and Agriculture Organisatian – FAO), अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा अभिकरण (The International **Atomic** Energy Agency – IAEA) शान्ति को कैसे प्रोत्साहित कर सकते हैं? कार्यात्मकवाद इस किस्म के कार्य को तीन भिन्न-भिन्न तरीकों में शान्ति संवर्धन के रूप में देखते हैं। पहला, यह उन बुनियादी मानवीय समस्याओं का समाधान करते हैं जो युद्ध के मूल कारण होते हैं। कार्यात्मक संगठन, जैसे 'खाद्य और कृषि संगठन' गेहूँ और चावल की नई किस्म विकसित कर देशों को उनकी भूखी जनता को भोज़न दे सकते हैं। दूसरा, यह राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता को सीमित करता है। उदाहरण के लिए, राष्ट्र के नागरिक (जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सहायता प्राप्त कर रहे हैं या अन्य देशों या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन उसी प्रकार की वहाँ सहायता देने के इच्छुक हैं जहाँ उसकी आवश्यकता है) अपनी ही सरकार की उन नीतियों का समर्थन कम कर सकते हैं जो उन देशों के विरोधी थे जो सहायता करने में योगदान कर रहे हैं। इसके अलावा, कार्यात्मक गतिविधियाँ देश के अंदर, यहाँ तक कि सरकार और समूह के अंदर भी, उत्पन्न होती हैं जिनके हित अन्तर्राष्ट्रीय हितों से अधिक घनिष्ठता से ज़ुड़े होते हैं। उदाहरण के लिए हमारा स्वास्थ्य मंत्रालय 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की तकनीकी सहायता का प्रयोग कर रहा है और विश्व सहयोग का पक्षधर हो सकता है। गाँव का डॉक्टर, जो विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा आपूर्ति की गई वैक्सीन (इंजैक्शनों) पर निर्भर है, यह देखने के लिए निहित स्वार्थ पैदा कर सकता है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन देश के अंदर काम करना जारी रखे। देश के अंदर कुछेक लोगों के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाकलाप कार्यमूलक कार्यों से काफी अधिक लोगों में अन्तर्राष्ट्रीय वफादारी को बल मिल सकता है और हानिकारक राष्ट्रवादी कार्यों का विरोध कर सकता है। नागरिक प्रायः सरकार का समर्थन करते हैं, क्योंकि सरकार उनके लिए उपयोगी कार्य करती है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी ऐसे ही उपयोगी कार्य करते हैं तो नागरिक सरकार का समर्थन अब आँख बंद करके नहीं कर सकते हैं क्योंकि अब सरकार ही केवल लाभों का स्रोत नहीं रह गई है। तीसरा तरीका (जिसमें कार्यात्मक गतिविधियाँ शान्ति का समर्थन करती हैं), भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को आमने-सामने संपर्क में लाना है। विदेशी "बाहरी" कम और मानवीय गुण युक्त अधिक प्रतीत होते हैं जबकि वे ठीक आपके बीच में रहते हैं और अन्य राष्ट्रीय समूहों के बारे में सामान्यीकरण स्वीकार करना कठिन होता है, विशेषकर, जब इस प्रकार के समूह अपने ही गाँव या कस्बे में रह रहे हों या कार्य कर रहे हों।

कार्यात्मकवादियों को यह विश्वास हो गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक एजेंसियों के विद्यमान नेटवर्क का प्रसार जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से प्रकट हुआ था, न केवल विश्वव्यापी समस्याओं का समाधान करेगा अपितु राष्ट्र-राज्यों की कठोर संस्थागत संरचनाओं को भी निष्क्रिय करेगा। इसलिए कार्यात्मकवाद केवल कार्यों का ही कार्यक्रम है। यह वास्तव में प्रस्तावक और नीतिमूलक है। यह वर्णनात्मक और रोग की पहचान करने वाला भी है क्योंकि यह मानवीय स्वरूप के महत्वपूर्ण पहलुओं तथा संस्थागत अंतःक्रिया में विकास की धारणा से जुड़ा हुआ है।

NMDC-288

12.3 कार्यात्मकता के आलोचक

मिट्रानी के कार्यात्मक एकीकरण के सिद्धांत को स्वतः इन्हीं विचारों के पक्षधर कुछ उन सदस्यों द्वारा चुनौती दी गई जिन्होंने राजनीतिक एकीकरण के लिए वैकल्पिक मार्ग का सुझाव दिया। वे नव-कार्यात्मकवादी थे, उनकी तुलना में जिन्होंने ऐसी नई विश्व व्यवस्था का सृजन करने का प्रयास किया था जिसमें प्रभुत्तासम्पन्न राज्य गौण स्थान लेते थे, नव-कार्यात्मकवादी विद्यमान राज्यों के एकीकरण से नए राज्य बनाने का प्रयास करते हैं। नव-कार्यात्मकता का सिद्धान्त 1960 के दशक में अर्नस्ट हास (Ernst Hass) द्वारा विकसित किया गया था, जिसकी प्रेरणा पश्चिमी यूरोप के देशों के बीच सहयोग तीव्र होने से मिली थी। यह 1950 के दशक में प्रारंभ हुआ था। मिट्रानी के सिद्धान्त का हास आगे विकास करते हैं। परन्तु वह इस धारणा को अस्वीकार करता है कि "तकनीकी" मामलों को राजनीति से अलग किया जा सकता है। समाकलन (एकीकरण) ऐसी प्रक्रिया है जिससे "राजनीतिक अभिकारकों को उन नए केन्द्रों के प्रति अपनी निष्ठा बदलने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है जिनकी संस्थाओं का अधिकार पहले से विद्यमान राष्ट्र-राज्यों पर रहा है या जो अधिकार क्षेत्र की माँग करते हैं।"

कार्यात्मकवाद के सिद्धान्त को परस्पर विरोधी और अस्पष्ट माना गया है। इसकी सबसे अधिक बार-बार की गई आलोचना यह रही है कि यह स्पष्ट नहीं है, कार्यात्मक संस्थाओं के कार्य का समन्वय किस तरीके से किया जाएगा। कार्यात्मकवादियों के सूत्र अव्यावहारिक किस्म के हैं। कुछ आलोचकों ने तर्क दिए हैं कि कार्यात्मकता राजनीति के कार्य का अधिक ध्यान नहीं रखती है। यह कहा जाता है कि कार्यात्मकवाद मानता है कि लोगों और राज्यों में साथ-साथ काम करने की स्वाभाविक इच्छा विद्यमान है। यह इस कल्पना पर आधारित है कि मानव स्वभाव में अनिवार्यतः अच्छाई होती है। इसका अभिप्राय है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से अच्छा और तर्कसंगत है। आलोचकों के अनुसार यह मानव स्वभाव का एकपक्षीय अवलोकन है। वास्तव में, मनुष्य भलाई और बुराई का मिश्रण है। वह अच्छा और बुद्धिसम्पन्न हो सकता है और समान रूप से वह अविवेकी तथा स्वार्थी भी हो सकता है।

दूसरा कारण, कार्यात्मकवाद प्रहार के लिए क्यों खुला है, यह क्या नहीं है, और क्या कभी भी प्रणालीबद्ध विवरणात्मक विश्लेषण करने की मंशा नहीं थी। इनकी रचनाएँ छोटी पुस्तिकाओं, लेखों और पुस्तकों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं जिन्हें विरले ही सुसंबद्ध सैद्धान्तिक ढाँचे में एक-साथ लाया गया है।

कार्यात्मकवादियों और नव-कार्यात्मकवादियों के उपागम में आधुनिक राज्य के अंतर्गत समाज की प्रमुख विशेषताओं के बारे में अंतर है। ऐसा प्रतीत होता है कि कार्यात्मकवादी समाज में सर्वसम्मति पर समझौते के तत्व का संकेत देते हैं। दूसरी ओर, नव-कार्यवादी तर्क देते हैं कि सामाजिक जीवन पर हितों के बीच प्रतिस्पर्धा द्वारा प्रभुत्व किया हुआ है। अतः यह तर्कसंगत है कि हित लाभ समूहों को कार्यात्मक एकीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान आवंटित किया गया है। अर्नेस्ट हास एकीकरण को "ऐसी प्रक्रिया के रूप में उल्लेख करता है जिसमें कई पृथक राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में राजनीतिक अभिकर्त्ताओं द्वारा नई और अधिक बड़ी व्यवस्था के प्रति अपनी निष्ठाएँ, आशाएँ और राजनीतिक क्रियाकलाप बदलने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।" वह आगे कहता है कि "विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अंतर्गत संचालित हितलाभ राजनीति के संस्थानीकृत प्रतिमान के परिणाम के रूप में" एकीकरण की अवधारणा द्वारा निर्धारित की गई है।

नवकार्यवादी या एकीकरण सिद्धान्त प्रक्रिया संबंधी आम सहमति की आवश्यकता पर केन्द्रित है; समूहों को सम्मत ढाँचे के माध्यम से अपने हितों का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है जो एकीकरण प्रक्रिया की अंतिम स्थिति में आवश्यक तत्व है। नवकार्यवादी एकीकरण प्रक्रिया में अभिजात वर्ग की मनोवृत्ति पर बल देता है जो आदर्श रूप से नई राजनीतिक प्रणाली के उद्भव में चरम बिन्दु है। जबकि

NMDC-288

कार्यवादियों ने सार्वदेशिक सामाजिक मनोवृत्ति के समाज के लिए प्रचलित मनोवृत्ति पर बल दिया, नवकार्यवादी औपचारिक संस्थानिक ढाँचे में अधिक इच्छुक है। दूसरी ओर कार्यवादी प्रभावकारी एकीकरण के परीक्षण के रूप में प्रचलित मनोदशा में परिवर्तन से अधिक संबंधित हैं।

कार्यवाद और नव-कार्यवाद दोनों प्रक्रिया सिद्धान्त हैं। यह कार्ल ड्यूच के संप्रेषण सिद्धान्त की भाँति नहीं है, अनियत संबंधों पर उन दोनों के विचार सुविज्ञ है, जिनसे आशा की जाती है कि वे एकीकरण को एक स्तर से दूसरे स्तर में ले जा सकता है। वे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रतिमान और अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को समझने में मूल्यवान हैं।

कार्यवाद की एक अन्य त्रुटि राजनीतिक और आर्थिक पृथकता तथा कार्य का सामाजिक क्षेत्र है। वास्तव में, आज के विश्व में राजनीतिक समस्याओं के मूल में आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ होती हैं। इसलिए आर्थिक और सामाजिक कार्यकलापों को राजनीतिक गतिविधियों से पृथक नहीं किया जा सकता है।

कार्यवाद की त्रुटियों और सीमाओं के होते हुए भी इसका बुनियादी तर्क स्पष्ट है। यह मूल रूप से विश्व व्यवस्था का उपागम है। यह ऐसा उपागम है जो अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकलाप और एजेंसियों का जाल फैलाकर राजनीतिक विभाजनों को आच्छादित कर देगा जिसमें और जिससे सभी राष्ट्रों के हित और जीवन धीरे-धीरे समाकलित होंगे। डेविड मिट्रानी के शब्दों में, कार्यात्मक उपागम परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सार और कार्यकरण से उत्पन्न होता है। यह उस प्रश्न का उत्तर है कि विश्व समाज युद्ध प्रणाली से शान्ति प्रणाली में किस प्रकार जाता है। कार्यवाद आपस में निकटता से सम्बद्ध दो प्रक्रियाओं का संयोजन है – कार्य विस्तार; और निष्ठा अंतरण। कार्यवादियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकारी संगठन और एजेंसियाँ सामाजिक रोगों (जैसे गरीबी, अस्वस्थता, निरक्षरता, आर्थिक असुरक्षा, सामाजिक अन्याय और शोषण) पर आक्रमण करके युद्ध उन्मूलन का वचन देते हैं जो मानव प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति को उलट देता है और युद्ध के लिए प्रेरित करता है।

कार्यवादियों के अनुसार तेज़ी से बढ़ती हुई विश्वव्यापी समस्याओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली तर्कसम्मत पुनः संरचना करना आवश्यक है, अर्थात राज्य प्रणाली से अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकरण के विभिन्न रूपों की ओर परिवर्तन करना था जिसे मिट्रानी "नव कल्याणकारी अन्तर्राष्ट्रीयवाद" कहता है। निस्संदेह कार्यवाद में कई बहुत आकर्षक प्रस्ताव हैं। यह मुख्य रूप से राष्ट्र-राज्य प्रणाली के क्रमिक समापन से संबंधित है, जोकि शान्ति स्थापना में मुख्य बाधक है। परन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के रूपांतरण की संभावना कम ही है। वर्तमान युग में विश्व राजनीतिक दृष्टि से विखंडित हो गया है। भूमंडलीय राजनीति के विखंडन से जब तक राज्य राष्ट्रीय संप्रभुता और हितों का त्याग नहीं करते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन की संभावना कम है।

12.4 क्षेत्रीयतावाद और विश्व शान्ति तथा सुरक्षा

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की बढ़ती हुई जटिल समस्याओं के फलस्वरूप पारस्परिक संबंधों के मामलों में बहुपक्षीय सहयोग बढ़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सबसे अधिक रोचक और महत्वपूर्ण प्रगति शान्ति और सुरक्षा के माध्यम के रूप में क्षेत्रीय संगठनों की वृद्धि है। क्षेत्रीयता आधुनिक युग की कोई अच्छी विशेषता नहीं है। यूनान का इतिहास दर्शाता है कि अति प्राचीन काल से ही एम्फिक्टियोनिक लीग के रूप में कई क्षेत्रीय संगठन थे। क्षेत्रीय संगठन मध्य युग में भी विद्यमान थे। प्रसिद्ध हेनसीटिक लीग तेरहवीं शताब्दी के मध्य में शस्त्रों के बल द्वारा सामान्य अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए बनाई गई थी। यह उत्तरी जर्मन प्रदेश में था।

शान्ति के उपागम के रूप में क्षेत्रीयता की भूमिका विवाद का विषय रहा है। वैश्विक व्यवस्था के समर्थक इसे अति सरल कहकर इसकी आलोचना करते हैं। क्षेत्रीय संगठनों की सदस्यता और क्षेत्राधिकार के परस्पर व्यापन (overlapping) हैं, और संयुक्त राष्ट्र से क्षेत्रीय संगठनों की प्रासंगिता पर प्रश्न उठाए गए हैं। यह तर्क दिया जाता है कि क्षेत्रीय समूहन मात्र विकसित सैन्य गठबंधन हैं और उनसे युद्ध को हतोत्साहित करने के बदले बढ़ावा मिलता है। क्षेत्रीय सुरक्षा प्रणाली में प्रदेश के अंदर छोटे-छोटे राज्यों पर बड़ी शक्तियों का प्रभुत्व रहता है। शीत युद्ध के दौरान क्षेत्रीय व्यवस्थाओं की बढ़ती हुई संख्या के कारण ही दो महाशक्तियों के अपने-अपने क्षेत्रीय या गठबंधन भागीदारों में शक्ति का संकेन्द्रण हुआ था। यह परिदृश्य विश्व शक्ति का द्विध्रुवीकरण कहलाता था। यद्यपि विवाद पड़ोसी राज्यों के बीच आरंभ हो सकता है परन्तु वे महाशक्तियों के हस्तक्षेप के लालच में विश्वव्यापी युद्ध में बदलने का प्रयास करते हैं। इसके अलावा, क्षेत्रीय सुरक्षा प्रणाली के माध्यम से क्षेत्रीय संगठनों के सदस्यों में विभाजन के कारण शान्ति प्रवर्तन की कुछ सीमाएँ हैं और आर्थिक प्रतिबंध भी किसी क्षेत्र विशेष के अंदर प्रयुक्त नहीं किए जा सकते हैं क्योंकि वे अपने ही सदस्यों के आर्थिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं।

दूसरी ओर, क्षेत्रीयता के समर्थक वास्तविकता के आधार पर स्वीकार करते हैं। वे अनुभव करते हैं कि सुरक्षा को खतरा पड़ोसी राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों की संभावना सबसे अधिक होती है। प्रादेशिक व्यवस्थाएँ सामूहिक आत्मरक्षा के साधन मानी जाती हैं और आक्रमणकारी के विरुद्ध कार्रवाई न केवल अधिक इच्छा से बल्कि क्षेत्र के अंदर उनसे अधिक शीघ्रता और दक्षता से प्रारंभ की जा सकती है। इसके अलावा, विभिन्न प्रकार के नृजातीय हितों जैसे भाषा, संस्कृति या आर्थिक हित क्षेत्रीय समूहीकरण की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। प्रादेशिक संधियाँ सैन्य करारों से अधिक महत्व की होती हैं। वे गठबंधन कूटनीति के केन्द्र हैं।

12.5 सामूहिक सुरक्षा के विकल्प के रूप में क्षेत्रीय सुरक्षा

सामूहिक सुरक्षा को शक्ति संतुलन का विकल्प सोचा गया था। परन्तु 1935 के बाद राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) के पतन के बाद सामूहिक सुरक्षा की सीमाएँ निरंतर स्वीकार की जाती रहीं। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माताओं द्वारा अभिकल्पित सामूहिक सुरक्षा प्रणाली में गंभीर त्रुटियाँ और चूकें थीं। यह उनकी आशाओं के अनुरूप कार्य न कर सका। इस प्रकार नई आशाएँ उठाई गईं कि सुरक्षा की क्षेत्रीय प्रणाली राष्ट्र-राज्यों को मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनों प्रकार से सुरक्षा की बेहतर भावना प्रदान करने में अधिक प्रभावी होगी। अतः शान्ति और सुरक्षा के क्षेत्रीय समाकलन (एकीकरण) को समर्थन मिला।

फिर भी, बहुत से तरीकों में क्षेत्रीय सुरक्षा प्रणाली का अभिप्राय ऐसी सामूहिक सुरक्षा प्रणाली अपनाना है जिसकी विफलता पर विजय पाने के लिए इसे बनाया गया है। दोनों प्रणालियाँ आक्रमण को रोकने और सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए राज्यों में पारस्परिक सहायता द्वारा सामूहिक शक्ति के संगठन पर निर्भर करती हैं। दोनों, सुरक्षा प्रणाली के प्रभावी कार्यकरण के लिए आवश्यक अपेक्षा के रूप में राज्यों में शान्ति की अपेक्षा करते हैं।

दूसरी ओर, सामूहिक सुरक्षा प्रणाली और क्षेत्रीय सुरक्षा प्रणाली के बीच आधारभूत अंतर है। पहला, क्षेत्रीय सुरक्षा प्रणाली यथार्थवादी रूप में पिछले या भावी शत्रुओं से रक्षा करने के लिए खास क्षेत्र की सुरक्षा पर ध्यान केन्द्रित करती है, वह पहले से ही जानता है कि सुरक्षा के लिए मुख्य खतरा कहाँ उत्पन्न होगा। इसके विपरीत, सामूहिक सुरक्षा प्रणाली महसूस करती है कि कोई भी राज्य शान्ति भंग कर सकता है जिसके लिए विश्वव्यापी सुरक्षा संरक्षण की आवश्यकता हो सकती है। दूसरा, क्षेत्रीय सुरक्षा प्रणाली को बहुत अधिक सीमित वचनबद्धता की आवश्यकता होती है। परन्तु सामूहिक सुरक्षा को शान्ति की सुरक्षा करने के लिए व्यापक वचनबद्धता की आवश्यकता होती है। तीसरा, क्षेत्रीय सुरक्षा प्रणाली मानती है कि शान्ति और युद्ध एकसमान अविभाज्य हैं।

12.6 संघर्ष निवारण (अवरोधन) और समाधान में क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका

विकासशील देशों के कई भागों में संघर्षों के प्रसार और संयुक्त राष्ट्र कर्त्तव्यों के बढ़े हुए भार ने विश्व शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने में प्रादेशिक संगठनों की अधिक बड़ी भूमिका की वकालत की है। क्षेत्रीय संगठनों की संघर्ष समाधान और शान्ति निर्वहन कार्यों में कानूनी भूमिका होती है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद 52 कहता है कि स्थानीय विवादों को संयुक्त राष्ट्र में भेजने से पहले क्षेत्रीय रूप में निपटाया जाना चाहिए और यह कि सुरक्षा परिषद के माध्यम से समाधान का विकल्प तभी होना चाहिए जब क्षेत्रीय प्रयास विफल हो गए हों। इसके अलावा, संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद 53 स्पष्ट करता है कि सुरक्षा परिषद अपने अधिकार के अधीन शान्ति और सुरक्षा लागू करने तथा बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय व्यवस्थाओं और एजेंसियों का उपयोग कर सकती है।

तथापि, शीत युद्ध के दौरान क्षेत्रीय संगठन मुश्किल से ही इस कानूनी भूमिका को पूरा कर सके हैं। इससे क्षेत्रीय संघर्षों पर दोहरा प्रभाव पड़ा। एक ओर इसने उन्हें महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के अंदर लाकर इनमें से अधिकांश संघर्षों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया। दूसरी ओर महाशक्तियों ने भी संघर्ष बढ़ने के भय से उन संघर्षों को नियंत्रण में रखा जिनमें वे स्वयं उलझने के लिए विवश हो सकते थे।

आज, यद्यपि प्रमुख शक्तियों के बीच तनाव घट रहे हैं, फिर भी, वे विश्व के अन्य भागों में फूट पड़े हैं। आज संघर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय प्रबंधन और सहयोग संवर्धन की आवश्यकता निरंतर बढ़ रही है। महाशक्ति नियंत्रण के स्थान पर क्या हो सकता है जो शीत युद्ध के दौरान विकसित किया गया था और प्रचलित किया गया था? बहुत से विश्लेषणकर्त्ता संयुक्त राष्ट्र या महाशक्तियों की सहमति से कुछ अन्य माध्यमों से विश्वव्यापी स्तर पर प्रबंधन की संभावनाओं तथा आवश्यकता पर बल देते हैं। अपने मानवतावादी और शान्ति स्थापना के कार्यों के अलावा, संयुक्त राष्ट्र क्षेत्रीय संघर्षों में जबरदस्ती और प्रभावी ढंग से अपने आपको नहीं थोपता है।

इसके अलावा महाशक्तियाँ अब विश्व के दूरवर्ती क्षेत्रों में संघर्ष प्रबंधन का भारी बोझ स्वीकार करने के लिए इच्छुक नहीं होती हैं। वे बड़े संघर्षों को टालती हैं। यूगोस्लाविया के विघटन की लम्बे समय तक विलंबित प्रतिक्रिया इसका सुस्पष्ट उदाहरण है।

शीत युद्ध की समाप्ति स अन्तर्राष्ट्रीय संबंध अब दो महाशक्तियों के बीच ध्रुवीय संघर्ष पर आधारित नहीं हैं। संघर्ष समाधान में क्षेत्रीय संगठनों को प्रमुख भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त होता है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की मानकीय आशाओं के रूप में स्वतंत्र रूप से और संयुक्त राष्ट्र के सहयोग से संघर्ष समाधान में क्षेत्रीय सहभागिता बढ़ी है और प्रादेशिक संघर्षों में महाशक्तियों का हस्तक्षेप घटा है।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद अधिकांश हिंसात्मक संघर्ष क्षेत्रीय मुद्दों से उत्पन्न हुए हैं और उनमें से अधिकांश संघर्ष राज्य के आंतरिक संघर्ष थे न कि अंतर्राज्य। विश्व राजनीति का क्षेत्रीय करण बढ़ रहा है। शीत युद्ध के बाद की विश्व-व्यवस्था में क्षेत्रीय गतिशीलता विशेष रूप से जटिल सिद्ध हुई है। आर्थिक क्षेत्रीयता और सुरक्षा क्षेत्रीयता दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। आर्थिक क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति सुरक्षा क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक मिश्रित है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में भूमंडलीकरण और क्षेत्रीयता राज्यों को परस्पर विरोधी दिशा में धकेल रहो हैं। शीत युद्धोत्तर युग में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सुरक्षा संबंधों के क्षेत्रीयकरण से अधिक ध्यान यूरोपीय संगठन, दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों का संघ - आसियान (Association of South-East Asian Nations – ASEAN), एशिया-प्रशान्त आर्थिक सहयोग मंच (Asia-Pacific Economic Cooperation Forum – APEC) और अमेरिका मुक्त व्यापार समझौता (North America Free Trade Agreement – NAFTA) जैसी संस्थाओं के आर्थिक पक्ष में केन्द्रित किया गया है।

NMDC-288

संघर्ष समाधान में क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका के सबसे अधिक महत्वपूर्ण मामलों में निम्नलिखित योगदान शामिल हैं: अमेरिकी राज्य संगठन (Organisation of American States – OAS) – निकारागुआ और हैती (Haiti) तथा अल सल्वाडोर और होंडुरास के बीच संघर्ष का समाधान; बुरुण्डी, लाइबेरिया, सोमालिया और सियारा लिओन में अफ्रीकी एकता संगठन (Organisation for African Unity – OAU), कम्बोडिया में दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों के संगठन - आसियान (Association of South-East Asian Nations – ASEAN) और पूर्व यूगोस्लाविया में नाटो। क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका संघर्ष समाधान के परे भी गई, उन्होंने अपनी सद्भावनाओं का उपयोग किया। आसियान ने न केवल संधिवार्ता सरल बनाई, बल्कि उसने तीसरे पक्ष के मध्यस्थ के रूप में भी कार्य किया। अमेरिकी राज्य संगठन ने मानवाधिकारों की रक्षा करने तथा लोकतंत्र की बहाली के लिए सदस्य देशों में हस्तक्षेप किया, जबकि पश्चिमी अफ्रीकी राज्य आर्थिक समुदाय (Economic Community of West African States – ECOWAS) ने क्षेत्रीय संघर्षों को रोकने तथा हल करने में नई जिम्मेदारियाँ निभाई। इसके अलावा, नाटो, अफ्रीकी एकता संगठन (अब अफ्रीकी संघ -African Union), अमेरिकी राज्य संगठन और पश्चिमी अफ्रीकी राज्य आर्थिक समुदाय ने शान्ति स्थापना में संयुक्त राष्ट्र के साथ मिलकर कार्य किया जबकि नाटो ने यूरोपीय संघ ने 1993 से 1996 तक भूतपूर्व यूगोस्लाविया में संयुक्त राष्ट्र प्राधिकार के अधीन कार्य किया।

उपर्युक्त मामलों में आसियान और अमेरिकी राज्य संगठन को क्रमशः कम्बोडिया और हैती में संघर्ष हल करने में सक्रिय और प्रभावशाली माना गया। संघर्ष से भौगोलिक निकटता होने के कारण प्रदेशों क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा पुनः स्थापित करने में पर्याप्त सुविधा मिलती है, असियान और अमेरिकी राज्य संगठन दोनों ने संघर्ष हल करने के लिए सक्रियता से हस्तक्षेप किया। वैसे उन्होंने संघर्ष हल करने के भिन्न तरीके अपनाए। आसियान और अमेरिकी राज्य संगठन दोनों कम्बोडिया और हैती में शान्ति प्रक्रिया में सक्रिय, लचीले और प्रभावशाली थे। वैसे सुरक्षा परिषद और मुख्य शक्तियों ने दोनों संघर्षों के अंतिम समझौते करवाए, दोनों क्षेत्रीय संगठनों के योगदान ने संघर्ष निवारण (अवरोधन) तथा समाधान में क्षेत्रीय संगठनों की अच्छी भूमिका की पुष्टि की।

फिर भी, क्षेत्रीय संगठनों में भी गंभीर कमियाँ हैं, क्योंकि वे विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में कम सक्रिय रहे हैं। शान्तिपूर्ण ढंग से विवादों का समाधान करने के माध्यमों के रूप में क्षेत्रीय संगठनों की पहली कमज़ोरी यह है कि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में ऐसी कोई प्रवर्त्तनकारी मशीनरी की व्यवस्था नहीं है। प्रभावकारी प्रतिबंध प्रणाली के भय के बिना कुछ राज्य शान्तिपूर्ण समझौता व्यवस्था की अनदेखी कर सकते हैं। दूसरे स्थान पर क्षेत्रीय संगठन आम सहमति के अभाव के कारण अपने ही सदस्यों के बीच मतभेदों को दूर करने में बहुत बार असफल हुए हैं। उदाहरण के लिए, साइप्रस विवाद में नाटो की भूमिका इस प्रसंग में एक मामला है। इसी प्रकार अरब लीग अभी तक फिलिस्तीन-इज़राइल संघर्ष का समाधान करने में असफल रही है। दक्षिण एशिया में सार्क (SAARC) भी क्षेत्र में आर्थिक और सामाजिक विकास की गति तेज़ करने, राष्ट्रीय और सामूहिक आत्मनिर्भरता बढ़ाने तथा शान्ति, प्रगति और स्थिरता आगे उत्पन्न करने में मुख्य भूमिका नहीं निभा सका है। दक्षिण एशिया में नृजातीय तनाव इण्डो–सेंट्रिक हैं। नृजातीय संघर्ष का प्रदेश से बाहर के आयाम की आवश्यकता होती है और प्रदेश से बाहर की शक्तियों से वे अधिक तेज़ हो जाते हैं। चूँकि द्विपक्षीय और विवादास्पद मुद्दे सार्क के विचार-विमर्श से पृथक रखे जाते हैं इसलिए इनका अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जाता है।

क्षेत्रीय अभिकारक, विशेषकर शान्ति बढ़ाने की सुदृढ़ प्रेरणायुक्त पड़ोसी देश स्थानीय संघर्ष रोकने तथा हल करने में संयुक्त राष्ट्र या प्रदेश से बाहर स्थित प्रमुख राज्यों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। शीत युद्धोत्तर अवधि में संयुक्त राष्ट्र पर और उसकी अस्वाभाविक क्षमता पर भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बचाए रखने में कई माँगे उठती रही हैं। ये क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका बढ़ाने में सहायक हुए हैं।

12.7 शान्ति स्थापना में क्षेत्रीय संगठनों की प्रभावी सहभागिता की शर्तें

संघर्ष समाधान में सक्रिय और प्रभावकारी भूमिका निभाने के लिए क्षेत्रीय संगठनों को चार शर्तों की आवश्यकता होती हैं: वैधता, प्रवर्तन (enforcement) शक्ति, संसाधन और संयुक्त राष्ट्र तथा मुख्य शक्तियों से सहयोग।

संघर्ष समाधान में, वैधता का अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता है। यदि क्षेत्रीय संगठनों का संयुक्त राष्ट्र का अधिदेश प्राप्त हो तो वैधता की शर्त की पूर्ति हो सकती है। परन्तु सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की निषेधाधिकार (वीटो) शक्ति और उनके भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्यों के कारण प्रादेशिक संगठनों के लिए वैसा अधिदेश प्राप्त करना कठिन हो जाता है, जैसा वे हस्तक्षेप करने और संघर्ष समाधान के लिए चाहते हैं।

दूसरी शर्त का संबंध संगठन की अपनी शान्ति योजना निर्वहन करने और विवादियों पर अपने निर्णय और इच्छा लागू करने की क्षमता से है। इसमें विवादियों को अलग-थलग करने और कमज़ोर करने के लिए उत्पीड़क कूटनीति, जैसे नौकावरोध, प्रतिबंध, नाकेबंदी का प्रयोग शामिल हैं। विवादियों को समझौता करने और सहयोग करने तथा यह सुनिश्चित करने के लिए संघर्ष समाधान की पूरी प्रक्रिया में प्रवर्तन शक्ति की आवश्यकता होती है कि पार्टियाँ समझौतों का तब पालन करती हैं जबकि आक्रमण समाप्त हो चुका होता है।

तीसरी शर्त का संबंध संसाधनों, जनशक्ति, धन और सामग्री से है। जो क्षेत्रीय संगठन अंतःराज्य संघर्ष का समाधान करने के लिए हस्तक्षेप करते हैं, बहुधा शान्ति प्रक्रिया प्रायोजित करता है और अधिकांश व्यय स्वयं वहन करते हैं। जब राजनीतिक समझौता हो जाता है, शान्ति समझौते के निर्वहन करने, चुनाव सुगम बनाने तथा निगरानी करने तथा प्रतिस्पर्धी गुटों की निरस्त्र करने के लिए धन और कार्मिकों की आवश्यकता होती है। इसके अलावा, दुर्भिक्ष राहत, शरणार्थियों को ठहराने और स्वदेश भेजने तथा पुनर्निर्माण और समाधान कार्यक्रमों पर व्यय की पूर्ति के लिए बहुत बड़े बजट की व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है।

प्रभावी क्षेत्रीय कार्रवाई की अंतिम शर्त का संबंध संयुक्त राष्ट्र और प्रमुख शक्तियों से निकटतम सहयोग के महत्व से है। शीत युद्ध के दौरान के अनुभव दिखाते हैं कि प्रमुख शक्तियों की सहायता के बिना क्षेत्रीय संगठन संघर्ष समाधान में केवल सीमांत (नाममात्र की) भूमिका निभा सकते हैं। इसलिए उन्हें विवादियों के विरुद्ध शक्ति बढ़ाने के लिए प्रमुख शक्तियों से निकटतम सहयोग बनाए रखना आवश्यक होता है। फिर भी, उपर्युक्त सभी चार शर्तें पूरी करना क्षेत्रीय संगठनों के लिए कठिन होता है।

12.7.1 आर्थिक क्षेत्रीयतावाद

आर्थिक क्षेत्रीय संगठनों का विस्तार सदस्य देशों के आर्थिक हितों की रक्षा करने की बढ़ती हुई आवश्यकता का प्रमाण है। क्षेत्रीय सहयोग को आर्थिक विकास की समस्या का सामना करने के तरीके के रूप में देखा गया है। यूरोप और उत्तरी अमेरिका में आर्थिक क्षेत्रीयता बहुत सफल हुई है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक जिसने उसकी सफलता में योगदान किया है, संतुलन की आपेक्षिक मात्रा और संपूरकता तथा वह सीमा है जिस तक उसके सदस्य देश समाकलनात्मक व्यवहार की ओर प्रवृत्त हुए हैं। आर्थिक समाकलन (एकीकरण) और क्षेत्रीय व्यापार तथा वित्तीय संबंधों द्वारा आर्थिक विकास विकासशील देशों में सफल सिद्ध नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए, सार्क के पीछे मुख्य मूल आधार और प्रेरणा भी सामूहिक आर्थिक लाभ दे रहे हैं। परन्तु आर्थिक सहयोग राजनीतिक दबावों द्वारा बहुत अधिक नियंत्रित रहे हैं। दक्षिण एशियाई प्रदेश युद्धवर्जन और अशान्ति संलक्षण की राजनीति का अन्योन्यक्रिया स्थल रहा है। दक्षिण एशिया की क्षेत्रीय एजेंसी के संबंधों का केन्द्र बिन्दु भारत-पाक संबंध हैं। भारत क्षेत्र में सबसे बड़ा और

सबसे अधिक बड़ी आर्थिक शक्ति है और इस प्रकार उसके पड़ोसी प्रदेश भारत के प्रधानता के बारे में बहुत चिन्तित हैं।

इस प्रकार क्षेत्रीय सहयोग के साधन के रूप में कार्य करने के लिए क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों पर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका पर कई दबाव हैं। विकासशील विश्व के प्रदेशों में सहयोगात्मक प्रयास की सीमा और परिणाम अनिश्चित होते जा रहे हैं और क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों की सफलता की प्राप्ति के लिए असाधारण कूटनीतिक दक्षता तथा राजनीतिक वचनबद्धता की आवश्यकता होती है ताकि वे सफल प्रादेशिक साहसिक क्षेत्र बन सकें।

12.8 साराश

इस इकाई में हमने समाकलन (एकीकरण) और शान्ति, कार्यवाद और नव-कार्यवाद या क्षेत्रीयता के दो वैकल्पिक मार्गों का विवेचन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर राज्यों के बीच सहयोग पर बल देते हुए शान्ति के लिए इन दो उपागमों ने यथार्थवाद और नव-यथार्थवाद की प्रमुख विचारधाराओं को चुनौती दी जिसने राज्यों के बीच संघर्ष और प्रतिस्पर्धा पर बल दिया। इस उपागम के अनुयायियों के लिए कार्यात्मक क्रियाकलाप में राज्यों के बीच सहयोग और क्षेत्रीय सहयोगशील व्यवस्थाएँ 'अनियंत्रित संप्रभुता पर नियंत्रण' रखने की आवश्यकता महसूस हुई और वृहत्तर समाकलन (एकीकरण) के लिए मार्ग प्रशस्त किया और इस प्रकार शान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इकाई में संघर्ष निवारण (अवरोधन) तथा संघर्ष समाधान में क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका पर बल देते हुए सामूहिक और क्षेत्रीय सुरक्षा की अवधारणाओं का विवेचन भी किया गया। हमने क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रभाविता के लिए आवश्यक शर्तों को देखा है। महाशक्तियों के बीच द्विध्रुवीय संघर्ष की समाप्ति से प्रमुख शक्तियों के बीच तनाव घटा है। परन्तु विश्व के अन्य भागों में तनाव में वृद्धि हुई है। संघर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय प्रबंधन और सहयोग के संवर्धन की निरंतर आवश्यकता बनी हुई है। जबकि विकासशील देशों के बीच सहयोगशील प्रयासों की सीमा और परिणाम अनिश्चित होते जा रहे हैं। कार्यात्मकवादियों और नवकार्यात्मकवादियों द्वारा शान्ति के लिए प्रस्तुत की गई रूपरेखा आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी शीत युद्ध के वर्षों के दौरान थी।

12.9 अभ्यास प्रश्न

1) कार्यात्मकवाद की बुनियादी मान्यताएँ क्या हैं?

2) कार्यात्मकवाद और नवकार्यात्मकता के बीच क्या अंतर है?

3) संघर्ष निवारण (अवरोधन) और समाधान में क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका का विवेचन कीजिए।

4) आर्थिक क्षेत्रीयता क्या है? आर्थिक समाकलन (एकीकरण) और सहयोग के साधन के रूप में यह कहाँ तक सफल कहा जा सकता है?

इकाई 13 गांधीवादी उपागम

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 शान्ति के गांधीवादी उपागम का आधार

13.2.1 सत्याग्रह

13.2.2 अहिंसा

13.3 युद्ध के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण

13.4 गांधी की शान्ति विषयक सोच

13.5 शान्ति के गांधीवादी उपागम के मुख्य तत्व

13.5.1 व्यक्ति तथा उसकी मनोवृत्ति पर बल

13.5.2 एक नवीन जीवन शैली एवं संस्कृति की आवश्यकता

13.5.3 नैतिक समाधान की खोज

13.5.4 राष्ट्रवाद के साथ मानवतावाद को जोड़ना

13.5.5 अहिंसावादी राज्यों के लिए 6-सूत्री कार्यक्रम

13.5.6 निरस्त्रीकरण को प्रोत्साहन

13.5.7 परमाणु अस्त्रों के विरुद्ध संघर्ष

13.5.8 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व संघ

13.5.9 अहिंसावादी सेना तथा शान्ति सेना

13.5.10 आक्रमणकारी के साथ असहयोग

13.5.11 पारिस्थितिकी मामलों का संबोधन

13.5.12 विकास प्रतिमान में सुधार

13.5.13 आंतरिक मतभेदों को शान्त करना

13.5.14 आर्थिक शोषण का अन्त

13.5.15 शान्ति प्रक्रिया में जन-भागीदारी

13.6 शान्ति के गांधीवादी उपागम का आलोचनात्मक मूल्यांकन

13.7 सारांश

13.8 अभ्यास प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

महात्मा गांधी (1869-1948) की गणना मानव इतिहास की महानतम विभूतियों में होती है। गांधी के व्यक्तित्व एवं योगदान के अनेक पहलू हैं - एक विशिष्ट जन नेता, समाज-सुधारक, शान्तिवादी और सबसे बढ़कर सत्य तथा अहिंसा का एक मसीहा। गांधीजी अहिंसा, शान्ति, भाईचारा तथा सहिष्णुता के लिए जिए, संघर्ष किया तथा इन्हीं आदर्शों के लिए अपना जीवन भी दे दिया। उन्होंने भारत में अंग्रेजी शासकों के विरुद्ध असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, हड़ताल आदि नवीन तकनीक अपनाईं तथा राजनीतिक गतिशीलता/संघटन की अवधारणा में नए आयाम जोड़ दिए।

NMDC-288

यद्यपि गांधीजी के समाज तथा राजनीति पर विचारों से सभी भली-भाँति परिचित हैं, परन्तु शान्ति तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर उनके विचार क्या थे - इसकी जानकारी व्यापक नहीं है। ऐसा समझा जाता है कि गांधीजी ने विश्व राजनीति पर ज्यादा रुचि नहीं रखी क्योंकि वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संचालन तथा भारतीय समाज व ग्रामीण समस्याओं के समाधान में व्यस्त रहे। परन्तु यह एक भ्रमित विचार है। गांधीजी ने विश्व राजनीति की कभी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रायः अपने विचार अभिव्यक्त किए, तथा नई विश्व व्यवस्था के संदर्भ में स्पष्ट एवं विलक्षण परिकल्पना भी की। सत्य तो यह है कि गांधीजी ने भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की कल्पना तथा संचालन एक विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में ही किया।

फिर भी, गांधी कोई सिद्धान्तशास्त्री या एक व्यवस्थित लेखक नहीं थे। उन्होंने अपने द्वारा व्यक्त अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर विचारों को विस्तार से नहीं समझाया और न ही कोई शान्ति का विशिष्ट सिद्धान्त ही दिया। युद्ध तथा शान्ति पर उनके विचार उनके लेखों तथा विभिन्न व्यक्तियों को दी गई टिप्पणियों में दिखाई देते हैं। हालांकि विषयक असंगति के कारण इन लेखों में से एक व्यवस्थित सिद्धान्त की संरचना करना बहुत कठिन है। फिर भी, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर उनके समग्र विचारों में अंतर-राज्यीय हिंसा के कारण तथा समाधान पर एक विशिष्ट उपागम की अभिव्यक्ति होती है। गांधी जी की शान्ति की सोच/परिकल्पना (vision) विभिन्न दर्शनग्राही है, जोकि अनेक स्रोत तथा परम्पराओं से ली गई है। यह शान्तिवादी तथा अराजकतावादी दोनों से ही प्रभावित है, विशेषकर रूसी लेखक लिओ टॉलस्टाय तथा अमेरिकी अराजकतावादी हैनरी थोरिओ, तथा हिन्दूवाद, जैन तथा ईसाई दार्शनिक परम्पराओं से। निम्नलिखित भागों में शान्ति के गांधीवादी उपागम के मुख्य विचारों का हम विस्तार से अध्ययन करेंगे।

13.2 शान्ति के गांधीवादी उपागम का आधार

शान्ति के गांधीवादी उपागम को समझने के लिए हमें गांधी के सामान्य सामाजिक व राजनीतिक विचारों के मुख्य तत्वों को समझना होगा। गांधीवाद जीवन व समाज का एक समग्र दर्शन है, जोकि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर समरूपता से लागू किया जा सकता है। इस दर्शन का जन्म गांधीजी के विचारों और कार्यों से ही हुआ। व्यक्ति, समाज तथा राज्य के विषय में उनके विचारों ने ही शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उनके उपागम का आधार प्रदान किया।

गांधीजी ने, निर्विवाद रूप से, समाजशास्त्र तथा ज्ञानशास्त्र दोनों को प्रतिपादित किया। गांधीवादी विचारधारा में, आध्यात्मिक तथा सामाजिक सिद्धान्त, धार्मिक मूल्य तथा राजनीतिक योजना सभी का एक संतुलित समावेश है। राजनीति के समक्ष नैतिक प्रधानता, तथा तात्विक के समक्ष आध्यात्मिक प्रधानता गांधीजी के विचारों की मौलिकता है। उनके लिए सत्य ही अंतिम उद्देश्य है तथा अहिंसा उसे पाने का उत्तम साधन। पूर्ण सत्य ही सर्वशक्तिमान तथा सर्वसम्मिलित है। यह दैव्यता के समान है। सत्य से परे न कोई सुन्दरता है न ही कोई कला। गांधीजी ने बड़ी खूबसूरती से उक्ति "ईश्वर ही सत्य है" को "सत्य ही ईश्वर है" में परिणित कर दिया। किसी साध्य को पाने हेतु साधन की शुद्धता भी गांधीवादी उपागम की एक मौलिक कड़ी है। मैक्यावलीवादी विचार 'साध्य ही साधन की सार्थकता है' को नकार कर गांधीजी ने साधन और साध्य को अविच्छेद्य बताया। अच्छाई, अच्छाई का सूत्रधार है तथा बुराई, बुराई का। वास्तव में 'साध्य', 'साधन' से ही उपजता है। गांधी की नज़र में, जिस प्रकार तुम संघर्ष करते हो, और जिस साध्य के लिए करते हो - एक ही बात है। अतः, गांधीवादी दर्शन में किसी भी समस्या का समाधान संघर्ष के साधनों में ही निहित है।

13.2.1 सत्याग्रह

सत्याग्रह, गांधीजी का सामाजिक विचार तथा आन्दोलन को सबसे मूल एवं महत्वपूर्ण योगदान है। अन्याय, शोषण तथा अधिनायकवाद के विरुद्ध 'सत्याग्रह' के माध्यम से अहिंसात्मक संघर्ष की इस नीति की गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में जातिवाद के विरुद्ध (और फिर भारत में अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध) संघर्ष के दौरान कल्पना की और इसे लागू किया। भारत में अंग्रेज़ी शासन की नींव को हिलाने तथा जनता को देश की स्वतंत्रता के लिए जागरूक करने में मुख्यतः गांधीजी के अनेक सत्याग्रह आन्दोलन ही जिम्मेदार हैं। सत्याग्रह प्रत्येक परिस्थिति में लागू किया जा सकता हैः अन्तर-वैयक्तिक से लेकर सामूहिक संबंधों पर, राष्ट्रीय संघर्षों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों तथा सूक्ष्म से लेकर बृहत् स्तर की समस्याओं पर। इसका प्रयोग भूमंडलीय स्तर पर अत्याचार, शोषण तथा युद्ध के विरुद्ध संघर्ष में भी किया जा सकता है। अतः, शान्ति का गांधीवादी उपागम मुख्य रूप से सत्याग्रह पर आधारित है। वास्तव में, गांधीजी सत्याग्रह को युद्ध का नैतिक विकल्प मानते थे; राज्य की समस्याओं के समाधान का एक बेहतर साधन। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शान्ति तथा न्याय की स्थापना के लिए यह बल प्रयोग व हिंसा के स्थान पर अनुनय तथा नैतिक दबाव पर निर्भर करता है।

सत्याग्रह संस्कृत शब्द 'सत्य' व 'आग्रह' से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है सत्य के लिए आग्रह। सत्याग्रह का अर्थ है – अत्याचारी को बिना हानि पहुँचाए, तथा उसके प्रति मन में किसी प्रकार की घृणा के बिना, अत्याचार तथा बुराई का शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा विरोध करना। सत्याग्रह, अहिंसात्मक प्रतिरोध की सिर्फ तकनीक मात्र नहीं है, अपितु जीवन का सामाजिक एवं नैतिक दर्शन है। सत्याग्रह के अनेक अहिंसात्मक साधन हैंः तर्क, अनुनय, आत्म-कष्ट द्वारा हृदय परिवर्तन, असहयोग, सविनय अवज्ञा, हड़ताल, उपवास, इत्यादि। यह इस धारणा पर आधारित है कि विरोधी को तर्क के द्वारा समझाया जा सकता है, तथा उसकी एक आत्मा है जो दूसरे व्यक्ति की समस्या – कष्ट से दुखी होती है एवं किसी भी शालीन तथा मित्रतापूर्ण व्यवहार के प्रति प्रतिक्रिया करती है। सत्याग्रही का लक्ष्य विरोधी का हृदय परिवर्तन है न कि बल प्रयोग व ज़बरदस्ती। हृदय परिवर्तन सत्याग्रही की निष्ठा तथा त्याग पर निर्भर करता है। आत्म-कष्ट, त्याग तथा सत्याग्रही की सकारात्मक मनोवृत्ति विरोधी के व्यवहार में परिवर्तन ला सकती है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि विरोधी का हृदय परिबर्तन, बिना किसी कुंठा तथा बदले ही भावना के साथ ही किया जाए।

सत्याग्रह का लक्ष्य/उद्देश्य है – विरोध को नष्ट करना, न कि स्वयं विरोधी को। सत्याग्रह में, विरोधी दल की नकारात्मक क्रियाओं का लगातार व दृढ़ता से विरोध करना होगा, तथा साथ ही उनके प्रति अपने मन में कोई दुर्भावना भी नहीं होगी। गांधीजी का मानना है कि हमें विरोधी को अपना शत्रु नहीं मानना है। उन्होंने कहा, हम तरीकों व व्यवस्थाओं पर आक्रमण कर सकते हैं, ... व्यक्ति पर नहीं। क्योंकि हम स्वयं पूर्ण नहीं हैं, हमें दूसरों के प्रति नम्र होना होगा तथा उनके प्रति आरोपारोपण करने में बहुत समझदारी से काम लेना होगा।

13.2.2 . अहिंसा (Ahinsa or Non-violence)

गांधीजी के शान्तिवाद का आधार है – अहिंसा। अहिंसा की पुनर्व्याख्या गांधीजी का सबसे महत्वपूर्ण योगदान है। अहिंसा सत्य को पाने का साधन है। जिस प्रकार हिंसा पशु का विशिष्ट व्यवहार है, उसी प्रकार अहिंसा मानव का नैसर्गिक व्यवहार है। गांधीजी के लिए अहिंसा, हिंसा से कहीं ऊपर है। बदलाव लाने की इस रणनीति को गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में विकसित किया तथा बाद में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इसका विकास हुआ। गांधीजी की अहिंसा, जोकि जैन तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों के प्रभाव से उत्पन्न हुई, कष्ट न देने का कोई नकारात्मक मूल्य नहीं है, अपितु मानवता के लिए प्रेम, त्याग तथा क्षमाशीलता का सकारात्मक व्यवहार है। प्रतिशोध की अपेक्षा क्षमाशीलता के लिए अधिक बल की आवश्यकता होती है। अतः, अहिंसा निष्क्रिय नहीं अधिकार की सही परिभाषा है - प्रेम व त्याग, अपने शुद्ध सकारात्मक रूप

NMDC-288

में। इसका आशय है किसी को भी अपने विचारों, शब्दों तथा कार्यों से हानि या दुख न पहुँचाना। इसका मतलब है, अन्यायी के प्रति भी प्रेम रखना, उसका भला चाहना। परन्तु अहिंसा कायरों का नहीं, शक्तिशाली का हथियार है।

गांधीजी ने कहा था, यदि मुझे कायरता और हिंसा में से किसी एक को चुनना पड़े तो मैं हिंसा का समर्थन करूँगा। उन्होंने कहा अपने अपमान को कायरों की भाँति स्वीकार करने से तो बेहतर है देश के गौरव के लिए हथियार उठाकर लड़ मरना। यही कारण है कि उन्होंने स्वतंत्रता संघर्ष का पूरी निष्ठा तथा आत्मबल के साथ नेतृत्व किया। उन्होंने कहा था कि "मैं चाहूँगा कि भारत अपने सम्मान की रक्षा के लिए शस्त्र उठाए, बजाय इसके कि वह कायरतापूर्वक अपने अपमान को एक असहाय की भाँति देखता रहे।"

13.3 युद्ध के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण

गांधीजी युद्ध को एक विशुद्ध बुराई मानते थे। यह अनैतिक एवं बुरा है क्योंकि यह सत्य और अहिंसा के मूल्यों का अतिक्रमण करता है। गांधीजी ने आक्रमण के सभी प्रकारों का विरोध किया – चाहे वह सेना द्वारा समर्थित हो या न हो। गांधीजी का कहना था कि युद्ध उन्हें भी अनैतिक बना देता है जिन्हें इसके लिए प्रशिक्षित किया जाता है। यह मानव को उसके स्वाभाविक व्यवहार से दूर कर देता है। युद्ध से कोई उपलब्धि नहीं होती क्योंकि जो कुछ तलवार से जीता जाता है, वही तलवार से हारा भी जा सकता है। गांधीजी ने युद्ध तथा लोकतंत्र को विरोधाभासी माना। लोकतंत्र का आधार मानवता और सहयोग है, जबकि युद्ध मानव संबंधों को नष्ट कर देता है। युद्ध लोकतंत्र की अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न कर देता है। सामान्य रूप से, युद्ध के अनेक कारण हैं। फिर भी आज के युग में गांधीजी जातिवाद, उपनिवेशवाद तथा फासीवाद को युद्ध के मुख्य कारण मानते हैं। आर्थिक विषमता तथा शोषण, युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के तनाव के अन्य कारण हैं।

यद्यपि सामान्य रूप से गांधीजी ने युद्ध के हर प्रकार का खण्डन किया, तथापि युद्ध के प्रति उनकी प्रतिक्रिया समय-समय पर बदलती रही। कई बार युद्ध के नैतिक आधार व उपयोगिता पर उनके विचार विरोधाभासी रहे। हालाँकि सैद्धान्तिक रूप से उन्होंने हर प्रकार के युद्ध को वर्जित कहा, परन्तु फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्होंने युद्ध का त्याग नहीं किया। दक्षिण अफ्रीका में ज़ुलु युद्ध तथा प्रथम विश्व युद्ध में गांधीजी ने स्वयं हिस्सा लिया। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद, पाकिस्तान से कश्मीर के प्रश्न पर युद्ध में भी गांधीजी ने शांतिपूर्ण सत्याग्रह के स्थान पर युद्ध का समर्थन किया था।

युद्ध पर गांधी जी के विचारों को श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहली, एक अशिक्षित शान्तिवादी की भाँति उन्होंने युद्ध के हर प्रकार को नकारा तथा माना कि युद्ध से किसी की भलाई नहीं होती, न तो विजयी की और न ही पराजित की। बल प्रयोग में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। हिंसा चाहे प्रतिरक्षा के लिए की जाए या न्याय की रक्षा के लिए, उपयोगी हो ही नहीं सकती। द्वितीय विश्व युद्ध तथा परमाणु अस्त्रों की गांधीजी द्वारा आलोचना शान्तिवाद के इस प्रकार को स्पष्ट कर देती है। उन्होंने अहिंसावादी तथा सत्य की राह पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति से किसी भी युद्ध में हिस्सा न लेने का सुझाव दिया। दूसरी, एक प्रतिबंधित (conditional) शान्तिवादी की तरह गांधीजी का विचार था कि एक अनुपयुक्त साधन होते हुए भी कुछ युद्धों के द्वारा भलाई अर्जित की जा सकती है। उन्होंने यह भी माना कि व्यक्ति तथा राज्य न्याय एवं भलाई का समर्थन करने वाले पक्ष के साथ हो सकते हैं। 1904-05 के रूस-जापान युद्ध के संदर्भ में गांधीजी की प्रतिक्रिया इसी श्रेणी में आती है। तीसरी, एक व्यावहारिक राष्ट्रवादी की तरह गांधीजी ने राष्ट्रवाद की माँगों को शान्तिवाद के ढाँचे में समायोजित करने की कोशिश की। एक निर्दोष राज्य पर किए गए आक्रमण के उत्तर में प्रतिरक्षा के लिए युद्ध करना गुणात्मक रूप से भिन्न बात है। जबकि आक्रमक युद्धों का कोई नैतिक औचित्य नहीं होता, प्रतिरक्षा के लिए सैनिक प्रतिक्रिया को गांधीजी ने कुछ विशेष परिस्थितियों में सही ठहराया। प्रथम विश्व युद्ध में अंग्रेज़ों का समर्थन तथा 1947-48 में हुए भारत पर

पाकिस्तान के हमले के विरुद्ध सैन्य कार्रवाई का गांधीजी ने औचित्य समझाने का प्रयास किया। गांधी जी ने यह भी स्वीकार किया कि विश्व से हिंसा को पूरी तरह से समाप्त करना असंभव है। अतः एक अहिंसावादी को युद्ध समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए। हालाँकि, यदि वह इसमें सफल नहीं होता तो पूर्ण रूप से युद्ध में भाग ले सकता है तथा अपने देश व विश्व को युद्ध से मुक्त कराने का प्रयास कर सकता है।

13.4 गांधी की शान्ति विषयक सोच

शान्ति, गांधीजी की परिकल्पना में, युद्ध या हिंसा के अभाव से कहीं ज्यादा है। यह विश्व व्यवस्था की एक ऐसी रचनात्मक व सकारात्मक स्थिति है जहाँ व्यक्ति, समूह तथा राज्य एक-दूसरे के ऊपर अधिकार या शोषण न करके, आपसी सहयोग व मदद के वातावरण में रहते हैं। अतः शान्ति समाज व विश्व को जोड़ने का कार्य करती है। यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ व्यक्ति हिंसा के बिना अपने आपसी मतभेदों का निवारण बातचीत के माध्यम से कर सकते हैं।

शान्ति तथा सत्य को पृथक नहीं किया जा सकता। गांधीजी ने कहा था, "शान्ति का मार्ग ही सत्य का मार्ग है। सत्य शान्ति से ज्यादा महत्वपूर्ण है।" अतः, असत्य तथा धोखे से अर्जित शान्ति को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। ऐसी शान्ति अधिक समय तक नहीं रहती। सत्य पर आधारित शान्ति स्थिर होती है तथा व्यक्ति के आंतरिक आध्यात्मिक विकास तथा सामाजिक विकास को प्रशस्त करती है। शान्ति तथा न्याय भी आपस में महत्वपूर्ण रूप से संबंधित हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू के समान हैं।

गांधीजी शान्ति तथा युद्ध को अलग समस्या नहीं मानते थे। उन्होंने शान्ति की एक ऐसी परिकल्पना दी जो जीवन दर्शन पर आधारित है। गांधीवादी उपागम में शान्ति की धारणा मानवता की एकता तथा राष्ट्रों के स्वतंत्र स्वभाव के लक्ष्य का बोध कराती है। गांधीजी समस्त मानवता को एक ही मानते थे तथा सार्वभौमिक भाईचारे के लिए आग्रह करते थे। उनके अनुसार मानव चेतना (जो सब जगह व्याप्त है), मानवता को, राष्ट्रीयता, जाति तथा संस्कृति के भेदभावों से ऊपर, आध्यात्मिक एकता में बाँधती है सभी व्यक्तियों में आपसी सदभाव व मित्रता शान्ति की आवश्यक शर्त है क्योंकि मानवता अविभाज्य है, कोई व्यक्ति स्वयं को कष्ट दिए बिना दूसरे व्यक्ति पर अत्याचार कर ही नहीं सकता।

यथार्थवादी उपागम संघर्ष को दो समूहों के बीच स्वार्थों का टकराव मानता है, जो युद्ध में एक पक्ष की जीत से या फिर समझौते द्वारा सुलझाया जा सकता है। गांधीवादी संघर्ष को स्वार्थों का टकराव नहीं मानता। यह इसको मानसिक भ्रम, भ्रामक अवधारणाओं या आकांक्षाओं का परिणाम मानता है। गांधीजी ने माना कि संघर्ष जीवन के बहाव में अस्थायी बाधाएँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में संघर्ष दो व्यक्तियों या समूहों के बीच नहीं होता, वरन दो व्यवस्थाओं के बीच होता है। अतः संघर्ष की स्थिति में व्यक्तिगत विरोध का कोई स्थान नहीं है। इस संघर्ष का आपसी व रचनात्मक बातचीत के द्वारा समाधान किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि किसी एक पक्ष को अपने स्वार्थ या स्थिति का त्याग करना पड़े। बल्कि समाधान की प्रक्रिया में मानसिक बदलाव दोनों ही पक्षों के लिए विजय की परिस्थिति प्रदान कर सकता है।

शान्ति का गांधीवादी उपागम पश्चिम में प्रचलित शान्तिवाद से आवश्यक रूप से भिन्न है। गांधीजी की अहिंसा तथा शान्तिवाद, दोनों ही हिंसा को सामान्य तौर पर नकारते हैं। परन्तु भिन्नता यह है कि जहाँ शान्तिवाद हिंसा का विरोध कर सैन्य बल का प्रयोग नहीं करेगा, गांधीवादी अहिंसा में शान्ति तथा न्याय के प्रोत्साहन के लिए सामाजिक उत्तरदायित्व भी शामिल है। कई बार, पश्चिमी शान्तिवाद अन्याय व बुराई का विरोध करने की अपेक्षा निष्क्रिय शान्तिवाद में परिणत हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति शोषित होते हैं, इसे सोया हुआ एवं अनुपयुक्त अवधारणा मानते हैं। गांधीजी का सत्याग्रह, शान्तिवाद का एक नया व 'आक्रमक' स्वरूप है, जोकि पश्चिमी शान्तिवाद की अहिंसा तथा नैतिक मूल्यों के साथ एकमत है।

13.5 शान्ति के गांधीवादी उपागम के मुख्य तत्व

गांधीजी के अनुसार, युद्ध कोई प्राकृतिक घटना नहीं है, वरन् एक सामाजिक व सांस्कृतिक तथ्य है। हिंसा करना या दूसरों की हत्या करना व्यक्ति का स्वभाव नहीं है क्योंकि व्यक्ति शान्तिवादी है, राज्य (जिसमें व्यक्ति रहता है) भी शान्तिप्रिय हो सकता है। यदि युद्ध के मौलिक कारण को समाप्त कर नैतिक तरीकों द्वारा सौहार्दपूर्ण वातावरण तैयार किया जाए तो युद्ध को टाला जा सकता है। गांधीजी को अहिंसा के द्वारा शान्ति की स्थापना में असीम आस्था थी। उन्होंने लिखाः "स्थायी शान्ति में विश्वास न होने का अभिप्राय है – मानव स्वभाव की दैव्यता में विश्वास न होना।"

13.5.1 व्यक्ति तथा उसकी मनोवृत्ति पर बल

एक विचारक मानव स्वभाव तथा व्यक्ति की स्वयं को संचालित करने की क्षमता के विषय में क्या सोच रखता है, उसी पर उसकी समाज तथा विश्व की परिकल्पना निर्भर करती है। गांधीजी की शान्ति तथा विश्व व्यवस्था की रूपरेखा में व्यक्ति सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। गांधीजी एक ऐसे मानवतावादी थे जो व्यक्ति को प्रत्येक सामाजिक व राजनीतिक क्रियाकलाव का केन्द्र मानते थे। व्यक्ति, समग्रता का अभिन्न अंग है। व्यक्ति तथा परिवार के बीच, परिवार तथा पड़ोस के बीच, पड़ोस व समाज के बीच, एक समाज व राष्ट्र के बीच, तथा राष्ट्र व विश्व के बीच - व्यक्ति एक अविच्छेद्य कड़ी है। प्रत्येक स्तर उतना ही सशक्त है, जितने उसके दूसरे स्तर से संबंध अच्छे हैं। अतः विश्व स्तर पर शान्ति की संभावना को सुदृढ़ करने के लिए शुरुआत करनी होगी - व्यक्ति को मनोवृत्ति के स्तर पर।

गांधीजी का मानना था कि युद्ध एवं शान्ति के कारण मनुष्य के मस्तिष्क में विद्यमान हैं। विश्व शान्ति का प्रश्न अंततोगत्वा स्वयं पर विजय की उपलब्धि है। इसका बोध होते हुए भी कि मानव बुद्धि भ्रष्टाचार तथा निम्नता की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति रखती है, व्यक्ति ने कभी मानव की अच्छाई तथा भले–बुरे में अंतर करने की उसकी क्षमता में आस्था नहीं छोड़ी। व्यक्ति सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों पर जीवन जी सकता है। अंतोतगत्वा, भौतिक एवं तात्विक शक्ति पर नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति की विजय निश्चित है क्योंकि अहिंसा की चाह प्रत्येक मनुष्य के दिल में विद्यमान है। आध्यात्मिक शक्ति भले ही सुसुप्त अवस्था में हो, परन्तु उसे सही प्रशिक्षण एवं प्रेरणा से जगाया जा सकता है।

हिंसा की आलोचना मात्र से विश्व शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिए मनुष्य को सुधारना होगा। शान्ति को ऊपर से थोपा नहीं जा सकता, उसे अंदर से प्रफुल्लित करना होगा। क्योंकि युद्ध एवं शान्ति दोनों ही मनुष्य की बुद्धि में है, एक अहिंसावादी शान्तिवादक को कहीं और शान्ति की स्थापना से पहले अपने अंदर उसे स्थायी बनाना होगा। गांधीवादी योजना में, मनुष्य की अशुद्धियों को दूर करना जैसे क्रोध, घृणा, स्वार्थीपन, महत्वपूर्ण व मौलिक साधन हैं। एक सत्याग्रही को अपना लक्ष्य पाने के लिए अपना लगातार आत्म-निरीक्षण, आत्म-शुद्धि व आत्म-मूल्यांकन करना आवश्यक हैं।

13.5.2 एक नवीन जीवन शैली एवं संस्कृति की आवश्यकता

गांधीवादी अवधारणा का मानना है कि हिंसा का मूल लालच, उपभोक्तावाद तथा भौतिकवाद में निहित है, अतः विश्व शान्ति के लिए एक नवीन जीवन-शैली एवं संस्कृति की आवश्यकता है। आधुनिक सभ्यता जो निजी स्वार्थ की उपासक है, समाज के नैतिक आधार के लिए घातक है। मानव आवश्यकताओं को सीमित करना तथा स्वयं-संबंधी से अन्य-संबंधी मानसिकता शान्ति की गांधीवादी परिकल्पना के मुख्य अंग हैं।

13.5.3 नैतिक समाधान की खोज

युद्ध एवं शान्ति के प्रश्न को लेकर परम्परावादी उपागमों और सिद्धान्तों में अनेक प्रकार की भ्रामक अवधारणाएँ हैं। अभी तक शान्ति के प्रयास गलत तरीकों के प्रयोग तथा शान्तिकर्त्ताओं की निष्ठा के अभाव

से असफल रहे हैं। गांधीवादी उपागम में, शान्ति किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के क्रियाकलापों या शक्ति-संतुलन का परिणाम नहीं है। युद्ध मुख्यतः एक नैतिक समस्या है तथा इसके लिए नैतिक समाधान की ही आवश्यकता है। यदि हम इसमें निहित नैतिक समस्या का समाधान कर सकें तो युद्ध के प्रकोप से सफलतापूर्वक बचा जा सकता है। नैतिक समस्या का जन्म उन प्रतिमानों से होता है, जो राष्ट्रों के आपसी व्यवहार का मार्गदर्शन करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिंसा के प्रयोग को वैधता प्रदान करते हैं। ये प्रतिमान समाज में व्यक्तियों द्वारा पालित प्रतिमानों से एकदम विपरीत हैं। जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार में उचित है, वह अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में अनुचित एवं अवांछनीय है। नैतिक मानव एक अनैतिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्वयं के उन्नत व्यवहार को हानि पहुँचाए बिना नहीं रह सकता।

जब तक राष्ट्रों की सामूहिक बुद्धि सभ्य नहीं हो जाती, विश्व में शान्ति नहीं हो सकती। गांधीजी का मत था कि प्रत्येक कर्म - चाहे वह स्वयं के लिए किया गया हो या फिर परिवार, समूह या राष्ट्र के लिए - अपने एक उपयुक्त परिणाम को जन्म देता है। दुष्ट कर्म दुष्परिणाम को जन्म देते हैं तथा भला कार्य भलाई को। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अच्छाई को बुराई ने वशीभूत कर लिया है। प्रत्येक युद्ध एक अन्य युद्ध का कारण बन जाता है। अतः, पुरातन समय के संतों एवं ऋषियों की धारा में, गांधीजी ने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निवारण के नैतिक साधनों का सुझाव दिया। यदि मानवता को एक व्यापक और विनाशकारी परमाणु युद्ध की संभावना को दूर करना है तो सदियों से निर्धारित नियमों का राष्ट्रों को एक-दूसरे के साथ व्यवहार में पालन करना होगा। जिस प्रकार सभ्य समाज में नैतिक कानून की स्थापना के लिए अनेक सुधारकों को कष्ट सहने पड़े, उसी प्रकार राष्ट्रों के बीच नैतिक कानून लागू करने के लिए कुछ राष्ट्रों को कष्ट उठाने के लिए तैयार रहना होगा। युद्ध 'आपसी हिंसा' है, जो घृणा, प्रतिशोध तथा द्वेष को जन्म देता है।

13.5.4 राष्ट्रवाद के साथ मानवतावाद को जोड़ना

गांधीजी एक निष्ठावान राष्ट्रवादी थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्र की सशक्त अवधारणा अभिव्यक्त की तथा वे भारतीयों के सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों के लिए उठ खड़े हुए। यद्यपि वे एक मानव राष्ट्रवादी नेता थे, उनका राष्ट्रवाद आम प्रकृति का नहीं था। न ही वह एकान्तिक व संकुचित था। उनका मानना था कि अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे के सर्वदेशीयवाद की भावना के अभाव में राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद की भाँति हानिकारक साबित हो सकता है। भारतीय राष्ट्रवाद को उन्होंने अन्य राष्ट्रों के लिए खतरा न मानकर शोषित देशों की स्वतंत्रता के लिए प्रेरणा माना। उन्होंने कहा, "भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ मैं मानव भाईचारे के उद्देश्य को भी पाना चाहता हूँ।" एक स्वतंत्र भारत विश्व में शान्ति का संदेश देगा तथा अपनी विदेश नीति में देश की आध्यात्मिक धरोहर एवं अहिंसात्मक संघर्ष को उजागर करेगा।

गांधीजी का मत था कि विश्व शान्ति के लिए राष्ट्र-राज्य व्यवस्था को समाप्त करना आवश्यक नहीं है। "राष्ट्रवाद बुराई नहीं है, बुराई है स्वार्थीपन, संकुचित व एकान्तिक भावना ... हमारा राष्ट्रवाद अन्य राष्ट्रों के लिए खतरा नहीं है क्योंकि न तो हम दूसरों का शोषण करेंगे और न ही दूसरों को अपना शोषण करने की अनुमति देंगे।" राष्ट्रवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद एक –दूसरे के पूरक हो सकते हैं। अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए अन्य देशों को हानि पहुँचाना आवश्यक नहीं है।

13.5.5 अहिंसावादी राज्यों के लिए 6-सूत्री कार्यक्रम

गांधीजी की शान्ति की परिकल्पना में, शान्तिप्रिय एवं अहिंसावादी राज्य निम्नलिखित 6 सूत्रों के प्रति निष्ठावान होने चाहिए। पहला, उसे पूर्ण व सार्वभौमिक निरस्त्रीकरण अपनाना चाहिए। ऐसा करने में जो राशि बचती है तथा सेना का कार्य कम होता है, उसका प्रयोग रचनात्मक कार्यों में किया जाना चाहिए। दूसरा, एक अहिंसावादी राज्य को अपने औपनिवेशिक क्षेत्रों को स्वतंत्र कर देना चाहिए तथा स्वतंत्र राष्ट्रों को स्वयं विकसित होने में सहायता करनी चाहिए। तीसरा, एक अहिंसावादी राज्य को ऐसे समस्त सुरक्षा गठबंधनों से हट जाना चाहिए जो उसे किसी भी प्रकार के सैन्य दायित्व में बाँधते हों।

चौथा, ऐसे राज्य को परम्परावादी खुफिया जानकारी व दूसरे राज्यों का भेद लेने की नीति को पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए। पाँचवाँ, ऐसे राज्य को अन्य राज्यों के साथ सैन्य संबंधी व्यापार को कम कर देना चाहिए। छठा, यदि ऐसे राज्य के पास पर्याप्त संसाधन हैं तो उन्हें अन्य अविकसित राज्यों के साथ बाँटना चाहिए।

13.5.6 निरस्त्रीकरण को प्रोत्साहन

गांधीजी ने इस मत को पूर्ण रूप से नकारा कि शस्त्रास्त्र राज्य को सुरक्षा प्रदान करते हैं तथा अन्य राज्यों को आक्रमण करने से रोकते हैं। एक राज्य की अस्त्रों को जमा करने की आकांक्षा को गांधीजी ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की बीमारी व अस्त-व्यस्तता बताया। अस्त्र शत्रु को आक्रमण करने से नहीं रोकते। एक राज्य की सच्ची शक्ति है उसके देशवासियों की लड़ने व राष्ट्र के लिए मिट जाने की भावना। उन्होंने कहा, "यदि अस्त्रों की होड़ ऐसे ही चलती रही, तो इसका परिणाम एक ऐसा कत्लेआम होगा जो इतिहास में पहले कभी न हुआ हो। ऐसे में यदि कोई विजयी होगा तो वह विजय उसके लिए एक जीवित मौत बन जाएगी।"

गांधीजी का मत था कि एक कम अस्त्रों वाले विश्व के लिए कुछ अवधारणाओं को स्वेच्छा से स्वयं को निरस्त्र कर ज़ोखिम उठाना होगा। उन्होंने अपने समय की महाशक्तियों से स्वैच्छिक/एकतरफा निरस्त्र होने की अपील की। उनका मानना था कि प्रत्येक महान कार्य एक छोटे से कदम से ही आरंभ होता है। यदि एक पक्ष एकतरफा निरस्त्रीकरण की चेष्टा करता है और दूसरा राज्य भी बदले में ऐसा ही कदम उठाता है, तो निरस्त्रीकरण की एक प्रक्रिया आरंभ हो सकती है। यदि पहला कदम उठाने पर विरोधी बदले में कदम नहीं उठाता तो पहल करने वाले राज्य को कुछ रुककर दूसरा कदम उठाना चाहिए। यदि एक राज्य निरस्त्रीकरण की दिशा में निरंतर निष्ठा से कार्यरत रहेगा तो दूसरा राज्य ज्यादा समय तक अप्रतिक्रियावादी नहीं रह सकता।

13.5.7 परमाणु अस्त्रों के विरुद्ध संघर्ष

गांधीजी को यह विचार एक उपहास प्रतीत होता था। कि परमाणु अस्त्रों की विध्वंसकारी शक्ति आगामी युद्धों को रोक सकती है। उन्होंने कहा - अमेरिकी दोस्तों का मानना है कि अणु बम अहिंसा लाएगा ... परन्तु जैसे ही भय का आतंक समाप्त होगा, विश्व, हिंसा की ओर एक नए जोश के साथ अग्रसर होगा। अभी तक जो मैं देख सकता हूँ वह यह है कि परमाणु बम ने समाज की उन सूक्ष्म भावनाओं का विनाश किया है जिन्होंने मानवता की सदियों से रक्षा की थी। युद्ध के कुछ तथाकथित नियम होते थे जो उसे सहनीय बना देते थे। यह आज का एक कटु सत्य है कि आज का युद्ध शक्ति के अलावा कोई नियम नहीं जानता। परमाणु बम की महान त्रासदी से यही शिक्षा ली जा सकती है कि इसके प्रभाव को प्रतिघातक बम नहीं मिटा सका; जिस प्रकार हिंसा को प्रतिहिंसा समाप्त नहीं कर सकती। मानवता को हिंसा से छुटकारा अहिंसा द्वारा ही मिल सकता है।

गांधीजी का अहिंसा तथा नैतिक मार्ग पर विश्वास 1945 के हिरोशिमा व नागासाकी नामक जापानी शहरों पर अमेरिका द्वारा परमाणु बम गिराए जाने के उपरान्त भी अडिग रहा। उन्होंने एक अवसर पर कहा "अणु बम मेरी अहिंसा व सत्य के सामने कुछ भी नहीं है। अणु बम मेरे पुत्र को मार सकता है, मुझे, मेरे परिवार तथा 40 करोड़ भारतीयों को मार सकता है। इससे क्या फर्क पड़ता है? अणुबम में हमारी आत्मा को नष्ट करने की शक्ति नहीं है।" जब उनसे पूछा गया कि वे अहिंसा द्वारा परमाणु अस्त्रों का मुकाबला कैसे करेंगे तो उन्होंने उत्तर दिया: "मैं खुली जगह में आकर विमानचालक को अपना चेहरा दिखा दूँगा कि मेरे मन में उसके प्रति कोई दुर्भावना नहीं है। इतनी ऊँचाई से चालक को मेरा चेहरा नहीं दिखेगा ... परन्तु हमारे मन में यह विचार कि हम कोई नुकसान पहुँचाने नहीं आएँगे, उस तक अवश्य पहुँच जाएगा तथा उसकी आँखें खुल जाएँगी।"

NMDC-288

13.5.8 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व संघ

गांधीजी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे राष्ट्र संघ या संयुक्त राष्ट्र में ज्यादा विश्वास नहीं रखते थे। उनका मानना था कि राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्र युद्धों के परिणाम हैं, न कि विजयी राष्ट्रों की ओर से शान्ति के लिए कोई विशुद्ध कदम की अभिव्यक्ति। उन्होंने शान्ति के प्रयासों को अधूरा छोड़ने तथा नैतिकता का त्याग करने पर लीग की कड़ी आलोचना की। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि यदि लीग शान्ति की स्थापना में गंभीर रूप से प्रत्यनरत होती तो सत्याग्रह का साधन अपनाना चाहिए था या नेताओं के हृदय परिवर्तन के बिना, तथा मानवता की एकता को स्वीकार किए बिना, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रों में शान्तिपूर्ण संबंधों की स्थापना नहीं कर सकते।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के समय गांधीजी ने एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का समर्थन किया था। हालाँकि उन्होंने यह अपेक्षा की थी कि यह भारत समेत सभी उपनिवेशों में स्वतंत्रता आन्दोलनों को समर्थन करेगा। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के संस्थापकों से आग्रह किया कि इस मंच का प्रयोग उपनिवेशवाद तथा युद्ध को समाप्त करने, उदार शान्ति संधियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दल की रचना, तथा विश्व संघ एवं आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए किया जाना चाहिए। यह देखकर कि उनके विचारों को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर तथा गतिविधियों में कोई स्थान नहीं दिया **गया, गांधीजी ने**, कुछ समय पश्चात्, विश्व शान्ति के प्रश्न के प्रति निष्क्रियवाद अपना लिया। संयुक्त राष्ट्र की संस्थापक महान शक्तियों के बारे में उन्होंने लिखा: "यदि वे सोचते हैं कि काली व पिछड़ी जातियों के शोषण के साथ-साथ वे स्थायी शान्ति की स्थापना कर सकते हैं, तो वे मूर्खों के जगत में रहते हैं।"

गांधीवादी उपागम में, शान्ति व सुरक्षा के प्रभावशाली माध्यम बनने के लिए, एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को निम्नलिखित सिद्धान्तों को अपनाना चाहिए:

(1) उसके घटक, व्यक्तियों तथा राज्यों को अहिंसा का पालन करना चाहिए। (2) सभी राष्ट्रों को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए तथा विश्व से जातिवाद, उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद जैसी बुराइयों का अंत होना चाहिए। (3) ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सभी देशों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। (4) इसका आधार सामान्य निरस्त्रीकरण होना चाहिए। (5) सामाजिक समाज सार्वजनिक सुख पर आधारित होना चाहिए, जिसमें प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों के लिए बलिदान व त्याग की भावना रखे। (6) सभी झगड़ों का निबटारा बातचीत, मध्यस्थता तथा विवाचन के द्वारा शान्तिपूर्वक ढंग से किया जाना चाहिए। (7) एक छोटी अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दल की रचना की जाए जो विश्व शान्ति बनाए रखने का कार्य करे।

यद्यपि गांधीजी ने एक केन्द्रीकृत विश्व सरकार की अवधारणा को नकारा नहीं, उनका झुकाव विश्व संघ की ओर था। उन्होंने एक ऐसे संघ की कल्पना की जो मैत्री, न्याय तथा स्वाधीनता पर आधारित हो। ऐसा संघ विश्व में न्याय, शान्ति व अहिंसा के आदर्शों को प्रोत्साहन देगा। ऐसा होना कठिन तो है परन्तु असंभव नहीं! ऐसे संघ की रचना में राज्यों को कुछ संप्रभुता छोड़ने के लिए भी मनाया जा सकता है। विश्व संघ के ढाँचे को केवल सत्य व अहिंसा की नींव पर ही खड़ा किया जा सकता है।

13.5.9 अहिंसावादी सेना तथा शान्ति सेना

गांधीजी के अनुसार शान्तिपूर्ण विश्व की महत्वपूर्ण शर्त है – अहिंसावादी सेना की रचना। यद्यपि यह एक अव्यावहारिक विचार प्रतीत होता है, परन्तु यदि इसके उद्देश्य को ध्यान में रखा जाए तो कार्य सरल प्रतीत होगा। ऐसी अहिंसावादी सेना, बिना शस्त्रों के, सशस्त्र सैनिक आक्रमण को रोक सकती है। एक अहिंसावादी सेना, शान्ति व युद्ध के समय, सामान्य सेना से भिन्न कार्य करती है। यह आक्रमणकारी समुदायों को करीब लाती है, शान्ति का प्रचार करती है तथा ऐसी गतिविधियाँ अपनाती है जो आक्रामक पक्षों को एक-दूसरे के प्रति सद्भावना विकसित करने में सहायक होती हैं। ऐसी सेना को किसी भी प्रकार की आकस्मिक स्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

गांधीजी ने अहिंसावादी सेना की अवधारणा को यथार्थ रूप देने के लिए शान्ति सेना की अवधारणा का विकास किया। 1922 के व्यापक जातीय दंगों के दौरान गांधीजी ने पहली बार शान्ति सेना की रचना की बात सोची। हालाँकि 1947 में भारतीय स्वतंत्रता के आस-पास ही गांधीजी ने इस विचार को गंभीरता से लिया। दुर्भाग्यवश, गांधीजी की हत्या के कारण यह प्रस्ताव अधूरा ही रह गया। शान्ति सेना एक नागरिक सुरक्षा बल है जो अहिंसात्मक तरीकों से सत्याग्रह के द्वारा शान्ति की स्थापना में कार्यरत रहती है। शान्ति सेना की इकाइयाँ प्रत्येक शहर व ग्राम में बनाई जा सकती हैं। ऐसी नागरिक सुरक्षा का ध्येय सीमाओं व इमारतों की रक्षा करना नहीं बल्कि समस्त समाज को सुरक्षा प्रदान करना होता है। एक शान्ति दल वाले राज्य पर आक्रमण की संभावना कम हो जाएगी क्योंकि यह सेना स्वयं कोई खतरा प्रदान नहीं करेगी। इस शान्ति बल के सदस्यों की मुख्य विशेषता/गुण होना चाहिएः ईश्वर में असीम विश्वास, सच्चाई, अनुशासन व अपने कार्य के प्रति निष्ठा। शान्ति के समय, *शान्ति सेना* सामाजिक कल्याण व रचनात्मक कार्य में संलग्न रहेगी। यदि शान्ति सेना लोगों को आकर्षित करने में सफल रही तो यह सेना व पुलिस का विकल्प बन सकती है।

प्रशिक्षित सत्याग्रही व शान्ति सेना सत्य, शान्ति व अहिंसा के लिए कोई भी बलिदान करने के लिए तैयार होगी, जिसमें जीवन बलिदान भी शामिल है। सत्याग्रही तथा शान्ति सेना का यह दल आक्रमणकारी का सामना कर उसे उसके बुरे कर्म से अवगत कराएगा। ऐसा करने में वे अपने जीवन के बलिदान के लिए भी सहर्ष तैयार रहेगा। जब आक्रमणकारी पुरुषों व स्त्रियों की कतार के बाद कतार को निहत्थे अपने सामने बलिदान व समर्पण करते हुए देखेगा तो उसका हृदय पिघल जाएगा, तथा वह हथियार फेंक देगा। गांधीजी का दावा था कि "युद्ध की आग में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को मारने की क्रिया वर्षों तक कर सकता है क्योंकि वहाँ उसका ध्येय है मर जाना या मार देना। परन्तु यदि स्वयं के मारे जाने का कोई खतरा न हो तो आप निहत्थे व मासूम व्यक्तियों को, जो स्वयं का बचाव भी नहीं कर सकते, अंधाधुंध कब तक मार सकते हो। आप आत्म-ग्लानि से अपने हथियार डाल देंगे।"

13.5.10 आक्रमणकारी के साथ असहयोग

युद्ध की स्थिति में, गांधीजी ने आक्रमणकारी राज्य के साथ असहयोग का महत्व बताया। उन्होंने कहा था कि विजयी सेना के साथ युद्ध करने के बजाए पहले अहिंसा का प्रयोग करना चाहिए तथा उसके पश्चात् असहयोग का। सत्याग्रहियों को विजयी सेना से सहयोग या बातचीत बिल्कुल बन्द कर देनी चाहिए। यदि एक क्षेत्र की समस्त जनसंख्या विजयी सेना के साथ किसी भी तरह का कोई सहयोग नहीं करेगी तो सेना को उस क्षेत्र पर ज्यादा लम्बे समय तक कब्ज़ा बनाए रखना असंभव हो जाएगा। कुछ समय बाद परेशान और हताश होकर वह सेना स्वयं ही क्षेत्र छोड़ देगी। इसके लिए, गांधीजी का मानना था कि लोगों को व्यक्तिगत नागरिक प्रतिरोध का प्रशिक्षण देना होगा। अहिंसा द्वारा प्राप्त शान्ति स्थिर रहती है क्योंकि इसके पश्चात् कोई मुद्दा या प्रतिशोध उभर कर नहीं आता।

13.5.11 पारिस्थितिकी मामलों का संबोधन

शान्ति का गांधीवादी उपागम सिर्फ व्यक्तियों से ही संबंधित नहीं है, वरन् पारिस्थितिकी (ecology) तथा सृष्टि (cosmos) से भी संबंध रखता है। गांधीजी ने पर्यावरण के लिए चिंता व्यक्त की थी। उनका मानना था कि युद्ध केवल शक्ति अथवा क्षेत्र की आकांक्षा से नहीं लड़े जाते, अपितु विकास के तरीकों, जोकि प्रकृति व जीव की अवहेलना पर आधारित हैं, के कारण भी होते हैं। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक '*हिंद स्वराज*' में गांधीजी ने पाश्चात्य सभ्यता को प्रकृति व मानव जाति की शोषणकारी व्यवस्था बताया, जिसमें विकास का आधार है पृथ्वी के संसाधनों का अति-उपयोग, अति-उत्पादन तथा अति-उपभोग। ऐसी सभ्यता, जो व्यक्ति के स्वार्थी स्वभाव पर आधारित हो, अनैतिक अर्थशास्त्र व अनैतिक राजनीति को प्रोत्साहित करती है। एक शान्तिपूर्ण विश्व की स्थापना तभी हो सकती है जब व्यक्ति प्रकृति के साथ सामंजस्य से रहना सीख ले तथा समस्त जीव-जगत के प्रति मैत्री भाव रखे।

13.5.12 विकास प्रतिमान में सुधार

इसी प्रकार हमारे विकास प्रतिमानों को भी सुधार कर, मशीन-केन्द्रित से व्यक्ति-केन्द्रित बनाना होगा। बड़ी प्रौद्योगिकी व विशाल व्यापार विश्व के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। एक अहिंसात्मक समाज की ओर अग्रसर होने के लिए सही तकनीक की आवश्यकता है। गांधीजी का यह भी मानना था कि सैनिकवाद व केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था अपृथकरणीय हैं। केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था व बड़े कारखानों की आवश्यकता होती है - शक्तिशाली सेना व अस्त्र-शस्त्र, तथा अस्त्र-शस्त्रों को बनाने या खरीदने के लिए विशाल अर्थव्यवस्था ज़रूरी है। हम तब तक एक अहिंसावादी तथा शान्तिपूर्ण विश्व समाज नहीं बना सकते जब तक कारखानों की सभ्यता है। विकेन्द्रीकृत उत्पादन ही, जो अधिक रोज़गार दे सके तथा समाज के न्यूनतम स्तर के व्यक्तियों का शोषण न करे, अहिंसावादी व शान्ति की स्थापना कर सकता है।

13.5.13 आंतरिक मतभेदों को शान्त करना

गांधीजी का यह भी मानना था कि अपने स्वयं के समाज में मतभेदों को शान्त किए बिना, विश्व स्तर पर शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। एक राष्ट्र, जिसने आंतरिक शान्ति व सामंजस्य स्थापित कर लिया, उसे सैन्य शक्ति की सुरक्षा की आवश्यकता नहीं। अतः सामाजिक संबंधों को सुधारने के लिए सत्याग्रह व रचनात्मक कार्यों का प्रयोग किया जाना चाहिए। धार्मिक सहिष्णुता व समझ तथा जातीय एवं सामुदायिक मतभेदों का समाधान ही विश्व शान्ति की स्थापना में मुख्य रूप से महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं।

13.5.14 आर्थिक शोषण का अन्त

शस्त्रास्त्रों का अधिग्रहण व युद्ध, प्रायः आर्थिक व शोषणकारी तत्वों की देन है। अतः, गांधीजी के अनुसार वास्तविक शान्ति तब तक संभव नहीं है जब तक कि राष्ट्र एक–दूसरे का शोषण करना बन्द नहीं करते। एक शान्तिप्रिय राष्ट्र अपने पड़ोसी राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं में सहायता एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का समाधान कर सकता है।

13.5.15 शान्ति प्रक्रिया में जन-भागीदारी

गांधीजी का मानना था कि शान्ति की स्थापना, राजनयिक कार्यवाहियों से नहीं अपितु समाज के प्रत्येक स्तर पर व्यक्तियों व समूहों की भागीदारी से संभव है। गांधीवादी विचारधारा में, ऊपर के बजाय नीचे से शान्ति की स्थापना एक महत्वपूर्ण स्तंभ है। अतः शान्ति प्रक्रिया में समाज के सभी घटकों - सामान्य पुरुष एवं नारी, अव्यस्क, युवा, नागरिक समाज संस्थाएँ तथा शिक्षा संस्थाएँ आदि–को शामिल किया जाना चाहिए।

13.6 शान्ति के गांधीवादी उपागम का आलोचनात्मक मूल्यांकन

गांधीजी की शान्ति की परिकल्पना व विचार आलोचकों द्वारा स्वप्नदर्शी, आदर्शवादी, असंगत व विरोधाभासी बताए गए हैं। चूँकि युद्ध के संबंध में गांधी ने अपने विचार व स्थिति अनेक बार बदली, इसलिए आलोचक उनके विचारों को असंगतिपूर्ण एवं अविश्वसनीय ठहराते हैं। उनका शान्तिवाद, विशेषकर अंग्रेज़ों के समर्थन में प्रथम विश्व युद्ध में भाग लेने, तथा स्वतंत्रता के तुरंत बाद अंग्रेज़ों का समर्थन, पाश्चात्य विचारकों द्वारा पूर्ण शान्तिवाद के मानकों से कहीं मेल नहीं खाता।

आलोचक गांधीजी के अहिंसा दर्शन पर नैतिक तथा व्यावहारिक प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनका कहना है कि गांधीवाद में कुछ परिस्थिति में एक हिंसात्मक क्रिया भी नैतिक हो जाती है। साधन और साध्य के बीच संबंध अत्यधिक जटिल है। साधन और साध्यों को उनके विस्तृत संदर्भ में समझना है। गांधीवादी उपागम की एक सीमा यह भी है कि उसकी सफलता शासक वर्ग के द्वारा न्याय तथा शान्ति का मार्ग अपनाने

पर निर्भर करती है। यह विचारधारा राज्य के हितों को व्यक्ति के हितों से परे रखती है। कुछ विद्वानों के अनुसार गांधीजी ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत की जटिलता को पूर्ण रूप से नहीं जाना और न ही विश्व शान्ति की कोई ठोस व व्यावहारिक योजना ही दी। आलोचकों की गांधीजी को नागरिक सुरक्षा तथा अहिंसात्मक प्रतिरोध की व्यावहारिक वैधता पर भी संदेह है।

तथापि, गांधीजी एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके योगदान का आकलन उनके द्वारा उठाए कदमों व कार्यों से किया जाना चाहिए, न कि उन्होंने विश्व शान्ति के संबंध में क्या लिखा, उससे। वे कोई हठधर्मी विचारक नहीं थे, बल्कि नई परिस्थितियों तथा परिवेश में अपने विचारों में संशोधन करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। गांधीजी का मानना था कि उनका ध्येय अपने विचारों को संगत ठहराना नहीं, बल्कि उन्हें नई परिस्थिति और सत्य के अनुसार ढालना है।

गांधीजी की अहिंसात्मक विचारधारा उन्हें शान्ति का एक दूरदर्शी, संवेदनशील व अनुबोधक वक्ता साबित करती है। उन्होंने शान्ति की एक लचीली व गतिशील परिभाषा दी जिसमें शान्ति, भलाई की उपलब्धि का उत्तम साधन तो है, किन्तु एकमात्र नहीं। आधुनिक शान्ति शोधकर्ता, जिन्होंने हिंसा के संरचनात्मक तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विचारों पर अपना योगदान दिया है, गांधीजी के योगदान को शान्ति पर मौलिक शोध मानते हैं। संरचनात्मक हिंसा की अवधारणा, शोषण के सामाजिक संबंध की उपज है।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर गांधीजी के विचारों पर असंगति व अव्यवस्था होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि गांधीजी ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को एक शक्तिशाली नैतिक प्रवाह दिया तथा विश्व स्तर पर न्याय की बात की। सत्याग्रह में गांधीजी ने युद्ध का एक नैतिक विकल्प दिया। उनका यह विचार कि उत्तरदायी राष्ट्रवाद शान्ति स्थापना में सहायक होता है, शान्तिवाद की परम्परावादी अवधारणा में नए आयाम जोड़ता है। गांधीजी ने अफ्रीका व भारत में स्वयं यह सिद्ध कर दिया कि क्रियाशील शान्तिवाद, समाज में व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, एक प्रभावकारी शक्ति हो सकता है।

13.7 सारांश

गांधीवादी विचारधारा में आध्यात्मिक व सामाजिक सिद्धान्त, धार्मिक मूल्य व राजनीतिक योजना समायोजित है। राजनीतिक से नैतिक व भौतिकवाद से आध्यात्मिकवाद गांधीजी के विचारों में सर्वोपरि है। उन्होंने पूर्ण सत्य को अमिट ध्येय माना तथा अहिंसा को उसे पाने का उत्तम साधन। यह मानते हुए कि साधन व साध्य को अलग नहीं किया जा सकता, गांधीजी ने अन्याय व शोषण से लड़ने का एक अहिंसात्मक साधन, सत्याग्रह दिया। जैसा कि हमने देखा - सत्याग्रह प्रत्येक परिस्थिति में लागू किया जा सकता है: व्यक्तिगत से समूह संबंध, देशीय से अन्तरदेशीय संबंध, व सूक्ष्म से व्यापक समस्या तक।

गांधीजी का दावा था कि उनका जीवन सत्य एवं अहिंसा की एक कार्यशाला है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में इसकी पुनर्व्याख्या आने वाली पारिस्थिति व सत्य के अनुसार की जा सकती है। उनकी तकनीक व व्यक्तिगत उदाहरणों को, आज के अन्तर्राष्ट्रीय समाज के समक्ष अनेक चुनौतियों को सम्बोधित करने में किया जा सकता है। आज मानवता आतंकवाद, मानव अधिकारों का हनन, धार्मिक असहिष्णुता, निर्धनता, पर्यावरणीय विक्षति इत्यादि अनेक समस्याओं से जूझ रही है। इस संदर्भ में गांधीवादी सिद्धान्त, सत्य, प्रेम व अहिंसा पर आधारित विश्व में न्याय व भलाई की उपलब्धि एक व्यावहारिक विचार प्रतीत होता है।

आज के जगत में, जीवन के प्रत्येक स्तर व प्रत्येक क्षेत्र में अभौतिकवादी व अहिंसात्मक विकल्पों पर शोध कार्य चल रहा है। भले ही ये गांधीजी के नाम से न जाना जाएँ, किंतु उन मूल्यों को प्रोत्साहन अवश्य

NMDC-288

मिल रहा है जिनके लिए गांधीजी ने अपने जीवन का बलिदान दिया। आज के जगत में गांधीवादी अहिंसा की अवधारणा का महत्व आश्चर्यजनक रूप से बढ़ रहा है। अहिंसात्मक पहल की असफलता को गांधीवादी उपागम की असफलता नहीं कहा जा सकता, बल्कि इससे यह संकेत मिलता है कि हिंसा के जगत में अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग ज्यादा निष्ठापूर्वक करना होगा।

13.8 अभ्यास प्रश्न

1) गांधीजी के युद्ध संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

2) सत्याग्रह के उद्देश्य व लक्षणों का परीक्षण कीजिए।

3) गांधीजी का अहिंसात्मक उपागम शान्तिवाद से किस प्रकार भिन्न है?

4) अहिंसात्मक राज्यों के लिए गांधीजी द्वारा किन मुख्य कार्यों का सुझाव दिया गया है?

5) परमाणु अस्त्रों पर गांधीजी के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

6) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं पर गांधीजी के क्या विचार हैं?

इकाई 14 मानव-सुरक्षा

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 मानव-सुरक्षा संबंधी पूर्ववर्ती चिंताएँ

14.3 मानव-सुरक्षा संबंधी चिंताओं को परिभाषित करना

14.4 मानव-सुरक्षा के अध्ययन के उपागम

14.5 व्यावहारिक रूप से मानव-सुरक्षा के समक्ष चुनौतियाँ

14.6 मानव-सुरक्षा को सुनिश्चित करना

14.7 सारांश

14.8 अभ्यास प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

लम्बे समय से, सुरक्षा की आवश्यकता की अत्यंत संकीर्ण व्याख्या की जाती रही है, जैसेः बाहरी आक्रमण से (देश के) क्षेत्र की सुरक्षा, या विदेश नीति से राष्ट्रीय हितों की रक्षा, या नाभिकीय (परमाणु) सर्वनाश के ख़तरे से भूमंडल की सुरक्षा आदि। इसका संबंध, जन की अपेक्षा राष्ट्र-राज्यों के हितों से अधिक रहा है। इस प्रक्रिया में, जन-साधारण की वैध चिंताओं तथा उनके दैनिक जीवन से जुड़ी हुई वैयक्तिक सुरक्षा (जैसे, रोगों, भूख, बेरोज़गारी, अपराध, सामाजिक-संघर्ष, राजनीतिक-दमन एवं पर्यावरणीय निम्नीकरण (क्षति) आदि) की तलाश की प्रायः उपेक्षा होती रही है।

शीत युद्ध के बाद के समय में उत्तरोत्तर रूप से यह प्रमाणित होता रहा है कि बहुत से संघर्ष और उनके जन्म के कारण, राष्ट्रों की आंतरिक दशाओं से जुड़े रहे हैं; विभिन्न राष्ट्रों के हितों की टकराहट से जुड़े हुए नहीं। अधिकतर लोगों में असुरक्षा की भावना किसी अन्य राष्ट्र द्वारा किए गए सैन्य-आक्रमण जैसी पारम्परिक-सुरक्षा-चिंता-दृष्टि से संबद्ध नहीं होती वरन् दैनिक जीवन-संदर्भों में अपनी उत्तरजीवितता, आत्म-संरक्षण एवं कल्याण से अधिक जुड़ी होती हैं। संयुक्त राष्ट्र-विकास-कार्यक्रम (United Nations Development Programme – UNDP) ने 1994 के अपने मानव-विकास-प्रतिवेदन में सुरक्षा के इस आयाम का सर्वप्रथम उल्लेख किया था जिसे 'मानव-सुरक्षा' नाम दिया गया। तभी से मानव-सुरक्षा की आवश्यकता ने विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर विश्व का ध्यान आकर्षित किया है। यद्यपि इस तथ्य पर व्यापक सहमति है कि मानव-उत्तरजीविता, मानव-कल्याण एवं मानव-स्वतंत्रता जैसे विषय मानव-सुरक्षा के सर्वोच्च तत्व हैं, फिर भी, इस आवश्यकता (मानव-सुरक्षा) का स्पष्ट अभिप्राय अभी तक उभरकर नहीं आया है। 'मानव-सुरक्षा' का प्रयोग, विभिन्न प्रसंगों में, वर्तमान या भावी विशिष्ट कार्य दिशाओं को संगत ठहराने के लिए किया जाता है।

14.2 मानव-सुरक्षा संबंधी पूर्ववर्ती चिंताएँ

'सुरक्षा' से अभिप्राय, प्रसंग एवं काल के अनुरूप, समय-समय पर बदलते रहे हैं। 1930 के आसपास अमेरिका की राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी सोच, आर्थिक सुरक्षा पर केन्द्रित थी जो शीत युद्ध के युग में सैन्य-

NMDC-288

सुरक्षा के अर्थ में परिवर्तित हो गई। 1960-70 के दशक के उत्तरार्द्ध में, विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष रॉबर्ट मैक्नमारा ने सुरक्षा का अभिप्राय 'सैन्य-सुरक्षा की अपेक्षा कुछ अधिक' घोषित किया था। 1970 तथा 1980 के दशकों में सुरक्षा की आवश्यकता के निर्माण का कार्य, विश्व के विकसित एवं विकासशील, दोनों भागों में धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। यूरोप में, हेलसिंकी प्रक्रिया तथा व्यापक सुरक्षा के विचार ने धीरे-धीरे जड़े जमाना प्रारंभ किया। अफ्रीका में अग्रिम पंक्ति के राज्यों (Front Line States - FLS) ने सुरक्षा संबंधी कार्यसूची में क्रमशः आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा को अधिक से अधिक शामिल करना प्रारंभ कर दिया, जबकि प्रारंभ में उनकी इसी कार्यसूची में रंगभेद-विरोध तथा दक्षिण अफ्रीकी-सैन्य-अस्थिरता के मुद्दे ही शामिल थे। अंग्रिम पंक्ति के राज्यों ने 1980 में दक्षिण-अफ्रीकी-विकास-समन्वय-सम्मेलन (Southern African Development Coordination Conference – SADCC, जिसे अब दक्षिण-अफ्रीकी-विकास-समुदाय - Southern African Development Community – SADC कहा जाता है) की स्थापना की जो सुरक्षा एवं विकास के बीच कड़ी के रूप में दिखाई पड़ती है। 'सुरक्षा' का वह अर्थ जिसमें 'धमकी (ख़तरे) से मुक्ति' की अनिवार्यता मानी जाती थी अब भी बदली नहीं है।

अतः सुरक्षा की समसामयिक आवश्यकता भी जिसमें उसे बहुआयामी तथा जनोन्मुखता का लक्ष्य रखने वाली माना जाता है; फुकूयामा (Fukuyama) $5 अनुसार, आवश्यक रूप से 'सुरक्षा के अंत' का संकेत नहीं देती वरन् समय बदलने पर युग एवं प्रसंग के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित हो सकती है।

भले ही "मानव-सुरक्षा" पद का प्रयोग नया सही किन्तु इस आवश्यकता के आधारभूत विचार नए नहीं हैं। एक शताब्दी से कहीं अधिक समय से - कम से कम 1860 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय रेड क्रॉस सोसायटी की स्थापना के समय से - जन-सुरक्षा पर आधारित सिद्धान्त बल प्राप्त करता रहा है। उस सिद्धान्त के मूल तत्व 1940 में संयुक्त राष्ट्र-घोषणापत्र, विश्व-मानवाधिकार-घोषणा, 1948 (Universal Declaration of Human Rights) एवं जिनेवा सम्मेलनों में सूत्रबद्ध किए जाते रहे थे।

विशिष्ट पद "मानव-सुरक्षा" के प्रयोग का संबंध 1994 के मानव-विकास-प्रतिवेदन के साथ जोड़ा जाता है। संयुक्त राष्ट्र-विकास-कार्यक्रम द्वारा प्रकाशित यह प्रतिवेदन, शीतयुद्ध के बाद शान्ति का लाभ प्राप्त करने तथा मुक्त किए गए संसाधनों को विकास की कार्यसूची की ओर मोड़ने वाले प्रयत्न था।

मानव-सुरक्षा की आवश्यकता, गत चार वर्षों में हिंसक संघर्षों पर बलि चढ़ी मानवीय (जान-माल की) कीमत पर अधिकाधिक केन्द्रित होती गई है। यहाँ व्यवहार में सिद्धान्त का नेतृत्व किया है। विशेष रूप से, दो पहलों, बारुदी सुरंगों पर प्रतिबंध लगाने के अभियान तथा अन्तर्राष्ट्रीय दंड न्यायालय के निर्माण के प्रयत्न ने सुरक्षा के प्रति जन-केन्द्रित उपागम की संभावित शक्ति का निदर्शन किया है।

14.3 मानव-सुरक्षा संबंधी चिंताओं को परिभाषित करना

तात्विक रूप में मानव-सुरक्षा का अर्थ होता है – हिंसक एवं अहिंसक, दोनों प्रकार के ख़तरों से लोगों की रक्षा। यह लोगों के अधिकारों, उनके संरक्षण और उनके जीवन के समक्ष उपस्थित व्यापक ख़तरों से मुक्ति की दशा के रूप में जानी जाती है। विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में, मानव-सुरक्षा, संभवतः, संदर्श या अनुस्थापन के परिवर्तन के रूप में सबसे अच्छी तरह समझी जा सकती है। इसमें मात्र राज्य-क्षेत्र या सरकारों पर ध्यान केन्द्रित न करके, जनता को संदर्भ के केन्द्र में रखा जाता है और इसी अर्थ में यह विश्व को देखने की एक वैकल्पिक विधि होती है। सुरक्षा संबंधी अन्य आवश्यकताओं, जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा, आर्थिक सुरक्षा तथा खाद्य सुरक्षा आदि की भाँति ही यह (मानव-सुरक्षा) भी संरक्षण से संबंधित होती है। मानव-सुरक्षा में असुरक्षा एवं ख़तरे को कम करने के उपायों तथा उनके उपचार की कार्रवाई को सुनिश्चित किया जाता है।

मानव-सुरक्षा; जापान एवं कनाडा जैसे औद्योगिक राष्ट्रों की विदेश नीति के बड़े महत्वपूर्ण विषय के रूप में उभरी है। 1998 में, जापान के तत्कालीन प्रधानमंत्री, कीज़ो ओबक (Keizo Obuch), ने संयुक्त राष्ट्र में मानव-सुरक्षा-निधि जैसी संस्था की घोषणा की थी जिससे इस क्षेत्र में सरकारों, अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों तथा ग़ैर-सरकारी संगठनों के समन्वय को समर्थन प्रदान किया जा सके। कनाडा ने, मानवाधिकारों एवं मानवीय हस्तक्षेप के मुद्दों पर मानव-सुरक्षा को राष्ट्रीय संप्रभुता से ऊपर रखा है तथा मानवाधिकारों के घोर अतिक्रमण या मानवता के विरुद्ध गृह युद्ध से संयुक्त अपराधों या अंतरजातीय शत्रुताओं के मामलों में दंडारोपण अथवा मानवीय हस्तक्षेप के लिए सैन्य शक्ति के उपयोग तक की अनदेखी की है।

संयुक्त राष्ट्र के स्तर पर, संयुक्त राष्ट्र महासचिव कोफ़ी अन्नान ने, अपने सहस्राब्दि-प्रतिवेदन में कहा था कि यद्यपि पारम्परिक रूप से सुरक्षा नीति विदेशी आक्रमण से राज्य क्षेत्र की रक्षा करने पर केन्द्रित रही है किन्तु अब "आंतरिक हिंसा से समुदायों एवं व्यक्तियों को संरक्षण देने" की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है।

कोफ़ी अन्नान, सदको ओगाटा (Sadako Ogata), लॉथड ऐक्सवर्दी (Lloyd Axworthy) तथा अन्य लोगों ने यही कहा है कि सुरक्षा नीति का ज़ोर मूल रूप से राज्य की राजनीतिक तथा क्षेत्रीय अखंडता के बजाय लोगों की सुरक्षा पर होना चाहिए। उन्होंने "मानव-सुरक्षा" की आवश्यकता का केन्द्र बिन्दु इसी विचार को माना है। यही विचार सुरक्षा तंत्र की स्थापना के सिद्धान्तों में से भी एक सिद्धान्त है। फिर भी, सुरक्षा संबंधी परम्परागत सोच पर उक्त आवश्यकता के व्यापक प्रभाव को मान्यता प्राप्त होना अभी बाकी है।

सुरक्षा तंत्र, तेरह (13) देशों का अंतरर्क्षेत्रीय समुदाय है जिसमें कनाडा, चिली, ग्रीस, आयरलैंड, जोर्डन, माली, नीदरलैंड, नॉर्वे, स्लोवेनिया, स्विटज़रलैंड, थाईलैंड, ऑस्ट्रिया (सभी सदस्य) तथा दक्षिण अफ्रीका (प्रेक्षक के रूप में) सम्मिलित हैं। इसका आविर्भाव 1999 में बारूदी सुरंगों के अभियान से हुआ था। इसके बोध के अनुसार, 'हमारी दृष्टि में एक ऐसा मानवीय संसार है जहाँ लोग, हिंसक ख़तरों, ग़रीबी तथा निराशा से मुक्त रहकर सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा के साथ जी सकें।' सारांशतः यह समुदाय, भय तथा अभाव से मुक्ति के लिए संघर्ष करता है। इसके दायरे में एक छोर पर मानव-संघर्षों, प्राकृतिक एवं मनुष्यकृत विनाशों से लेकर दूसरे छोर पर ग़रीबी, उपेक्षा, पक्षपात एवं रोग तक से उद्भूत ख़तरों का विस्तृत प्रतिबिम्ब-क्रम सम्मिलित होता है। इस दृष्टिकोण से, आज के युग में बच्चों का संरक्षण, छोटे एवं हल्के हथियारों पर नियंत्रण, मानव विरोधी बारूदी सुरंगों पर ओटावा समझौते का भूमंडलीकरण, एच.आई.वी./एड्स के विरुद्ध संघर्ष, अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय कानून एवं युद्ध विरोध जैसे विभिन्न किन्तु वस्तुतः एक–दूसरे से संबद्ध विषयों पर विचार एवं कार्य किया जाता है।

मानव-सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा से संबंधित आज के उपागमों का ही तार्किक विस्तार है। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र में यह विचार सम्मिलित किया गया है कि कोई भी राज्य अकेले सुरक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। पदबंध, "आंतरिक शान्ति एवं सुरक्षा" का अर्थ है कि एक राज्य की सुरक्षा दूसरे राज्यों की सुरक्षा पर निर्भर होती है। इसी तर्क के आधार यह पर मानव-सुरक्षा का संदर्भ यहाँ ठहरता है कि संसार के एक भाग के लोगों की सुरक्षा, दूसरे भागों के लोगों की सुरक्षा पर निर्भर होती है। सुरक्षित एवं स्थायी विश्व-व्यवस्था का निर्माण, दोनों ओर (ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर) से होता है। राज्यों की सुरक्षा तथा आंतरिक शान्ति एवं सुरक्षा का रखरखाव अंततः उन लोगों की आधारशिला पर ही निर्मित होता है जो सुरक्षित हों।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United Nations Development Programrnme – UNDP) के अनुसार, 'मानव-सुरक्षा का भूमंडलीय महत्व होता है; मानव-सुरक्षा के घटक अन्योन्याश्रित होते हैं; मानव-सुरक्षा को प्रारंभिक निवारण के द्वारा सुनिश्चित किया जा सकता है तथा मानव-सुरक्षा जन-केन्द्रित होती है।'

NMDC-288

प्रतिवेदन में बताई गई परिभाषा अत्यधिक भव्य (महत्वाकांक्षामय) थी। मानव-सुरक्षा को आर्थिक, खाद्य-संबंधी, स्वास्थ्य संबंधी, पर्यावरणीय, वैयक्तिक, सामुदायिक एवं राजनीतिक, सुरक्षा के इन सात सुव्यक्त आयामों के योगफल के रूप में परिभाषित किया गया था। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम ने सुरक्षा के शीतयुद्धोत्तर चिंतन में, जन को केन्द्र में रखकर तथा ग़ैर-पारम्परिक ख़तरों को रेखांकित करके महत्वपूर्ण योगदान किया है।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के उपागम की व्यापकता ने उसे एक नीति-उपकरण के रूप में अनुपयुक्त सिद्ध किया है। यह भी समान रूप से महत्वपूर्ण है कि अल्प विकास से संबद्ध ख़तरों पर अधिक ज़ोर देते हुए उक्त प्रतिवेदन में हिंसक संघर्षजन्य मानवीय असुरक्षा की निरंतरता की उपेक्षा की गई है। फिर भी संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम को अपनी कसौटी के अनुसार युद्ध के समय में, मानवीय असुरक्षा सबसे अधिक होती है। 1998 के मानव-विकास-सूचकांक के 25 निम्नतम देशों में आधे से अधिक, उस समय हिंसक संघर्षों के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव से पीड़ित थे।

सामाजिक विकास के कोपेनहेगेन शिखर सम्मेलन (1995) के प्रारंभिक चरणों में मानव-सुरक्षा की संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा दी गई परिभाषा को मूल आवश्यकता के रूप में प्रस्तावित किया गया था। उस परिभाषा में सुरक्षा के सात आयामों; आर्थिक, खाद्य संबंधी, स्वास्थ्य संबंधी, पर्यावरणीय, वैयक्तिक, सामुदायिक एवं राजनीतिक को सम्मिलित किया गया था। किन्तु उक्त शिखर-सम्मेलन में इसे अस्वीकृत किया गया और उसके बाद उस प्रस्ताव की अभिव्याप्ति के कारण इसको उपयोग में नहीं लाया गया।

मानव-सुरक्षा-चिंताओं में सभी लोगों की संदर्भ-पात्र मानकर उनका विशद रूप से अध्ययन करने और उन्हें लागू करने के लिए उनमें एक और आयाम जोड़ते हुए हीडी हडसन सुरक्षा की तिहरी 'प्रकृति' की ओर संकेत करता है। वह इस तथ्य का संदर्भ देता है कि सुरक्षा में महिलाओं (की सुरक्षा) को शामिल करने की आवश्यकता है। यह भी एक सुरक्षा में अफ्रीकी महिलाओं की सुरक्षा के समावेश की सुरक्षा इसलिए है कि उसका अब तक कोई समाधान नहीं हुआ जबकि सवैतनिक या भरण-पोषण संबंधी गतिविधियों से संबंधित उत्पादन का बड़ा भाग उन्हीं (अफ्रीकी महिलाओं) पर निर्भर होता है। अधिक एवं सामाजिक सुरक्षा तथा आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों आदि में महिलाओं तथा उनकी समस्या एवं स्थिति एवं आवश्यकताओं को व्यापक सुरक्षा मिलनी चाहिए।

हैडसन की सुरक्षा-चिंता का दूसरा पक्ष उसकी प्रतिभागिता संबंधी प्रकृति के इर्द-गिर्द घूमता है। मात्र यही सही नहीं है कि महिलाओं को सुरक्षा मिलनी चाहिए वरन् महिलाओं को भी सुरक्षा अभिकरणों के रूप में (सुरक्षा कार्य में) भागीदारी करनी चाहिए। उन्हें निर्णयकारी पदों पर प्रतिनिधित्व देकर उनसे सुरक्षा के स्थापन एवं पोषण की दिशा में पहल कराई जानी चाहिए। हडसन ने विवादों के संरचनात्मक हल प्रदान करने वाले अफ्रीकी केन्द्र (African Centre for the Constructive Resolution of Disputes - ACCORD) द्वारा आयोजित शान्ति निर्वहण परियोजनाओं में महिलाओं की कम भागीदारी का उल्लेख किया है। उसने इस बहस को पुनर्जीवित करने पर बल दिया है कि भविष्य में दक्षिणी अफ्रीका को सुरक्षित एवं समृद्ध बनाने की योजनाओं में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी बढ़ाने के लिए नियतांश (कोटर) पद्धति लागू की जानी चाहिए या नहीं?

हैडसन के कार्य से निस्सृत तीसरा पक्ष यह तथ्य है कि मात्र सुरक्षा की आवश्यकता समझाना अथवा सच्चे ग से उसके सिद्धान्तों के अनुरूप कार्य करना ही पर्याप्त नहीं है। हडसन ने "कलहपूर्ण पवित्रतावाद" fractious holism) पद का प्रयोग किया है जिसका मंतव्य यह है कि मानव-सुरक्षा, अपने आपमें अखंड नही है वरन उसके अवयव युग, संदर्भ और लिंग के अनुरूप बदलते रह सकते हैं। नीति की दृष्टि से इसमें सुरक्षा के नए अनुप्रयोग की आवश्यकता की माँग रहती है।

NMDC-288
UGSPS-01/189

विकास के परिप्रेक्ष्य में सुरक्षा की आवश्यकता का विश्लेषण करते हुए प्रो. मेरी मुलर ने विकास, सहायता, सुरक्षा तथा 'अधिकार पद्धतियों' (entitlement systems) के बीच एक अत्यंत रुचिकर एवं महत्वपूर्ण कड़ी को प्रस्तुत किया है जिससे समानता के विचारों को समर्थन मिलता है और जो हडसन के "कलहपूर्ण पवित्रतावाद" की ओर ले जाती है। मुलर के विचार से 'सुरक्षा' तत्वतः समानता के लिए ही होती है। संभवतः यह कहना अधिक सही होगा कि सुरक्षा मूलतः समानता की अपेक्षा साम्य 'निष्पक्षता' के निकटतर है। आवश्यकताएँ, अपेक्षाओं, स्थूल दशाओं और अनुभवों से संबंधित होती हैं। हर किसी को समान स्तर की सुरक्षा की न तो आवश्यकता होती है और न इच्छा, किन्तु सुरक्षा का वितरण साम्य स्तर पर (निष्पक्षता के साथ) किए जाने की आवश्यकता होती है। विकास, विकल्पों के अनुरूप होता है। अधिक सही शब्दों में कहें तो विकास, व्यापक विकल्पों के अनुरूप होता है और सुरक्षा उस परिवेश को प्रदान करती है जिसमें इन विकल्पों का प्रयोग सुलभ (निरापद) रूप से किया जा सके। सुरक्षा एवं विकास के उपलब्ध एवं अनुरक्षणीय स्तर, स्थान एवं समय या युग एवं प्रसंग पर आश्रित होते हैं। यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्र के पूर्व महासचिव बुतरस घाली (Boutros-Ghali) ने विकास की आवश्यकता को शान्ति स्थापना के भाग के रूप में; या दूसरे शब्दों में संघर्ष से भरे हुए क्षेत्रों में सुरक्षा की सोच को समाविष्ट करने पर ज़ोर दिया है।

मानव-सुरक्षा के उपर्युक्त उद्धृत विचारों के आधार पर सर्व -समावेशी होने के कारण, सुरक्षा की गत्यात्मक एवं व्यापक आवश्यकता के निरर्थक हो जाने का ख़तरा बना रहता है। अलग-अलग लोगों के लिए इसके अर्थ अलग-अलग हो जाते हैं। हर व्यक्ति के पास, मानव-सुरक्षा में शामिल करने के लिए अपनी विषय - वस्तु होती है और अपने ही प्रसंग होते हैं। समीक्षक, उन पारिभाषिक प्रतिबंधों की ओर संकेत करते हैं जिनसे आवश्यकता के ऊपर आरोपित मानव-सुरक्षा के उपायों को आँकने का प्रयत्न किया जाता है। वे संभावित मापन अशुद्धियों तथा अपर्याप्त तथ्यों (आँकड़ों) पर निर्भरता की ओर ठीक ही संकेत करते हैं।

यहाँ चार मापन-ढाँचे उल्लेखनीय हैं जो अधिक वैज्ञानिक ढंग से इस आवश्यकता को परिभाषित करते हैं। इनमें से प्रत्येक ढाँचा, मानव-सुरक्षा कार्यसूची की 'भय-मुक्ति' जैसी संकीर्ण असुरक्षा-श्रेणी से लेकर 'अभाव-मुक्ति' जैसी व्यापक असुरक्षा-श्रेणी तक के लिए एक विशिष्ट उपागम का प्रयोग करता है। चार ढाँचे निम्नलिखित हैं:

1) ग्रेकिंग का सामान्यीकृत, दरिद्रता-मापन-सिद्धान्त - जिसमें आय, स्वास्थ्य, राजनीतिक स्वतंत्रता, लोकतंत्र एवं शिक्षा शामिल हैं।

2) कान्ति वाजपेयी कृत मानव-सुरक्षा-लेखा परीक्षण में वैयक्तिक स्तर के 'प्रत्यक्ष' एवं 'परोक्ष' ख़तरों की सर्व–समावेशी सूची सम्मिलित की गई है।

3) मानव-असुरक्षा केन्द्रों का जी.ई.सी.एच.एस. सूचकांक - जिसमें सुरक्षा के सामाजिक, पर्यावरणीय, आर्थिक एवं संस्थागत अनुक्षेत्र सम्मिलित हैं। इनमें से प्रत्येक के चार संकेतक होते हैं जो 'मानव-असुरक्षा-सूचकांक' के चरम बिन्दु में प्रतिष्ठित होते हैं।

4) मानव-सुरक्षा-प्रतिवेदन में आपराधिक हिंसा तथा सशस्त्र संघर्षों के आँकड़ों से प्राप्त मृत्यु-संख्या पर ज़ोर दिया गया है।

मानव-सुरक्षा-मापन की प्रत्येक कार्य प्रणाली स्पष्ट रूप से, मानव-सुरक्षा की अलग धारणा के मापन (आकलन) का प्रयत्न करती है। हर मामले में, संकेतक-चयन तथा समुच्चयन सहित, मापन प्रणाली का अनुमान, उपयोग में लाए गए मानव-सुरक्षा-उपागम के आधार पर लगाया जाता है। जहाँ तक साध्यता का प्रश्न है, मानव-सुरक्षा की जितनी व्यापक परिभाषा उपयोग में लाई जाती है, कार्य प्रणाली उतनी ही

कम साध्य हो जाती है। तदनुसार, भले ही हिंसा संबंधी तथ्यों के आँकड़े अविश्वसनीय हों, मानव-सुरक्षा प्रतिवेदन की कार्य प्रणाली सर्वाधिक साध्य प्रतीत होती है।

यहाँ इस ओर संकेत करना उपयुक्त होगा कि मानव-सुरक्षा प्रतिवेदन द्वारा हिंसा के आँकड़ों पर अत्यधिक भरोसे के संकीर्ण आधार पर किए गए मापन की अपेक्षा मानव-सुरक्षा के मापन का बेहतर तरीका हो सकता है। मानव-सुरक्षा का अधिक व्यापक अनुमान, अधिक शुद्धता के साथ तभी लगाया जा सकता है जबकि रोगों या प्राकृतिक आपदाओं से होने वाली मौतों की संख्या को भी मानव-सुरक्षा प्रतिवेदन के आपराधिक हिंसा एवं संशस्त्र संघर्षों से हुई मृत्यु संख्या के संकेतकों में जोड़ दिया जाए।

मानव-सुरक्षा की आवश्यकता को समझने के लिए हम निम्नलिखित चार क्षेत्रों की पहचान कर सकते हैं जिन्हें मानव-सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए प्रमुखता प्राप्त होती है:

1) मानव-विकास के समक्ष दरिद्रता तथा विकासहीनता जन्य ख़तरे।

2) मानव-विकास के समक्ष बारूदी सुरंगों, छोटे हथियारों तथा हल्के आयुधों द्वारा उत्पन्न ख़तरे।

3) मानव-विकास को नशीली दवाओं, स्त्रियों और बच्चों के व्यापार (क्रय-विक्रय) के कारण पहुँची क्षति; तथा

4) मानवाधिकारों के उल्लंघन द्वारा मानव-सुरक्षा को ज़ोखिम में डाला जाना।

मानव-सुरक्षा के इन पहलुओं के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक आयाम हैं और ये इस विषय पर एकीकृत नीति को तैयार करने में सहायक हो सकते हैं।

14.4 मानव-सुरक्षा के अध्ययन के उपागम

एक शैक्षिक व्यवहार के रूप में इस विषय (मानव-सुरक्षा) पर आगे विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस आवश्यकता के सैद्धान्तिक पक्ष पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा। सुरक्षा संबंधी प्रमुख अध्ययनों में आज भी मुख्य रूप से यह माना जाता है कि सशस्त्र संघर्षों का जन्म संप्रभु राज्यों द्वारा अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप होता है जबकि पारम्परिक राजनय या सफल सैन्य-निवारण का मूल उद्देश्य ऐसे संघर्षों को रोकने का प्रयत्न होता है। इस परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि शान्ति की रक्षा, युद्ध की तैयारियों के द्वारा ही हो पाती है।

विश्व-सुरक्षा की इस त्याज्य सैद्धान्तिक परिकल्पना के विरुद्ध, आंतरिक संबंधों के दो प्रमुख समसामयिक सिद्धान्त हैं जिनमें मानव-सुरक्षा को रखा जा सकता है। सातत्यक के एक सिरे पर उपागम के रूप में नव्य यथार्थवादी सैद्धान्तिक ढाँचा होता है जिसमें मानव-सुरक्षा की व्यापक संकल्पना में राज्य की प्रमुखता पर लगातार ज़ोर दिया जाता है। कुछ लोग इसे 'सुरक्षा संबंधी नई सोच' कहते हैं। सुरक्षा प्रोक्ति (चर्चा) के दूसरे सिरे पर उत्तर आधुनिकतावादी या 'क्रान्तिक मानव-सुरक्षा' उपागम को रखा जाता है जिसकी जड़ें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बहुलतावादी सिद्धान्त में होती हैं। यह उपागम परिकल्पनाओं के उस समुच्चय पर आधारित होता है जो राज्य को सुरक्षा के मूल संदर्भों की स्थिति से गिराने का प्रयत्न करता है और राज्येतर कारकों की अन्योन्याश्रितता तथा पारराष्ट्रीयकरण पर अधिक ज़ोर देता है।

मानव-सुरक्षा के नव्य यथार्थवादी या 'संरचनावादी' उपागम का समर्थन बेरी बुज़न ने अपने प्रारंभिक कार्य *'पीपल, स्टेट्स एंड फ़ीयर' (लोग, राज्य तथा भय)* में किया है। बुज़न का मत है कि सुरक्षा के प्रति शीतयुद्धकालीन 'अवरोधक' सैन्यवादी उपागम 'अल्पमति युक्त' था जिसके कारण सुरक्षा की आवश्यकता अल्पविकसित रही। कालान्तर में उसने सुरक्षा की आवश्यकता को अधिक व्यापक बनाया और उसमें सैन्य ख़तरों के साथ-साथ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा पर्यावरणीय ख़तरों को भी शामिल कर लिया।

यद्यपि, बुज़न सुरक्षा का परीक्षण तीन परिप्रेक्ष्यों – अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय, राज्य एवं व्यक्ति – के आधार पर करता है किन्तु निष्कर्ष के रूप में उसने सुरक्षा का सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली संभरक संप्रभु राज्य को ही माना है। उसका विश्लेषण, मानव-सुरक्षा के लिए उपलब्ध सबसे व्यापक, राज्य परिप्रेक्षीय समसामयिक परीक्षण है (जैसा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रसिद्ध युद्ध-लेखक क्लॉज़विच ने मूल रूप से प्रस्तावित किया था)।

कैन बूथ के कार्य में झलकते मानव-सुरक्षा के 'क्रांतिक' या उत्तर आधुनिकतावादी उपागम में भी सुरक्षा की व्यापक अवधारणा के मनःस्थापन का समर्थन है। उसे सैन्य कार्रवाई द्वारा ख़तरों के निर्धारण से ऊपर माना जाता है। किन्तु वह तथा उत्तर आधुनिकतावादी उपागम के अन्य समर्थक स्पष्ट रूप से इस बात पर बल देते हैं कि राज्य को (मानव) सुरक्षा के मूल संदर्भ के स्थान से हटाया जाना चाहिए तथा उसके स्थान पर राज्येतर कारकों की विस्तृत श्रृंखला, जैसे; व्यक्ति, जातीय एवं सांस्कृतिक समुदाय, क्षेत्रीय आर्थिक गुट, बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Corporations (MNCs), ग़ैर-सरकारी संगठन (Non-governmental Organisations – NGOs) तथा समस्त मानव जाति से संबंधित सब कुछ को सम्मिलित किया जाना चाहिए। सुरक्षा की आवश्यकता का समस्तरीय एवं ऊर्ध्व दिशा में विस्तार करते हुए बूथ का कथन है कि अंततः राज्य-सुरक्षा की अपेक्षा मानव सुरक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। दूसरे शब्दों में सुरक्षा का उत्तर आधुनिकतावादी अवधारणीकरण, राज्य-सुरक्षा और मानव-सुरक्षा को समान स्तर पर नहीं रखता। बूथ के मत से, राज्य अर्थात् सरकारों को सुरक्षा का मूल संदर्भ नहीं माना जा सकता क्योंकि जिन सरकारों को जनता का संरक्षक माना जाता है वे वस्तुतः उनकी संप्रभुता में रह रहे अनेक लोगों की उतनी असुरक्षा की मूल स्रोत सिद्ध होती हैं, जितनी असुरक्षा का कारण पड़ोसी देश की सशस्त्र सेनाएँ भी नहीं होती हैं। इस उपागम में इस विचार को ही चुनौती दी जाती है कि 'राज्य अपनी जनता को प्रभावी एवं समुचित सुरक्षा प्रदान करने वाला होता है।'

अत्यंत विशद होते हुए भी उक्त दोनों उपागम अंतर्निहित गतिरोधों से भरे हुए हैं। सुरक्षा के व्यापक ढाँचे में बुज़न का राज्य-केन्द्रित उपागम इस अर्थ में उपयोगी है कि वह नागरिकों की सुरक्षा के लिए राज्य को आवश्यक माध्यम मानता है। फिर भी, वह 'सबल' एवं 'दुर्बल' राज्यों की आवश्यकताओं को यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करता है कि 'वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय सुरक्षा में उत्कृष्टता लाने हेतु सबल राज्यों का सर्जन एक आवश्यक शर्त तो है किन्तु वह पर्याप्त नहीं है।' दूसरे शब्दो में, सबल राज्यों का अस्तित्व मात्र, सुरक्षा को सुनिश्चित नहीं करता किन्तु राज्यों की कमज़ोरी निश्चित रूप से उनके नागरिकों में असुरक्षा को जाग्रत करती एवं जीवित रखती है। इस संबंध में बुज़न, एक ओर तो सबल एवं दुर्बल राज्यों में अंतर को स्पष्ट करता है तथा दूसरी ओर सबल एवं दुर्बल शक्तियों को रेखांकित करता है। वह स्पष्ट करता है कि राज्य की सबलता का निर्धारण उसकी सामाजिक-राजनीतिक शक्ति के अंश से किया जाता है जबकि उसकी शक्तियों की सबलता का संबंध विभिन्न राज्यों की तुलनात्मक सैन्य एवं आर्थिक क्षमताओं के बीच रखकर किया जाता है। राज्य को मानव-सुरक्षा के रक्षक के रूप में मानने पर उक्त अंतर अत्यंत असंगत लगता है क्योंकि मानव-सुरक्षा के लिए एक सबल राज्य और सबल शक्ति, दोनों की ही आवश्यकता होती है। इकाई या सुरक्षा-संदर्भों के संबंध में किसी भी प्रकार के भ्रम का निराकरण करने के लिए, विशेषकों (सामाजिक-राजनीतिक संशक्ति तथा सैन्य एवं आर्थिक क्षमता) दुर्बल तथा सबल राज्यों के विशिष्ट अंतरों को एकत्र करना अधिक उपयुक्त है।

बुज़न मानते हैं कि प्रायः सभी दुर्बल राज्य दक्षिण या विकासशील विश्व में हैं जहाँ वे स्वयं को आर्थिक विकास एवं राजनीतिक शक्ति के ऐसे ऐतिहासिक प्रतिरूपों (साँचों) में फँसा हुआ पाते हैं जो उन्हें अल्पविकसित तथा सबल राज्य के निर्माण हेतु आवश्यक आर्थिक-राजनीतिक संसाधनों को जुटाने में असमर्थ रखते हैं। बुज़न ने इसे स्पष्ट नहीं किया कि दुर्बल शक्तियाँ एवं राज्य, किस प्रकार सबल हो सकते हैं। इसके बजाय वह तर्क देता है कि 'निरंतर वर्धमान अन्योन्याश्रित अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारीय

NMDC-288

अर्थव्यवस्था एक परिपक्त अराज़कता में योगदान करेगी जिससे अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की आशा बनेगी।' (टिकनर, 1995)

अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के कम महत्वपूर्ण राज्यों के लिए यह समस्यामूलक होगा; जो न केवल भीषण अल्पविकास से ग्रसित हैं वरन् अधिक निर्णायक रूप से, इतने कमज़ोर हैं कि अपनी आर्थिक सुरक्षा को एकीकृत या भूमंडलीकृत विश्व अर्थव्यवस्था की बाज़ारीय शक्तियों के समक्ष समर्पित कर रहे हैं।

रिचर्ड फॉक के अनुसार, जहाँ सुरक्षा के लिए असीम नए ख़तरे किसी एक राज्य के द्वारा अकेले हल नहीं किए जा सकते, वहीं राज्यों के अधिक्रमिक अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रीय समुदाय तथा भूमंडलीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा पोषित विषम विकास ने असहनीय स्थिति पैदा कर दी है। अमीरों की बढ़ती हुई सुरक्षा, ग़रीबों की सुरक्षा को निरंतर कम करती जा रही है।

रॉबर्ट गिल्पिन (Robert Gilpin) की परिभाषा के अनुसार, दक्षिण अफ्रीका, विशेषकर अफ्रीका के विकासशील राज्य दुर्बल एवं कम महत्वपूर्ण होने के कारण, 'एकीकृत विश्व अर्थव्यवस्था' को अपने आर्थिक विकास या अपनी सुरक्षा के लिए लाभप्रद नहीं पाएँगे। दूसरे शब्दों में, विश्व की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत होने वाला विषम विकास, सबसे निर्धन राज्यों और उनके निवासियों की आर्थिक सुरक्षा संबंधी उपलब्धियों के समक्ष 'संरचनात्मक प्रतिरोध' उपस्थित करते हैं। इस अर्थ में एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी राज्य **(Asian, African** and Latin **American– ASAFLA),** सबल या 'दृढ़' बनने के मार्ग में तथा बुज़न के शब्दों में 'परिपक्व अराजकता' का भाग होने में भारी कठिनाई का अनुभव करते हैं। जो भी सही, बुज़न सैन्य शक्ति संयुक्त सुरक्षा के परम्परागत यथार्थवादी स्थिरीकरण से ऊपर उठकर सोचता है जिससे उसका तर्क अधिक मानवतावादी एवं स्वीकार्य हो जाता है।

जबकि, उत्तर आधुनिकतावादी उपागम की समस्या यह है कि उसमें राष्ट्रीय संप्रभुता को दृढ़तापूर्वक सुलझी हुई धारणा माना गया है तथा कहा गया है कि राज्य अपने परम्परागत कार्यों को पूरा करने में कम से कम समर्थ होता गया है। उदाहरण के लिए, ज़ेवियर कैरिम (Xavoer Carim) कहता है कि भूमंडलीय कारक, सरकारों के निर्णयों को निरंतर अधिक से अधिक प्रभावित करते हैं और बाह्य एवं आंतरिक राजनीति को नियंत्रित करने में उन (सरकारों) की क्षमता को कम करते हैं। उसका निष्कर्ष है कि 'यदि राज्य-संप्रभुता वस्तुतः समाप्त नहीं भी हुई तो भारी चुनौती से अवश्य घिर चुकी हैं।' बूथ के अनुसार, विश्लेषण की इकाई के रूप में आधुनिक राज्य का विकल्प यह है कि उसकी शक्ति को स्थानीय अथवा क्षेत्रीय समुदायों में वितरित कर दिया जाए जिसमें सांस्कृतिक विविधता का पोषण हो सके। उदाहरण के लिए व्यापक आर्थिक समस्याओं का समाधान क्षेत्रीय स्तर पर अधिक प्रभावशाली ढंग से हो सकता है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में क्षेत्रीय एकीकरण या सहयोग, चालू प्रवृत्ति के रूप में, सदस्य राज्यों के न केवल आर्थिक एवं राजनीतिक हितों वरन् उनकी जनता की सुरक्षा संबंधी आवश्यकताओं का भी साधक होता है।

सोचने का विषय यह है कि क्या क्षेत्रीय सुरक्षा संरचनाएँ राज्य-संप्रभुता की पुनर्परिभाषा को आवश्यक बनाती हैं? मानव-सुरक्षा पर मँडराते वे ख़तरे जिनके कारण राज्य-संप्रभुता के पारंपरिक अवधारणीकरण के पुनरीक्षण हेतु बाध्य होना पड़ता है, क्षेत्रीय स्तर पर विशेष रूप से दर्शनीय होते हैं। उदाहरण के लिए, अवैध आप्रवास के कारण उत्पन्न असुरक्षा के कारण भी जटिल होते हैं और प्रभाव भी, जो सभी मानवीय मुद्दों से जुड़े होते हैं, जैसे, दरिद्रता, गृह-युद्ध, सूखा या आर्थिक ह्रास आदि क्षेत्रीय क्रियाविधियों या संरचनाओं के कारण लोग अपने मूल स्थान से पलायन कर जाते हैं। सब होने के बावजूद, 'जब लोगों को अकाल या युद्ध का सामना करना पड़ता है तो कोई सेना या सरकारी नीति उन्हें थोड़ी सी भी बेहतर दशाओं को खोजने से रोकने में समर्थ नहीं हो पातीं।'

NMDC-288

अतः, इस प्रकार के ख़तरों के आकलन (और समाधान) हेतु बनाई गई क्षेत्रीय क्रियाविधियाँ ही अंततः अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं वैयक्तिक सुरक्षा के लिए भवन-खंडकों (building blocks) की भूमिका का निर्वाह करती हैं। उत्तर–आधुनिकतावादियों ने प्रायः राज्येतर कारकों, जैसे, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, ग़ैर-सरकारी संगठनों तथा अपराध संघों की शक्तियों पर अधिक ज़ोर दिया है जो राज्य के नियंत्रण से परे सक्रिय रहते हैं।

फिर भी, इसे न तो सामान्य रूप से सभी राज्यों पर लागू होने वाला (कारक) मानना चाहिए और न इससे संप्रभुता के अंत जैसे अर्थ का अनुमान किया जाना चाहिए। स्पष्टतः ये राज्येतर कारक सबल राज्यों की अपेक्षा दुर्बल राज्यों को अधिक सरलता से दबा लेते हैं। किन्तु इतिहास के हर दौर में राज्येतर कारकों और राज्यों का सह-अस्तित्व बना रहा है। कभी राज्येतर कारकों की शक्ति प्रमुख रही है तो कभी राज्य की शक्ति प्रमुख रही है। सबल राज्येतर कारकों के अस्तित्व का अर्थ, राज्य का 'अंत' नहीं है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की शक्तियाँ एवं गतिशीलता, केवल प्राविधिक (तकनीकी) उत्थान से ही नहीं आतीं वरन् आर्थिक उदारीकरण प्रक्रिया से भी आती हैं जो राज्य द्वारा परिचालित होती है। मार्टिन वुल्फ़ का कहना है कि प्रविधि में क्रान्तिकारिणी प्रगति से, 'भूमंडलीकरण संभव होता है किन्तु उदारीकरण से वह घटित होता है।' परिणामस्वरूप, औद्योगिक रूप से विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कमज़ोर, आश्रित एवं कम महत्वपूर्ण राज्यों के नियंत्रण की परवाह बिना किए अपना कार्य करती रहती हैं क्योंकि शक्तिशाली द्वारा लागू किए जाने वाले नियम कमज़ोरों की अर्थव्यवस्थाओं में निर्द्वंद्व प्रवेश को सुनिश्चित कर देते हैं।

उत्तर–आधुनिकतावादियों की दृष्टि से, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में व्यवस्था के अभाव द्वारा विशेषकर सोवियत संघ के विघटन के बाद सुरक्षा नीतियों पर प्रभुत्व नहीं जमाया जाना चाहिए। पूर्व और पश्चिम की प्रतिद्वंद्विता भले ही समाप्त हो गई हो किन्तु विश्व-स्थायित्व अभी दूर का स्वप्न है। नई सहस्राब्दि के प्रारंभ के साथ, सैन्य प्रविधि में हुई प्रगति ने विश्व-सुरक्षा-परिदृश्य की गत्यात्मकता को गंभीरता से रूपांतरित किया है। महाशक्तियों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका में, उसकी प्रक्षेपास्त्र सुरक्षा पद्धति के साथ सैन्य विस्तार का एक नया दौर चल रहा है जिससे विश्व के सैन्य संरूपण (military configuration) में असंतुलन की वृद्धि हुई है। इससे विश्व शान्ति और विकास के मार्ग में, निस्संदेह, नई चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं।

14.5 व्यावहारिक रूप से मानव-सुरक्षा के समक्ष चुनौतियाँ

इस ओर बार-बार संकेत किया जा चुका है कि बदलते हुए अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में मानव-सुरक्षा के समक्ष ख़तरे के बोध में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। संघर्षों की असंगठित प्रकृति, संसार के अधिकांश भागों में बाज़ारोन्मुख समाज के उदय तथा प्रौद्योगिकी के असमान वितरण के कारण ये नई चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं। इन नई चुनौतियों का सामना, राष्ट्र या राज्य स्तर के परम्परागत मानकों को छोड़कर किया जा सकेगा।

आवश्यकता को और भी सरल बनाने के लिए, सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक चुनौतियों के परम्परागत वर्गीकरण की शरण ली जा सकती है। यद्यपि लंबे समय के बाद इसके परिणामस्वरूप मानव-असुरक्षाओं जैसी जटिल आवश्यकता के अतिसरलीकरण की आशंका है फिर भी हमारा प्रयास उस स्थिति की गंभीरता को समझना है जिसके साथ यह शैक्षिक अभ्यास सामने लाया जाता है। पिछली पक्तियाँ, भूमंडलीय परिप्रेक्ष्य में वैयक्तिक सुभेद्यता को प्रमाणित करती हैं।

1945 में, प्रायः प्रत्येक राष्ट्र ने भयंकर दरिद्रता के उन्मूलन का निश्चय किया। यद्यपि इस दिशा में अब तक हुई (अल्प) प्रगति को देखते हुए ऐसा लक्ष्य केवल स्वप्न ही कहा जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के प्रतिवेदनों (reports) के अनुसार गत 50 वर्षों में दरिद्रता इतनी कम हुई है जितनी उससे पहले के 500 वर्षों में भी नहीं हुई थी। 1960 से विकासशील देशों में बाल-मृत्यु दर आधी से भी कम रह गई है। कुपोषण की दर लगभग एक-तिहाई कम हुई है। तथा प्राथमिक पाठशालाओं में पढ़ने के लिए न

जाने वाले बच्चों की संख्या, आधे से अधिक के स्थान पर एक–चौथाई से भी कम रह गई है। इक्कीसवीं शताब्दी के अंत तक लगभग तीन से चार अरब लोग अपने जीवन-स्तर में उल्लेखनीय सुधार कर चुके होंगे तथा चार से पाँच अरब की पहुँच मूलभूत शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं तक हो जाएगी। ये प्रगतियाँ इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि दरिद्रता-उन्मूलन केवल दुराशा ही नहीं है वरन् यथातथ्य संभावना है।

दरिद्रता-उन्मूलन की गति तभी बनाई रखी जा सकती है जब राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाएँ, मानव-विकास के लक्ष्यों से निर्देशित होती हों। ऑस्कर एरियस के मतानुसार, नए युग में, 'सैन्य क्षमता तथा आर्थिक शक्ति से संबद्ध सुरक्षा की परम्परागत धारणा के विपरीत हमारी विकास-नीतियों का लक्ष्य 'मानव-सुरक्षा' होना चाहिए। गुणात्मक संबंध से, मानव-सुरक्षा उस सोपान (स्तर) का प्रतिनिधित्व करती है जिस (स्तर) तक मानव समुदाय का अज्ञान, रोग, भूख, उपेक्षा तथा उत्पीड़न से बचाया जा सकता हो। यह वही मानक है जो मानव जीवन को गौरवान्वित करता है। यह एक ऐसा बच्चा है जिसकी रक्षा की गई है, एक ऐसा रोग है जिसका इलाज किया जा चुका है, ऐसा जातीय तनाव है जिसे शमित किया जा चुका है, ऐसा असहमत (तत्व) है जो मुक्त रूप से बोलता है तथा ऐसी स्फूर्ति है जिसमें आशा है।'

मुक्त बाज़ारीय पूँजीवाद के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए वह आगे कहता है कि उसके कारण दक्षिण के लिए अनेक कड़वे-मीठे परिणाम निकले हैं। वह मानता है कि एक ओर इस पद्धति के कारण बहुत–सी आर्थिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं तो दूसरी ओर बहुत से व्यक्ति इससे आहत भी हुए हैं। उदाहरण के लिए, लैटिन अमेरिका में संपूर्ण विश्व में धन-संपत्ति का वितरण निकृष्टतम है। अमीर और ग़रीब के बीच आय का अंतराल यहाँ संपूर्ण विश्व में सबसे अधिक और गहरा है। कार्लोस फ्युएण्टस का कथन है कि मैक्सिको में चौबीस लोगों की संपत्ति अपने ही देश के दो करोड़ चालीस लाख लोगों (की संपत्ति) से अधिक है। और भी ब्राज़ील के सबसे अमीर 20 प्रतिशत लोग, उसी देश के सबसे ग़रीब 20 प्रतिशत लोगों की अपेक्षा 32 गुणा अधिक कमाते हैं। यह असमानता कवेल ग़रीबों को ही प्रभावित नहीं करती। लैटिन अमेरिका के इतिहास में, आय की इस भयावह विषमता के परिणामस्वरूप लंबे समय तक चलने वाले ख़ूनी विप्लव भरे पड़े हैं जिनमें हज़ारों लोगों की जानें गई हैं।

पिछले कुछ दशकों में हमारी उपलब्धियों के बावजूद विकासशील विश्व में दीन-हीनों की दशा वस्तुतः शोचनीय है और परेशान कर देने वाले निम्नलिखित तथ्यों के संदर्भ में उसपर तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिएः

- कुपोषण तथा रोगों के कारण प्रतिदिन 40,000 बच्चों की मृत्यु हो जाती है।

  गंदी नालियों से पीने के पानी के प्रदूषित कारण प्रति वर्ष बीस लाख बच्चों की मृत्यु का अनुमान लगाया गया है। दिल्ली (भारत) में केवल तीस प्रतिशत जनसंख्या को ही मल-व्ययन (sewage) सुविधा उपलब्ध है। कराची (पाकिस्तान) में यह सुविधा केवल बीस प्रतिशत लोगों तक ही सीमित है।
- लगभग 84 करोड़ लोग भूखे या आहार की असुरक्षा से ग्रसित रहते हैं।
- सबसे कम विकसित देशों के लोगों में से लगभग एक-तिहाई चालीस वर्ष से अधिक नहीं जी पाते हैं।
- लगभग एक अरब तीस करोड़ लोगों की आय एक डॉलर प्रतिदिन से कम है।
- लगभग एक अरब पचास करोड़ लोगों की पहुँच स्वास्थ्य सेवाओं तक नहीं है।
- एक अरब तीस करोड़ लोगों को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध नहीं है।
- लगभग एक अरब लोग निरक्षर हैं।

बहुत से लोगों का विश्वास है कि भूमंडलीकरण ही वह जादू की छड़ी है जो मानवता पर छाए हुए ग़रीबी के अभिशाप को दूर कर सकती है। यह सत्य है कि इस (भूमंडलीकरण) ने कुछ विशालतम एवं सबलतम अर्थव्यवस्थाओं; जैसे चीन, भारत तथा कुछ अन्य एशियाई शेरों (शक्तियों) में ग़रीबी को कम करने में सहायता पहुँचाई है। परन्तु इस आवेगशील प्रक्रिया का लाभ कुछ गिने-चुने (साधन संपन्न) लोग ही उठा पाते हैं जबकि राष्ट्रों के लोगों में से ही एक बहुत बड़ी संख्या को किसी भी लाभ से वंचित रहना पड़ता है। विकसित एवं विकासशील, दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों में, अमीर और ग़रीब के बीच की खाई चौड़ी हुई है। अनेक औद्योगिक देशों में बेरोज़गारी 1930 से अब तक के सर्वोच्च स्तर पर जा पहुँची है तथा आय की असमानता उन्नीसवीं शताब्दी के स्तरों को छूने लगी है।

विकासशील विश्व के 100 से अधिक राष्ट्रों में मंद आर्थिक विकास के साथ, निष्क्रियता या ह्रास तक के दर्शन होने लगे हैं। विकासशील देशों में से 44 में विश्व व्यापार और सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) का अनुपात लगातार कम होता जा रहा है जिसका प्रभाव उनमें निवास करने वाले एक अरब से अधिक लोगों पर पड़ रहा है। विश्व-जनसंख्या के 10 प्रतिशत रहने वाले अल्पतम विकास वाले देशों की विश्व-व्यापार में केवल 0.3 प्रतिशत भागीदारी है जो दो दशक पहले ही उनकी भागीदारी की आधी भर रह गई है। यह सूची आगे भी चलती है - न्यूनतम विकसित देशों के औद्योगिक आयात का औसत शुल्क (कर) विश्व भर के आयात-कर से 30 प्रतिशत अधिक है। विकासशील राष्ट्रों को कृषि-सहायता (समर्थन मूल्य) तथा औद्योगिक देशों को निर्यात किए जाने वाले वस्त्रों पर लगे शुल्क और रुकावटों के कारण लगभग 60 अरब डॉलर प्रति वर्ष गँवाने पड़ते हैं। यदि औद्योगीकृत राष्ट्र अपने कम भाग्यशाली साथियों की सहायता के लिए एकजुट होकर खड़े नहीं होंगे तो दक्षिण, सदैव के लिए उत्पीड़न एवं शक्तिहीनता से अभिशप्त हो जाएगा।

इन परिस्थितियों में इन देशों में, सुरक्षा एवं विकास के क्षेत्रों में संसाधनों का गलत वितरण, मानव-विकास को और भी हानि पहुँचाता है। युद्ध तथा उसकी तैयारी को अधिक वरीयता दिए जाने से मानव-प्रगति में सबसे अधिक बाधा पड़ी है क्योंकि इनके कारण हथियारों में वृद्धि, हिंसा (युद्ध) और ग़रीबी के दुष्चक्र (cycle) को बढ़ावा मिलता है।

1997 में, संपूर्ण विश्व में कुल सैन्य व्यय 740 अरब डॉलर हुआ था। यदि उसमें से केवल 40 अरब डॉलर भी दस वर्षों तक दरिद्रता-निवारक कार्यक्रमों में लगा दिए जाए तो संसार के सभी लोग शिक्षा, स्वास्थ्य संरक्षण एवं सुपोषण, स्वच्छ पेयजल तथा स्वच्छता आदि जैसी मूलभूत सामाजिक सेवाओं का लाभ उठा सकते हैं। दस वर्षों तक 40 अरब डॉलर जैसे खर्च कर दिए जाएँ तो धरती के सभी लोगों की आय, उनके देशों को ग़रीबी रेखा से ऊपर पहुँच सकती है।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद से अनेक औद्योगीकृत राष्ट्रों ने अपने रक्षा बजटों में कमी कर दी है। परिणामस्वरूप वहाँ के शस्त्रास्त्र व्यापारियों ने विकासशील देशों में नए ग्राहक खोज लिए हैं क्योंकि आज के युग के अधिकतर सशस्त्र संघर्ष इन्हीं देशों में होते हैं। ऐसे (शस्त्रास्त्र विक्रेता) देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका सबसे ऊपर है। इस समय सारे संसार में बेचे जाने वाले हथियारों में से 45 प्रतिशत अकेले अमेरिका से ही आते हैं। और गत चार वर्षों में अमेरिकी हथियारों की बिक्री का 85 प्रतिशत, विकासशील देशों की ग़ैर-लोकतांत्रिक सरकारों के खाते में गया है। राष्ट्रपति क्लिंटन ने अपने पहले कार्यकाल में ग़ैर-लोकतांत्रिक सरकारों की सेनाओं को हथियारों और युद्ध-प्रशिक्षण के लिए 35.9 अरब डॉलर - अर्थात लगभग 9 अरब डॉलर प्रति वर्ष दिए थे। यह राशि अमेरिका द्वारा सभी विकासशील देशों को दी गई सैन्य सहायता राशि, 44 अरब डॉलर की 82 प्रतिशत बैठती है।

1995 में उप-सहाराई अफ्रीका का कुल सैन्य व्यय 8 अरब डॉलर था। यह आँकड़ा चौंकाने वाला है क्योंकि इस क्षेत्र की जनसंख्या हर 20 वर्ष में दुगुनी हो जाती है और यहीं सबसे ग़रीब लोगों का अनुपात संसार

NMDC-288

में सबसे अधिक है। उप-सहाराई अफ्रीका मानवीय दरिद्रतांक तथा मानवीय विकासांक, दोनों ही दृष्टियों से विकासशील देशों में सबसे पीछे है। संसार के सर्वाधिक 10 ग़रीब देशों में से 9 इसी क्षेत्र में हैं। अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र की 50 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या ग़रीबी रेखा से नीचे के आय वर्ग में आती है।

दक्षिण एशिया में कश्मीर के विवाद को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच हथियारों की दौड़ उन्माद की तरह बनी रहती है। अकेले भारत ने 1988 से 1992 तक हथियारों की खरीद पर 12 अरब डॉलर खर्च किए थे, जो इसी अवधि में इराक या सऊदी अरब द्वारा खर्च की गई राशि से भी अधिक थे। 1978 से 1991 तक पाकिस्तान ने अपने रक्षा-बजट को सात गुना बढ़ाया जिसके परिणामस्वरूप आज उनका रक्षा संबंधी व्यय उनके सारे सरकारी खर्चे का 40 प्रतिशत हो गया है। ये दो राष्ट्र जो मानव-विकास-सूचकांक पर बहुत नीचे की श्रेणी पर आते हैं, हथियारों की अक्षम्य दौड़ पर असीम धन बहा रहे हैं और अपने जन-समुदाय को मात्र जीवित रखने के लिए समय के विरुद्ध एक निराशा भरी दौड़ लगाने को छोड़ रहे हैं।

पिछले कुछ वर्षों में, दो लैटिन अमेरिकी राष्ट्रों—कोस्टारिका तथा पनामा—ने ग़रीबी और सैन्यवाद के दुश्चक्र को सदैव के लिए तोड़ने हेतु ऐतिहासिक कदम उठाए हैं। कोस्टारिका में 1949 में लोकतंत्र की स्थापना के बाद 1989 में पनामा में लोकतंत्र के पुनर्स्थापन के साथ, दोनों राज्यों ने अपनी सशस्त्र सेनाओं को लगभग समाप्त ही कर दिया। परिणामस्वरूप आज कोस्टारिका तथा पनामा के बीच की सीमा रेखा सारे संसार में सर्वाधिक सुरक्षित है और वे अपने संसाधनों का उपयोग विकास की महती आवश्यकताओं के लिए अधिक कर पा रहे हैं। इन दो राष्ट्रों की प्रगति ने विश्व को दिखा दिया है कि कोस्टारिका एकमात्र उदाहरण नहीं है। अनेक देशों के लिए सशस्त्र सेनाओं की समाप्ति एक व्यवहार्य विकल्प हो सकता है।

विकासशील विश्व में विसैन्यीकरण को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में उत्तरदायित्वपूर्ण नेतृत्व का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। फिर भी बहुत से औद्योगिक देशों में, शस्त्रास्त्र के उत्पादन को रोज़गार और आय का महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। फ्रांस के शस्त्रीकरण मंत्री ह्यूज-डि-इस्तोले ने कहा था कि, 'जब हथियारों के व्यापारी के रूप में मेरी आलोचना की जाती है तो मैं सदैव यह सोचता हूँ कि एक समझौते पर हस्ताक्षर करके मैं दस हज़ार लोगों के लिए तीन वर्षों का रोज़गार सुनिश्चित कर रहा हूँ।' इस प्रकार का तर्क देने वाला फ्रांस अकेला देश नहीं है। हथियार निर्यात करने वाले लगभग सभी देश, शस्त्रास्त्रों के स्थानान्तरणों को न्यायसंगत ठहराने के लिए ऐसे ही तर्क देते हैं जो किसी भी नैतिक मानदंड से अकल्पनीय होंगे।

हथियारों का व्यापार प्रायः तानाशाहों का मित्र और जन—सामान्य का शत्रु होता है। वह समय आ चुका है कि जब हथियारों की अपेक्षा मानव-जीवन को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। वस्तुतः हमें शस्त्रास्त्र-स्थानान्तरणों को नियमित करने के लिए एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास से कम किसी भी शर्त पर सहमत नहीं होना चाहिए। शस्त्रास्त्रों की बिक्री पर प्रतिबंध लगाए जाने वाली वर्तमान पहलें, शान्ति के (स्वैच्छिक) लक्ष्य की दिशा में पहले क़दम हैं। इस (शुभ) उद्यम में, यूरोपीय संघ के विदेश मंत्री यूरोप की प्रथम शस्त्रास्त्र-निर्यात-आचार-संहिता की शर्तों पर सहमत हुए है, जिस (आचार-संहिता) का विविध प्रमुख क्षेत्रों में कार्यान्वयन एवं सुदृढ़ीकरण होना शेष है।

अंधमहासागर के पार, गुपचुप व्यापारिक संबंधों के कारण, शस्त्रास्त्र स्थानान्तरण से संबंधित अमेरिकी आचार-संहिता, (प्रतिनिधि) सदन एवं सीनेट की संयुक्त समिति का अनुमोदन प्राप्त करने में असफल रही। फिर भी, उस आचार-संहिता का सशक्त प्रदर्शन - जिसके कारण विपक्ष को कपटपूर्ण दाव-पेंचों का सहारा लेना पड़ा - भारी नैतिक प्रभाव तथा भावी आशा का संकेतक है। अब न तो यह कहा जा सकता है कि "व्यापार" से लाभ है और न शस्त्रास्त्र के स्थानान्तरण के कारण होने वाले उत्पीड़न एवं प्रसरित

NMDC-288

ग़रीबी की ओर से आँखें ही बंद की जा सकती हैं। दास प्रथा एवं नशाली दवाओं के व्यापार की भाँति ही हथियारों के व्यापार से भी खून से सने हुए लाभ की ही फसल काटी जा सकती है। यहाँ महात्मा गांधी द्वारा गिनाए गए सात सामाजिक पापों का ध्यान दिलाना ठीक लगता है:

1) सिद्धान्तहीन राजनीति

2) नैतिकताविहीन वाणिज्य

3) कार्य बिना प्राप्त संपत्ति

4) चरित्र रहित शिक्षा

5) मानवतारहित विज्ञान

6) अंतःकरण रहित आनंद; तथा

7) त्याग-रहित पूजा

14.6 मानव-सुरक्षा को सुनिश्चित करना

मानवता के लिए, अधिक सुरक्षित विश्व को सुनिश्चित करने के लिए निम्नलिखित उपायों को सोचा जा सकता है:

सबसे पहले जहाँ उचित कारण हों, मानव-सुरक्षा के बचाव में ज़ोरदार कार्रवाई की जानी चाहिए। मानव-सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए, प्रतिबंध लगाने या सैन्य कार्रवाई जैसे पीड़ादायक कार्य भी करने पड़ें तो किए जाएँ; जैसे बोस्निया अथवा कोसोवो में किए गए थे। साथ ही, राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा का समर्थन करने के लिए आवश्यक मानव-लागतों का स्पष्ट रूप से अनुमान भी लगाया जाना चाहिए। व्यापक आर्थिक प्रतिबंध जैसी सुरक्षा संबंधी ऐसी नीतियों में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि निर्दोष लोगों पर उनका क्या प्रभाव पड़ सकता है।

दूसरे, सुरक्षा नीतियों की उन कार्यनीतियों के साथ एकीकृत किया जाना चाहिए जिनमें मानवाधिकार, लोकतंत्र तथा विकास का समर्थन होता हो। मानवाधिकार, मानवीय एवं शरणार्थी कानून ऐसा नियामक ढाँचा प्रदान करते हैं जिसपर मानव-सुरक्षा आधारित होती है। विकास की कार्यनीतियाँ, अनेक दीर्घकालीन मानव-विकास-चुनौतियों के व्यापक समाधानकारी आधार प्रदान करती हैं। मानव-सुरक्षा उपागम के पालन करने का एक लाभ यह होता है कि इसमें जन-केन्द्रित विदेश नीति और भी विशद होती है।

तीसरे, जन-सुरक्षा के समक्ष उपस्थित समसामयिक चुनौतियों की जटिलता के कारण, उनमें प्रभावशाली हस्तक्षेप के लिए, राज्यों, बहुराष्ट्रीय संगठनों तथा नागरिक समुदायों जैसे कारकों की विविध श्रेणियाँ शामिल हो जाती हैं। चूँकि जन-सुरक्षा के समक्ष चुनौतियाँ संक्रमणशील होती हैं इसलिए उनके प्रति प्रभावशालिनी प्रतिक्रियाएँ केवल बहुपक्षीय सहयोग से ही प्राप्त की जा सकती हैं। नशीली पदार्थों के व्यापार, आतंकवाद तथा पर्यावरण निम्नीकरण (विक्षति) जैसे पार–राष्ट्रीय संगठित अपराधों से निपटने के लिए गत दशक में विकसित नए अन्तर्राष्ट्रीय उपकरणों के व्यूह में यह प्रत्यक्ष हो जाता है। ये ख़तरे, उच्च-स्तरीय मानव-सुरक्षा का उपयोग करने वाले देशों के नागरिकों के हितों को बहुत ग़रीब देशों के उन लोगों के हितों से जोड़ते हैं जो अपनी सुरक्षा पर मँडराते व्यापक ख़तरों से जूझते रहते हैं।

चौथे, प्रभावकारी प्रतिक्रियाएँ उत्कृष्ट परिचालनात्मक समन्वय (operational coordination) पर निर्भर होती हैं। उदाहरण के लिए, सफल शान्ति-समर्थन-परिचालन बहु-आयामी होते हैं और अन्य सभी के साथ-साथ राजनीतिक समझौताकारी, शान्ति-निर्वहणकर्ताओं, मानवाधिकार प्रबोधकों तथा लोकोपकारी सहायकों

के घनिष्ठ समन्वय पर निर्भर होते हैं। इसके अतिरिक्त, विकास अभिकरण अब सुरक्षा क्षेत्र में सुधार को परवर्ती देशों में विकास-सहायता सरणियों को सहायता प्रदान की है। मानव-सुरक्षा कार्यसूची के समक्ष इन अधिव्यापी (overlapping) अधिदेशों (mandates) एवं उद्देश्यों की व्यवस्था करना प्रमुख चुनौतियों में से एक है।

पाँचवें, मानव-सुरक्षा को समर्थन देने में नागरिक संगठन अधिकाधिक अवसर एवं दायित्वों को खोज रहे हैं। अनेक मामलों में, ग़ैर-सरकारी संगठन, जन-सुरक्षा को समर्थन देने में अत्यंत प्रभावशाली सहभागी सिद्ध हुए हैं। जिन लोगों को अधिक सुरक्षा की आवश्यकता है उन्हें (ग़ैर-सरकारी संगठन) सहायता एवं संरक्षण प्रदान करने वाले ये महत्वपूर्ण घटक हैं। साथ ही, मानव-सुरक्षा की अभिवृद्धि करने वाले व्यापारिक क्षेत्र को और भी प्रभावकारी ढंग से काम में लाया जा सकता है।

छठे, नीतियों के मूल्यांकन के लिए, मानव-सुरक्षा एक नया दृष्टिकोण तथा व्यापक साँचा (template) प्रदान करती है। a विदेश नीति संबंधी पहलों के भी बेस समुच्चयों (concrete set) को प्रदान करती है। इन नीतियों को व्यवस्थित रूप से लोगों की सुरक्षा पर ध्यान देना चाहिए। इससे उन प्रमुख मुद्दों को लक्ष्य बनाकर ध्यान देने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है जिनपर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में अब तक समुचित ध्यान नहीं दिया। ऐसे अंतरालों के वर्तमान उदाहरणों में, छोटे हथियारों का बिना किसी बाधा के प्रसारण तथा सशस्त्र संघर्षों की स्थितियों में बच्चों का अपर्याप्त संरक्षण शामिल किए जा सकते हैं। मानव-सुरक्षा को प्रथमतः लोगों की सुभेद्यता (vulnerability) कम करके तथा उन स्थितियों को रोककर जो उन्हें सुभेद्य (vulnerable) बनाती हैं, बढ़ाया जा सकता है। मानव-सुरक्षा कार्यसूची का केन्द्रीय उद्देश्य, अत्यधिक असुरक्षित स्थितियों में, विशेषकर सशस्त्र संघर्षों के बीच सहायता प्रदान करना है। लम्बे समय से शरणार्थी समस्या अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान का विषय रही है। इसी प्रकार सुभेद्यता पर केन्द्रित ध्यान, अंतःविस्थापित तथा असंगठित लड़ाकुओं की तात्कालिक आवश्यकताओं को रेखांकित करता है। इसी प्रकार, लोगों की असुरक्षा के साधनों की ओर ध्यान दिलाकर, मानव-सुरक्षा-कार्यनीति को लोकोपकारी कार्यों से भी अधिक कुछ करना चाहिए। अतः मानव-सुरक्षा निर्माण में, अल्पकालिक लोकोपकारी कार्य तथा शान्ति निर्माण एवं सतत विकास के समर्थन की दीर्घकालिक रणनीति, दोनों की आवश्यकता होती है।

साथ ही, मानव-सुरक्षा की वृद्धि के लिए दो मूल रणनीतियाँ होती हैं- (1) कानूनी मानकों का सशक्तीकरण; तथा (2) उन्हें (कानूनों को) समान उत्साह से लागू करने की क्षमता का निर्माण। फिर भी, यदि समाज पूर्व-प्रचलित मानकों को लागू नहीं कर पाता या मान्य अधिकारों को संरक्षण नहीं दे पाता तो नए मानकों और अधिकारों को परिभाषित करने से कोई लाभ नहीं। इस कारण, मानव-सुरक्षा को आगे बढ़ाने के लिए, राज्यों में लोकतांत्रिक शासन में सुधार लाना एक केन्द्रीय रणनीति होती है। मानकों के संरक्षण की क्षमता के निर्माण बिना उन्हें सशक्त बनाने से केवल इस भ्रान्ति से मुक्ति मिलती है कि कानून के शासन से शक्ति को प्रतिबंधित करने की कोई संभावना होती है। यदि हमें अधिक मानवीय विश्व की ओर बढ़ना है तो उपर्युक्त दोनों रणनीतियाँ अनिवार्य हैं।

सारांशतः हमें उन तीन बिन्दुओं को ध्यान में रखना चाहिए जिन्हें हम इक्कीसवीं शताब्दी में मानव-सुरक्षा के दृष्टिकोण से भावी अध्ययनों, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के हर प्रकार के मुद्दों का सामना करने तथा संघर्षों से विकास की ओर जाने के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। ये है :

1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का पुनरीक्षण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आज विश्व के सामने जो ख़तरे हैं उनका मुक़ाबला केवल राष्ट्रीय या अंतरसरकारी प्रयत्नों की शक्ति के आधार पर नहीं किया जा सकता। अंतिम विश्लेषण में, यह मुद्दा अन्तर्राष्ट्रीय तंत्र की व्यवस्था से भी जुड़ता है। इन समस्याओं की प्रतिक्रिया के लिए इस क्षेत्र में सूचना के एकत्रीकरण, मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के तत्काल एवं कुशल संचयन तथा सुनिश्चित

परिनियोजन एवं कार्यान्वयन की आवश्यकता होती है। इनमें से प्रत्येक दौर में, अधिकाधिक विविधता के साथ, कुछ ग़ैर-सरकारी कारक (जैसे, अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण, ग़ैर-सरकारी संगठन तथा बहुराष्ट्रीय निगम) महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह कर रहे हैं तथा अपरिहार्य होते जा रहे हैं।

इन कारकों का सावयव रूप से समन्वित तंत्र इक्कीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अभ्यंतर का निर्माण करता है। इस तंत्र की रचना में, यह और भी महत्वपूर्ण होगा कि स्वतंत्र व्यक्ति को केवल एक निष्क्रिय भोक्ता या पीड़ित न मानकर ऐसा सक्रिय भागीदार माना जाए जिसके हितों का सम्मान किया जाए।

इस उद्देश्य के लिए, सरकारों और अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों की नीति-निर्माण प्रक्रियाओं में, ग़ैर-सरकारी संगठनों को, स्वतंत्र व्यक्तियों के समूहों के तौर पर औपचारिक रूप से भागीदार बनाए जाने का प्रावधान किया जाना चाहिए ताकि क्षमताओं और योजनाओं को अधिक बल प्रदान किया जा सके (तथ्य यह है कि इस प्रकार के प्रबंध किए भी गए हैं)। भूमंडलीकरण को सफलतापूर्वक लागू कराने में, संयुक्त राष्ट्र के कार्यों को ऐसे अन्य कारकों की गतिविधियों के समन्वय एवं पूरकता के लिए केन्द्रीय अवयव मानकर सहारा देना दूसरा प्रमुख (यद्यपि कठिन) कार्य है।

2) बुद्धिजीवियों के तंत्रों (network) का निर्माण

मानव-सुरक्षा के लिए इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय तंत्र का निर्माण, परम्परागत राजनीतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी सीमाओं को लाँघकर, सच्चे अर्थों में समस्त बुद्धिजीवी संसाधनों के संघटन को आवश्यक बना देगा। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अंतर-अनुशासनिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय बुद्धिजीवी तंत्र बनाए जाने चाहिए जिससे हर क्षेत्र के ज्ञान की निर्विघ्न भागीदारी तथा सहज उपयोग की क्षमता की सामर्थ्य संभव हो सके। ज्ञान के इन तंत्रों के प्रभाव, मानव-सुरक्षा की परम्परागत आवश्यकताओं के क्षेत्र से ऊपर होंगे तथा इक्कीसवीं शताब्दी की बौद्धिक व्यवस्था के एकमात्र महानतम वाहक होंगे।

3) अन्तर्राष्ट्रीय एवं राजनीति अनुस्थापन (Orientation)

मानव-सुरक्षा के महत्व के क्षेत्रों तथा नीति निर्माण की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए, इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आधिकारिक रूप से अनुमोदन, समर्थन एवं सक्रिय एकात्मता दी जानी चाहिए।

और भी, इक्कीसवीं शताब्दी की मानव-सुरक्षा व्यवस्था में इसके महत्व को देखते हुए, समूह–आठ (Group of 8) तथा संयुक्त राष्ट्र में, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय तंत्र के राजनीतिक एवं आर्थिक विचार-विमर्श संबंधी सर्वोच्च मंचों पर मानव-सुरक्षा, बहस के लिए सबसे उपयुक्त मुद्दा है।

मानव-सुरक्षा को, विकासशील देशों सहित 191 सदस्य देशों वाले विश्व-संगठन 'संयुक्त राष्ट्र' में व्यापक सहमति एवं समर्थन जुटाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राष्ट्र ही संभवतः अकेली ऐसी सत्ता है जो मानव-सुरक्षा के लिए आवश्यक उपायों के समन्वय एवं कार्यान्वयन में केन्द्रीय भूमिका निभाने में समर्थ है।

14.7 सारांश

शीत युद्ध के बाद की स्थिति में तथा संपूर्ण विश्व में संघर्षों की जटिलता तथा उनकी बढ़ती हुई संख्या के परिप्रेक्ष्य में, यह महत्वपूर्ण है कि संघर्षों की परवर्ती स्थिति में मानव-सुरक्षा को बनाए रखने के उपाय किए गए जिससे हर व्यक्ति की सुरक्षा और उसके संरक्षण को सुनिश्चित किया जा सके। मानव-सुरक्षा को यदि एक स्थान पर ख़तरा होगा तो उसका प्रभाव दूसरे स्थान पर भी पड़ सकता है। न तो मानव-सुरक्षा के प्रति कोई भी ख़तरा, राष्ट्र की सीमाओं में सिमटकर रहता है और न कोई राष्ट्र शेष विश्व से कटकर अलग हो सकता है। देशों में प्रारंभ हुए ख़तरे, तेज़ी से सीमाओं को पार करके सारे संसार में

मानव-सुरक्षा के लिए चुनौती बन सकते हैं। 1994 का मानव-विकास प्रतिवेदन इस तथ्य पर ठीक ही ज़ोर देता है कि भूमंडलीय मानव-सुरक्षा की अदृश्यता एवं अविभाज्यता, समृद्धि और दरिद्रता, दोनों ही परिणामों तक फैलती हैं। यदि समृद्धि पूरी धरती पर पाई जाती है तो दरिद्रता भी पाई जाती है। मानव जाति के समक्ष अगले दशक से वास्तविक ख़तरा कुछ राष्ट्रों के आक्रमण के बजाय लाखों लोगों की मानव-सुरक्षा को प्रभावित करने वाली गतिविधियों से अधिक होगा। इसके लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नई नीतियों की आवश्यकता होगी। वर्षों से जहाँ भूमंडलीय एवं राष्ट्रीय सुरक्षा पर परम्परागत रूप से ध्यान देते आए हैं, यह सोचकर हैरानी होती है कि क्या हम व्यक्तियों के रूप में अपने दैनिक जीवन में संरक्षित एवं सुरक्षित रहे हैं। चूँकि हम एक नई शताब्दी में प्रवेश कर चुके हैं, अतः समय आ गया है कि हम विश्व - भर के सभी लोगों के लिए मानव-सुरक्षा के सभी आयामों एवं रूपों पर अधिक से अधिक ध्यान दें।

14.8 अभ्यास प्रश्न

1) 'मानव-सुरक्षा' की आवश्यकता से आप क्या समझते हैं? इस मुद्दे पर अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में तुरंत ध्यान देने की आवश्यकता क्यों है?

2) मानव-सुरक्षा की परिभाषा देते हुए उसकी प्रकृति और विषय- क्षेत्र पर विचार कीजिए।

3) मानव-सुरक्षा उपागमों का समीक्षात्मक मूल्यांकन कीजिए। क्या नीति-निर्माण के मुद्दे पर उसकी संगति है?

4) तकनीकी विकास तथा उदारीकरण द्वारा मानव-सुरक्षा के समक्ष उपस्थित की गई चुनौतियाँ कौन - सी हैं?

5) भूमंडलीकरण के वर्तमान युग में मानवता किन असुरक्षाओं का सामना कर रही है? उन पर काबू कैसे किया जा सकता है?

इकाई 15 शान्ति आन्दोलन और शान्ति अनुसंधान

इकाई की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

15.2 शान्ति की अवधारणा

15.3 शान्ति निर्माण और स्थापना

15.4 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति प्रणालियाँ

15.5 विश्व शान्ति प्रणालियाँ

15.6 शान्ति आन्दोलन

15.6.1 ऐतिहासिक विकास

15.6.2 विश्व युद्धोत्तर चरण में शान्ति आन्दोलन

15.7 शान्ति अनुसंधान

15.8 सारांश

15.9 अभ्यास प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

सामाजिक विज्ञान शान्ति की अपेक्षा युद्ध के बारे में अधिक जानकारी प्रकाश में लाया है, ठीक जैसे मनोविज्ञान ने सकारात्मक विसामान्यता (positive deviance) (जैसे सृजनशीलता) की अपेक्षा नकारात्मक विसामान्यता (जैसे मानसिक रोग) में अधिक गहरा ज्ञान दिया है। यह देखा गया है कि अध्ययनों में यह प्रवृत्ति रही है कि विश्लेषण की इकाइयों के रूप में युद्धों पर अधिक ध्यान किया गया है न कि शान्ति की समयावधियों पर, और यह प्रवृत्ति भी रही है कि शान्ति की परिभाषा केवल "युद्ध के अभाव" के रूप में की गई है। शान्ति को पोषित करने वाली दशाएँ और शान्ति की अवधारणा भिन्न-भिन्न अवधियों और संस्कृतियों में बदलती रही है। शान्ति चिन्तन में, जिसने विश्व-भर में शान्ति आन्दोलनों को और शान्ति अनुसंधान को प्रभावित किया है, विश्लेषणात्मक और आनुभविक के बदले अव्यावहारिक और मूल्य भारित होने की प्रवृत्ति है। यहाँ हमारा प्रयास शान्ति की समसामयिक विद्धतापूर्ण व्याख्या समझना है तथा शान्ति आन्दोलनों और शान्ति अनुसंधान में विद्यमान प्रवृत्तियों पर ध्यान देने के साथ-साथ यह भी समझना है कि शान्ति कैसे प्राप्त की जाती है और कैसे बनाए रखी जाती है। परन्तु आगे बढ़ने से पहले हमें शान्ति की अवधारणा की जानकारी होनी चाहिए।

15.2 शान्ति की अवधारणा

शान्ति की दो अवधारणाओं की स्पष्ट पहचान की जानी चाहिएः **नकारात्मक शान्ति** (negative peace), इसे राष्ट्रों के रूप में, (जैसे प्रमुख मानव समूहों के बीच) संगठित हिंसा की अनुपस्थिति के रूप में परिभाषित किया गया है। इसी प्रकार प्रजाति और नृजातीय समूहों के बीच भी मात्रा के कारण हो सकता है जिस पर इस प्रकार के संघर्षों से पहुँचा जा सकता है। और **सकारात्मक शान्ति** (positive peace) को प्रमुख मानव समूह के बीच सहयोग तथा समाकलन के प्रतिमान के रूप में परिभाषित किया गया है। हिंसा की अनुपस्थिति को संघर्ष की अनुपस्थिति से नहीं उलझाया जाना चाहिए; संघर्ष के बिना भी हिंसा हो सकती है और अहिंसात्मक क्रियाविधियों के माध्यमों से संघर्ष का समाधान हो सकता है। शान्ति के इन दो प्ररूपों के बीच अंतर दो राष्ट्रों के बीच संबंधों के चार वर्ग हो सकते हैं: युद्ध जो संगठित सामूहिक

हिंसा है; नकारात्मक शान्ति, जहाँ सबसे अच्छा लक्षण "शान्तिपूर्ण निष्क्रिय" सह-अस्तित्व है; सकारात्मक शान्ति जहाँ आकस्मिक हिंसा भड़कने से उसके विरुद्ध कुछ सहयोग किया जाता है; बिना शर्त शान्ति, जहाँ सहयोग के प्रतिमान के साथ हिंसा की अनुपस्थिति का सम्मिश्रण होता है।

"युद्ध-वर्जन", या युद्ध के अभाव के रूप में शान्ति की अवधारणा न तो सिद्धान्त रूप से और न ही व्यावहारिक दृष्टि से रुचिकर है। उदाहरण के लिए, इसे उन संबंधों का वर्णन करने में प्रयुक्त किया जाता है जो नार्वे और नेपाल के बीच मिलते हैं, बहुधा इसे भौगोलिक दूरी के कारण अंतःक्रिया के निम्न स्तर

जा सकती है। शान्ति के लिए, जैसें स्वास्थ्य के संज्ञानात्मक और मूल्यांकनकारी दोनों घटक हो सकते हैं: यह राष्ट्रों की प्रणाली की अवस्था निर्दिष्ट करता है। परन्तु अवस्था का मूल्यांकन इतना अधिक किया जाता है कि इसकी रक्षा करने तथा इसका संवर्धन करने के लिए इसके चारों ओर संस्थाएँ बनाई जाती हैं। यह सकारात्मक शान्ति की अवधारणा है जो अन्वेषण योग्य है, विशेषकर जब नकारात्मक शान्ति *conditio sine qua non* है, और शान्ति की दो अवधारणाएँ आनुभविक रूप में संबद्ध हो सकती हैं --- भले ही तार्किक दृष्टि से वे स्वतंत्र है।

15.3 शान्ति निर्माण और स्थापना

शान्ति निर्माण के बारे में विपुल मात्रा में लेखन कार्य हुआ है जिनमें उन तरीकों में समाज या समूह के सदस्यों की शिक्षा और समाजीकरण का विश्लेषण करना है जो शान्ति को बढ़ावा देते हैं। इसमें उन तरीकों के बारे में अनुसंधान और सिद्धान्त स्थापन भी शामिल हैं जिसमें क्या किया गया है और वह किया जा सकता है।

चूँकि सामाजिक जीवन में संघर्ष स्वाभाविक है, इसलिए इसे मूर्त रूप देने में सामाजिक संरचना और संस्कृति की भूमिका शान्ति निर्माण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है कि संघर्ष जैसे किए जाते हैं। विश्लेषणकर्त्ता संघर्षों के संचालन में प्रयुक्त विधियों में विविधताओं पर अधिक ध्यान दे रहे हैं। इसमें रचनात्मक विधि भी शामिल है जो भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक अवधियों में अलग-अलग लोगों के लिए उपलब्ध रही है। अहिंसात्मक कार्रवाई के तरीकों में लोगों का अध्ययन करने और प्रशिक्षित करने के प्रयास और समस्या निवारण, संघर्ष समाधान की विधियों, अन्तर्राष्ट्रीय और आंतरिक शान्ति निर्माण में योगदान करते हैं।

शान्ति अध्ययनों का एक बहुत पुराना क्षेत्र समाजों के बीच समाकलन (एकीकरण) का और समाजों के अंदर विभिन्न घटकों का भी प्रभाव रहा है। समाकलन (integration) सामाजिक और समूह वंशों के बीच सामग्री, लोगों और विचारों के आदान-प्रदान की उच्च मात्रा द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। अनुसंधान के निष्कर्ष साधारणीकरण की पुष्टि करते हैं कि समाकलन संचार और समाकलनी पक्षों के बीच जहाँ आदान-प्रदान सुधारता है वहीं इससे अधिक महत्वपूर्ण पारस्परिक सुरक्षा बढ़ाता है तथा देशों का आपस में युद्ध करने या एक-दूसरे की पहचान को संकट में डालने की संभावना को घटाता है, विशेष रूप से जब ऐसा समाकलन समानता के आधार पर किया गया हो।

यह निर्दिष्ट करते हुए पर्याप्त साक्ष्यों का उल्लेख किया गया है कि लोकतांत्रिक देश प्रायः एक-दूसरे के विरुद्ध आक्रमण नहीं करते हैं। यद्यपि इसके निष्कर्षों, विशेष रूप से उसकी व्याख्या को अमान्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, तथापि लोकतंत्र और युद्ध की विशेष परिभाषाओं में इस प्रकार के निष्कर्ष संतुलित प्रतीत होते हैं।

सकारात्मक शान्ति और संरचनात्मक हिंसा की अवधारणाएँ सामाजिक संदर्भ और शान्ति के बीच संबंध समझने में सहायता करती हैं। संरचनात्मक हिंसा अप्रत्यक्ष है, व्यक्तिगत हिंसा की तरह नहीं है। इसका संबंध "उसकी परिहार्य अस्वीकृति है जो आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है।" इस

प्रकार की असमानताएँ विश्वव्यापी व्यवस्था में निहित होती हैं और नकारात्मक शान्ति बनाती हैं। इस प्रभावशाली विचारधारा ने, विशेषकर परिधीय (peripheral) या कम विकसित प्रदेशों में दशाओं के बारे में विभिन्न अध्ययनों को प्रोत्साहित किया।

दीर्घकालिक अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक संघर्ष का हाल ही का रूपांतरण और समाधान तथा पूर्ववर्ती सत्तावादी तथा दमनकारी समाजों के आमूल-चूल रूपांतरण ने उन संघर्षोत्तर संबंधों को बनाने की चुनौतियों पर ध्यान देने को महत्व दिया जो टिकाऊ और न्यायसंगत हैं।

एक या अधिक प्रतिद्वंद्वी पक्षों के सदस्यों में सोचने के तरीकों में आधारभूत परिवर्तन उनके बीच स्थायी शान्ति उत्पन्न करने में शक्तिशाली कारक हो सकता है। यह कभी-कभी होता है। उदाहरण के लिए, नाज़ीवाद की पराजय के बाद अधिकांश जर्मनवासियों ने न केवल उनका खंडन किया जिस पर उन्होंने स्वयं विश्वास किया था और किया है, बल्कि उन्होंने विश्वासों, मूल्यों और संस्थाओं का स्वागत किया जिन्होंने विजेता से भागीदारी की। कुछ सीमा तक, इसी प्रकार का रूपांतरण शीत युद्ध के समाप्त होते ही रूसवासियों में भी हुआ।

परम्परागत दृष्टि से, संघर्ष समाप्ति के बाद शान्ति बहाल करने के प्रयासों में उन शिकायतों को सुधारने की नीतियाँ शामिल हैं, जिन्हें संघर्ष के स्रोत के रूप में देखा गया था। देश के अंदर साम्प्रदायिक मतभेदों के लिए यह भिन्न-भिन्न भाषाओं या धर्मों के नागरिकों के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग कर सकता है तथा स्वायत्तता के रूप और मात्रा निर्धारण में सार्वजनिक सहभागिता की व्यवस्था कर सकता है।

हाल ही के वर्षों में, शान्ति कार्यकर्त्ता एक ही समाज में रहने वाले भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों में आपसी समझ और सहनशीलता बढ़ाने पर पर्याप्त ध्यान देते रहे हैं। यह उन लोगों के बीच मेल-मिलाप करने के लिए भी किया गया जिन्होंने मानव अधिकारों का भारी उल्लंघन किया हो और जिन लोगों की दमन या हिंसात्मक संघर्ष की अवधियों के दौरान गंभीर क्षति हुई है। हाल ही के कई परिवर्तनों का भिन्न-भिन्न लोगों में मेल-मिलाप करने में योगदान रहा है और संयुक्त राज्य का निर्माण हुआ। मूल अमेरिकियों, अफ्रीकी अमेरिकियों और अन्य समूहों के बारे में भेदभाव, हिंसात्मक दमन और अन्य अन्याय के बारे में बार-बार स्वीकार किया जाता रहा है।

इसके अलावा, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से शान्ति स्थापित करने तथा बहाल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की आशा की जाती है। संयुक्त राष्ट्र की शान्ति निर्वहण सेनाओं ने शीत युद्ध समाप्त होने के बाद ऐसे बहुत कार्य किए हैं। प्रादेशिक और अलग-अलग देशों, विशेषकर संयुक्त राज्य में (सउदी अरब, अफगानिस्तान और इराक कुछ ऐसे ही देशों का उल्लेख किया जा सकता है), शान्ति बहाल करने तथा कायम रखने के लिए हस्तक्षेप किया है।

15.4 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति प्रणालियाँ

अधिकांश शान्ति चिन्तन उस समस्या पर केन्द्रित हो गया है कि विश्व के राष्ट्रों में शक्ति का वितरण सबसे अच्छा कैसे हो सकता है। यह प्रतिमान है कि शक्ति की न्यूनतम समानता का, जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली का तब सबसे अच्छा उपयोग हो सकता है जब सत्ता को एक राष्ट्र या प्रणाली का एकाधिकार बनाया जाए, जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली में कुछ संविधियों द्वारा इसे एकाधिकृत किया गया है। इसके उदाहरण हैं: *पैक्स रोमाना, पैक्स इक्स्लेसिआई* और *पैक्स ब्रिटानिका*। रोमन साम्राज्य, कैथोलिक चर्च और विश्व के विशाल क्षेत्रों में कानून और व्यवस्था बनाए रखने वाला ब्रिटेन है।

दूसरा प्रतिमान अधिकतम समानता पर बल देता है या जिसे सामान्यतया इस अभिप्राय से "शक्ति का संतुलन" कहा जाता है कि कोई भी राष्ट्र या गठबंधन किसी अन्य राष्ट्र या गठबंधन को पराजित करने

के लिए अत्यधिक शक्तिशाली नहीं है। "आतंक का संतुलन" इसकी नई व्याख्या है जिसमें एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों को पराजित कर सकता है, परन्तु केवल अपने ही पूर्णतः नष्ट होने के खतरे में। अतः, शक्ति का नहीं, आतंक का संतुलन हो।

तीसरा प्रतिमान सैन्य शक्ति को निम्न स्तर पर स्थिर रखना सबसे अच्छे तरीके के रूप में देखता है। इसका संबंध सभी प्रकार के अस्त्र नियंत्रण प्रयासों से है, विशेषकर उनसे जो 1899 के हेग शान्ति सम्मेलन से आज तक हुए हैं। इसमें समसामयिक विचारधारा शामिल है जिसका उद्देश्य हॉब्स की धारणा, *बेलम ओमनियम कॉंट्रा ओमन्स* (*bellum omnium contra omnes*) से हिंसा के कुछ अन्य साधन और हिंसा के कुछ उद्देश्य दोनों को ज्ञात करना है। उद्देश्य साधारण या पूर्ण युद्ध को वर्जित करना है।

अंत में, एक ऐसा प्रतिमान है जो शक्तियों को शून्य स्तर पर स्थिर देखता है। इसका संबंध शान्तिवादियों द्वारा समर्थित सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण से है। शान्तिवाद दावा करता है कि यह अवस्था उदाहरण के प्रभाव से एकपक्षीय रूप में प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि अस्त्र तब निरर्थक हो जाते हैं जब वे वैसे ही अस्त्रों का सामना नहीं करते हैं और सैनिकों तथा सरकारी निर्णयों द्वारा भी शस्त्रास्त्रों का प्रयोग अस्वीकार किया जाता है।

इनमें से कोई भी प्रतिमान असीमित नहीं है। न्यूनतम समानता का ही प्रतिमान लें। विश्व में शान्ति बनाए रखने वाले राष्ट्र की नियुक्ति के बारे में राष्ट्रों के बीच शायद ही कोई सहमति हो सकती है, इसके परिणामों के बारे में कोई सर्वसम्मति नहीं है, अर्थात् सामान्यतया निग्रह बल के साथ अन्य प्रकार के प्रभाव भी आ सकते हैं। अधिकतम समानता के प्रतिमान में मुख्य कठिनाई वह प्रणाली प्रतीत होती है। यद्यपि क्षणिक संतुलन में यह स्थायी संतुलन नहीं है। यह दो शक्ति संभावनाओं के मूल्यांकन पर आधारित होती है और चूँकि सैन्य शक्ति बहुआयामी होती हैं इसलिए यह मूल्यांकन सहमति से बहुत दूर है। इस विचारधारा के लिए कुछ यह संभावना है कि किसी की अपनी शक्ति पर्याप्त रूप में विकसित नहीं है। इसलिए आधार शस्त्रों की दौड़ हो जाती है और इस विचारधारा के लिए कोई अच्छा सैद्धान्तिक औचित्य देखना कठिन है क्योंकि प्रश्न स्थिरता का होगा। उदाहरण के लिए, मुख्य तकनीकी समाधान नहीं होगा। शत्रु के पहले प्रहार के बाद पर्याप्त प्रतिकारात्मक शक्ति की आवश्यकता भी आतंक संतुलन को अस्थिर बनाता है।

इस प्रतिमान में अस्त्र नियंत्रण पर ध्यान केन्द्रित करती एक मुख्य कठिनाई यह है कि अनुमत्य और अवैध अस्त्रों के बीच सभी सीमा रेखाएँ मनमाने ढंग से तय की जाती हैं। सहमति से उत्पन्न होने वाली ऐसी सीमा रेखाओं की कुछ प्रकार के अंतराल में सुरक्षा की जानी चाहिए। जैसे परम्परागत और परमाणु अस्त्रों के बीच विद्यमान स्पष्ट रेखा विविध प्रकार के सामरिक परमाणु अस्त्रों को शामिल करने से उस रेखा के अधिव्यापन में विनाशकारी शक्ति बहुत स्पष्ट न हो।

जहाँ तक सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण का संबंध है, एक मुख्य आपत्ति उसकी बराबरी करने वाली शक्ति की आवश्यकता समझने में उसकी विफलता है। समझौते का एक उल्लंघन सम्पूर्ण प्रणाली पर वर्चस्व स्थापित कर सकता है, यदि उसके पास उसके अधिकार में चरम शस्त्र है। इसलिए सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण से शान्ति तभी सुरक्षित रखी जा सकती है जबकि प्रणाली में शक्ति का वितरण न्यूनतम समानता प्रतिमान के अनुरूप है या यदि जो निरस्त्रीकरण समझौते का उल्लंघन करते हैं, उनके विरुद्ध असैन्य प्रकार की शक्ति के प्रभावकारी प्रयोग के लिए प्रणाली में व्यवस्था की जाती है।

15.5 विश्व शान्ति प्रणालियाँ

विश्व प्रणालियों के सभी निम्नलिखित प्रतिमानों में राष्ट्र-राज्य के लिए कुछ उभयनिष्ठ समरूपताएँ हैं। अभिप्राय यह है कि यद्यपि कुछ राष्ट्र-राज्यों ने अपने निवासियों के लिए पर्याप्त सुरक्षा और समानता प्राप्त कर ली है, फिर भी उनकी संरचना में कुछ ऐसा होना चाहिए जो विश्व-स्तर पर अनुकरणीय हो। ऐसे

प्रतिमानों के विवरण के लिए प्रयुक्त किए जा सकने वाले बहुत से आयामों में से आइए, हम दो महत्वपूर्ण प्रतिमानों का विवेचन करें।

पहला, विश्व प्रणालियों के वे प्रतिमान जिन्हें उन संघटक इकाई के अनुरूप वर्णित किया जा सकता है जिसपर प्रणाली आधारित है। यदि बुनियादी इकाई पृथक है तो विश्व प्रणाली को विश्व राज्य के रूप में समझा जा सकता है जिसमें ऐसे राष्ट्र के रूप में मध्यवर्ती स्तरों के लिए स्वायत्तता का बहुत निम्न स्तर होता है। इकाइयों के रूप में ऐसे राष्ट्रों से विश्व प्रणाली महासंघ होता है, ऐसा राष्ट्र व्यक्ति और सरकार के बीच राजनीतिक स्तर के रूप में सन्निविष्ट किया जाता है। राष्ट्र और महासंघ की प्राधिकार संरचना के बीच सर्वांगसमता सामंजस्य का समग्र रूप में प्रणाली पर स्थायी प्रभाव हो सकता है।

इन दो प्रतिमानों के बीच अंतर पर चर्चा शान्ति के लिए उनकी प्रासंगिकता के आधार पर विरले ही की जाती है। बल्कि विश्व महासंघ को विश्व राज्य के प्रति अधिक क्रमिकतावादी दृष्टिकोण में मध्यवर्ती सोपान के रूप में या कुछ आंतरिक स्वायत्तता की अंतःनिर्मित संरक्षण युक्त प्रणाली के रूप में देखा गया है। यह मत भी है कि कुछ सीमा तक सीमा रेखा सुरक्षित होनी चाहिए, क्योंकि वे सांस्कृतिक प्रसार और प्रभाव की गति मंद कर देते हैं और इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक बहुलवाद के परिरक्षण में योगदान करते हैं जिसमें बहुतों को निर्णय करने के दृढ़ केन्द्र के समाँगकारी प्रभाव के कारण विश्व राज्य में लुप्त होने का भय हो सकता है।

दूसरा, विश्व प्रणालियों का वर्णन उनके कार्यक्षेत्र और प्रभावक्षेत्र के आधार पर हो सकता है। "कार्यक्षेत्र" से हमारा अभिप्राय विश्व प्रणाली द्वारा पूरी की गई आवश्यकताओं की विविधता से है और "प्रभाव क्षेत्र" से हमारा अभिप्राय यह है कि प्रणाली से कितनों की आवश्यकता को तुष्टि मिलती है।

इन दो प्रणाली प्रकार्यों के आधार पर वर्गीकरण दो बुनियादी प्रतिमान उत्पन्न करता है। पहला प्रतिमान कार्यक्षेत्र पर उच्च श्रेणी में रखा जाता है परन्तु प्रभाव क्षेत्र में निम्न। यह प्रादेशिक महासंघ द्वारा लिया गया रूप है जो अपने सदस्यों को कार्यक्षेत्र के आधार पर अधिक देता है परन्तु सदस्यता के आधार पर विशिष्ट है। यूरोपीय संघ (या भूतपूर्व यूरोपीय आर्थिक समुदाय) इसका प्रमुख उदाहरण है। दूसरा प्रतिमान प्रभाव क्षेत्र से उच्च श्रेणी में रखा जाता है परन्तु कार्यक्षेत्र में निम्न। यह प्रकार्यात्मक रूप में विशिष्ट संगठन द्वारा लिया गया रूप है जो उन लोगों की संख्या और प्रकार के बारे में कोई सीमाएँ तय नहीं करता है, कम से कम सिद्धान्त में जिनसे सहायता की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु इसे वह केवल तभी कर सकता है जबकि आवश्यकताएँ और दी गई सेवा की किस्म सीमित प्रकार की होती हैं। संयुक्त राष्ट्र की कोई भी विशेषज्ञ एजेंसी इसका उदाहरण हो सकती है।

15.6 शान्ति आन्दोलन

शान्ति के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के बीच विशाल असमानता (जिसका उल्लेख किया गया है) की व्याख्या विषय पर चिंतन की बुनियादी भ्रम के संकेत के रूप की गई है। परन्तु इसकी अधिक संभावना है कि यह समस्या की जटिलता का स्वतः प्रतिबिम्ब हो सकता है। इस संबंध में यह हो सकता है, कि शान्ति कुछ-कुछ स्वास्थ्य की भाँति हैः तथ्य समग्र रूप में समझना अत्यंत कठिन है और इसलिए व्यक्ति के दृष्टिकोण में शान्ति या स्वास्थ्य की उस किस्म द्वारा निर्धारित किए जाने की प्रवृत्ति है जिसे वह प्राप्त करने का इच्छुक है। स्पष्ट रूप् से हित के इन अंतरों के पर्याप्त कारण है। वास्तव में, शान्ति योजना को न केवल उसके विषय के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है अपितु उसके अनुसार भी जिसे वह प्रस्तुत करता है। यह व्यक्ति और संगठन भी हो सकता है जो विश्व प्रणाली के या तो निर्णयकारी केन्द्र में स्थित हो या समाज में या समाज की परिधि में हो। यदि मामला ही अंतिम है तो प्रस्ताव में सीमान्तता के कुछ संकेत हो सकते हैं जैसे निरपेक्षतावादी और नीतिवादी प्रवृत्ति, अनुक्रमितावादी और परिणामवादी दृष्टिकोण के विपरीत हैं और एकल कारक की ओर झुकाव भी हो सकता है क्योंकि यह बहुकारक चिन्तन के विपरीत

है और संगठनात्मक स्तरों को भ्रमित करने की प्रवृत्ति है, ताकि योजना के रचनाकार के प्रशिक्षण और क्षमता को स्वयं योजना की संभव अच्छाइयों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हो सके।

दूसरे छोर पर, समाज के केन्द्र में निर्णयकर्त्ता है, जिनका अनुक्रमितावादी (gradualist), प्रगतिशील उपागम है और जो बहुकारण विचारधारा अपनाते हैं। संगठनात्मक स्तरों को भ्रमित न करने के अपने प्रयासों में उनका दृष्टिकोण जनता की दृष्टि में इतना धीमा, सतर्क और असामाजिक होता है कि केन्द्र और बाहय–सतह के बीच तनाव इतना अधिक हो जाता है जिससे अशान्ति और संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इसके परिणाम में प्रदर्शन, पार्टी गठन और विरोध के अन्य तरीके उत्पन्न होते हैं। परिणाम वही होता है –केन्द्र और परिधि (periphery) के बीच परम्परागत वार्ता। परिधि धीरे-धीरे केन्द्र की भाँति हो जाता है, जैसे ही यह शक्ति प्राप्त करता है और सम्पूर्ण प्रणाली पर कुछ संकेत छोड़ता है, फिर भी, इसके बदले नया विरोध आन्दोलन परिधि में उत्पन्न किया जाता है। दूसरे शब्दों में, अन्य सामाजिक आन्दोलन की भाँति शान्ति आन्दोलन "चर्च संकट" चक्र का अनुसरण करते हैं। चूँकि परिधि शान्ति आन्दोलन - एकल कारक संगठनों में विभाजित है, इसलिए विश्व आन्दोलन से बहुआयामी उपागम प्रभाव प्राप्त नहीं करता है।

15.6.1 ऐतिहासिक विकास

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक संगठित शान्ति संघों का विकास नहीं हुआ था तथापि इन संघों की आकांक्षाओं और कार्यक्रमों ने धार्मिक और राजनीतिक साहित्य में पिछली अभिव्यक्ति पाई। हेब्रू (Hebrew) पैगम्बरों के कथन और माउण्ट पर प्रवचनों ने शान्तिवादी सिद्धान्त और धार्मिक सम्प्रदायों के व्यवहार को प्रेरित किया। उदाहरण के लिए, ट्रूस ऑफ गॉड (Truce of God) जो पैक्स डेई (Pax Dei) (ईश्वर की शान्ति) से उत्पन्न हुआ और पहले 1027 में सिनॉड ऑफ एलने (Synod of the Elne) में प्रस्तुत किया गया था, ने कुछ निश्चित अवधियों के लिए निजी कल्याण के सभी कार्य निषिद्ध किए थे। चौदहवीं शताब्दी में दांते ने युद्ध समाप्त करने के लिए विश्व साम्राज्य का प्रस्ताव किया था और पियरे डुबोइस ने बाद में संघर्षण के लिए स्थायी न्यायधिकरण का प्रस्ताव किया।

वास्तविकता यह है कि निरस्त्रीकरण और शान्ति के लिए काम करने वाले लगभग 1,500 समूह हैं और अन्य बातों में शान्ति के लिए संघर्ष का पर्याप्त लोकतंत्रीकरण का सुझाव देते हैं। भले ही, उनकी कुल सदस्यता कम हो, ये संगठन सार्वजनिक राय की अभिव्यक्ति के लिए खुला मंच प्रदान करते हैं। इस प्रकार के मंच अपेक्षाकृत नए हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि संगठित शान्ति आन्दोलन 1815 में तीन शान्ति संघों की स्थापना के साथ संयुक्त राज्य में शुरू हुआ था। पहला डेविड लो हौज (David Low Dodge) द्वारा न्यूयॉर्क में, इसके बाद नोह वोरचेस्टर (Noah Worcester) द्वारा गलि मेसाच्यूट संघ और दो क्वेकरों द्वारा एक ओहियो (Ohio) में 1843 तक ही नहीं था जब पहली अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कांग्रेस लंदन में आयोजित की गई थी। 1816 में स्थायी और सार्वदेशिक संवर्धन के लिए ब्रिटिश सोसाइटी की स्थापना लंदन में की गई। इस सोसाइटी को पुस्तिकाएँ छापने और परिचालित करने के लिए और यह दर्शाने के लिए सूचना फैलाने के लिए बनाया कि युद्ध ईसाई धर्म की भावना के अनुकूल नहीं है तथा मानव प्राणी के सही हितों की ओर ध्यान आकर्षित करना है जिससे ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर स्थायी और सार्वदेशिक शान्ति बनाए रखी जा सकती है। सोसाइटी अत्यधिक सक्रिय थी। अपनी स्थापना के पहले वर्ष में, सोसाइटी ने 32,000 पुस्तिकाएँ वितरित की और इसे सदस्यों ने पूरे इंग्लैंड में 4,000 स्थानों पर वितरित किया।

1828 में स्थानीय अमेरिकी सोसाइटियाँ विलियम लार्ड के साथ शामिल हो गईं। विलियम लार्ड वह प्रारंभिक अमेरिकी शान्तिवादियों में सबसे अधिक प्रभावशाली था, युद्ध के विरोध में वृहदत्तम कार्यक्रम पर अमेरिकी शान्ति सोसाइटी में था, यद्यपि उन्होंने रक्षात्मक युद्धों की विशिष्ट रूप से निन्दा नहीं की। उन शान्ति कार्यकर्ताओं से निरंतर दबाव के कारण जिन्होंने दृढ़ता की माँग की, उसने सभी युद्धों, रक्षात्मक तथा आक्रामक का विरोध व्यक्त करने के लिए 1837 में अपने में संविधान संशोधन किया।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कांग्रेसों ने प्रारंभिक शान्ति आन्दोलनों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने में सहायता की। इनमें से पहली कांग्रेस रुढ़िवादी तत्वों के निर्देशन में 1843 में लंदन में आयोजित की गई। इसमें युद्ध के विरुद्ध प्रभावी प्रचार द्वारा और युद्ध सामग्री के विनिर्माण और विक्रय के नियंत्रण द्वारा शान्ति के लिए प्रयास करने के संकल्प स्वीकार किए गए तथा कांग्रेस तथा कोर्ट ऑफ नेशन्स तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में विवाचन शर्तें रखने की वकालत की।

संयुक्त राज्य में 1853 के बाद शान्ति कार्य का ह्रास हुआ। अमेरिकी शान्ति सोसाइटी पश्चिम और दक्षिण में विस्तार करने में अथवा पूर्व में नई शक्ति जोड़ने में विफल रही। सबसे पहले वह यह कहते हुए आसन्न गृह युद्ध से बच निकली कि उसकी चिंता केवल अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों से है। जब युद्ध आरंभ हुआ, सोसाइटी ने यह घोषणा की कि यह संघ के विद्रोहियों के विरुद्ध युद्ध है जिसका निष्ठावान नागरिकों द्वारा समर्थन नहीं हो सकता है। अमेरिकी शान्ति सोसाइटी द्वारा युद्ध के समर्थन के विरुद्ध विरोध के फलस्वरूप 1866 में बोस्टन में सार्वदेशिक शान्ति यूनियन का गठन हुआ। उसी वर्ष अमेरिकन फ्रैण्ड्स ने बाल्टिमोर में शान्ति संघ (पीस एसोसिएशन) की स्थापना की। अमेरिकी शान्ति सोसाइटी व्यावहारिक रूप में 1873 तक मृतप्रायः रही, जब उसने राष्ट्रों के बीच विवाद की मध्यस्थता के लिए व्यापक प्रचार किया।

शान्ति आन्दोलन की दूसरी प्रावस्था 1867 में मध्यस्थता और बाद में अपने मुख्य पहलुओं के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की अधिक प्रणालीबद्ध चर्चा के साथ प्रारंभ हुई। इस अवधि के दौरान जनसमूह में व्यापक समर्थन था और आम हड़ताल की धमकी भी थी और 1868 में ब्रसेल्स में आयोजित कांग्रेस में अन्तर्राष्ट्रीय कार्यशील/कामगार पुरुष संघ (इंटरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोशिएशन) द्वारा समर्थित था।

मध्यस्थता के लिए आन्दोलन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुधार के लिए भी प्रयास आगे बढ़े। 1873 के अंत में यूरोप में दो विद्वत न्यायिक सोसाइटियों की स्थापना की गई। मध्य और ग़ैर सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन करने के लिए समर्पित हेण्टमेंदी इंस्टीट्यूट डि ड्राइट इंटरनेशनल (Institut de Droit International at Ghent) और कोड की घोषणा करने के लिए ब्रसेल्स में गठित 'एसोसिएशन फॉर दी रिफॉर्म एंड कोडीफिकेशन ऑफ दी लॉ ऑफ नेशन्स' (Association for the Reform and Codification of the Law of Nations) स्थापित किया जिसे बाद if 1895 if इंटरनेशनल लॉ एसोसिएशन के नाम से जाना गया।

इस अवधि के दौरान की शान्ति सोसाइटियों की संख्या और कार्यकलाप बढ़ रहे थे। 1870 में वॉन एक्क (Van Eck) ने नीदरलैंड पीस सोसाइटी की स्थापना की और 1874 में एडवर्ड लोबेन्थल ने बर्लिन में शान्ति समिति बनाई, 1875 में एडवर्ड लोवेन्थल ने सार्वदेशिक संसदीय शान्ति संघ की वकालत की, जो बाद में कुछ वर्षों तक कार्यान्वित नहीं हुई। प्रथम इटैलियन शान्ति सोसाइटी 1878 में ई.टी. मोनेटा द्वारा स्थापित की गई। पहली स्केन्डिनेवियन शान्ति सोसाइटी 1882 में डेनमार्क में स्थापित हुई। बेल्जियम में अनिवार्य सैन्य भर्ती - विरोधी अभियान दो शान्तिवादियों द्वारा 1881 में चलाया गया। 1880 में होड्गसन प्रैट (Hodgson Pratt) ने यह दावा करते हुए कि लंदन शान्ति सोसाइटी तब तक अक्षम रहेगी जब तक उसका दृष्टिकोण मुख्यतः आध्यात्मिक और ईसाई है, अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता और शान्ति संघ बनाया, उसने यूरोपीय देशों में नौ शाखाएँ स्थापित कीं।

शान्ति क्रियाकलापों के इस गहमागहमी के वर्षों के दौरान विश्व का सम्पूर्ण शान्ति आन्दोलन संसदों और सरकारों के निकटतम सम्पर्क में लाया जा रहा था और सरकारी नीतियों का प्रभाव बढ़ रहा था। यह प्रभाव सबसे पहले 1889 में आयोजित अंतःसंसदीय सम्मेलनों और 1892 में संगठित अंतःसंसदीय संघ में दिखाई दिया। इसमें यूरोप की संसदों में विद्यमान शान्ति के समर्थक थे और सभी देशों की संसदों के अंदर संगठित आन्दोलनों द्वारा विश्व शान्ति के लिए सबसे अधिक व्यावहारिक उपायों की चर्चा करने की रूपरेखा बनाई गई थी।

NMDC-288

प्रत्येक वर्ष शान्ति आन्दोलनों की सामान्य शक्ति में कुछ वृद्धि देखी गई। पहली महिला शान्ति लीग 1895 में स्थापित की गई। 1897 में नोबेल शान्ति पुरस्कार प्रारंभ किया गया और शान्ति की समस्या में अधिक रुचि को भी प्रोत्साहित किया गया। अंततः उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में विश्व-भर में 425 शान्ति संगठन विद्यमान थे। परन्तु यह शताब्दी बोअर युद्ध छिड़ने के साथ ही समाप्त हुई। यह आक्रामक साम्राज्यवाद का ऐसा पुनरुत्थान था जिसने ब्रिटिश शान्ति सोसाइटियों को हिला कर रख दिया जिसने अब तक यूरोपीय शान्ति आन्दोलन के मुख्य तत्वों को संगठित किया था।

युद्ध पूर्व सरकारी शान्ति आन्दोलन ऐसी धार्मिक रहस्यवादी आकांक्षाओं से विकसित हुआ जो विशेष रूप से युद्ध की सभी बुराइयों के सिद्धान्त पर आधारित था। यह आन्दोलन था जो वास्तविक राजनीतिक तंत्र के सृजन का समर्थन करने के लिए था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुधार और प्रशासन के लिए विधिविदों से सहयोग करने के लिए आरंभ हुआ था और अन्य शान्ति आन्दोलनों के समर्थन से और इन सबके अलावा सभी चर्चों के समर्थन से सम्मानजनक हो गया। यद्यपि उनके प्रभाव की सीमा का अनुमान लगाना कठिन है, शान्ति सोसाइटियाँ शान्ति सहयोग की विचारधारा से जनता को परिचित कराने में अपने कार्य के माध्यम से कुछ मात्रा में युद्ध के अवैधीकरण के लिए राष्ट्र संघ और केलॉग ब्रियाँड संधि के लिए मार्ग प्रशस्त किया। विश्व युद्ध के बाद युद्ध पूर्व शान्ति सोसाइटियों द्वारा किए गए कार्य के बड़े भाग का अनुसरण प्रत्येक देश में स्थापित राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) सोसाइटियों द्वारा यूरोप में किया गया। उदाहरण के लिए, ग्रेट ब्रिटेन में राष्ट्र संघ का समर्थन जारी रखने के लिए लीग ऑफ नेशन्स सोसाइटियाँ स्थापित की गई जो निरस्त्रीकरण के पक्ष में सक्रिय अभियान संचालित करती है, शान्ति के आदर्श की रक्षा करने के लिए आवश्यक रूप से बाध्य है। इस यूनियन की 1933 में लगभग 3,000 शाखाएँ थीं, पड़ोस में इसकी सदस्य संख्या लगभग 10,00,000 थी। इसके मिशनरी कार्य का मुख्य प्रभाव उन रूढ़िवादी प्रवृत्ति के लोगों के शान्ति आन्दोलन के पहलू पर समर्थन प्राप्त करना था जिन्होंने युद्ध से पहले शान्ति संगठन में प्रायः निश्चित रूप से सदस्यता ग्रहण करने से मना कर दिया था।

शान्ति आन्दोलन को भयंकर धक्का तब लगा जब प्रथम विश्व युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि अंतर्राष्ट्रवादी और शान्तिवादी सिद्धान्तों के पालन की अपेक्षा राष्ट्र के प्रति अनुरक्ति कितनी अधिक होती है और संगठनों के साथी सदस्यों के प्रतिबंधों की अपेक्षा अपनी ही सरकार और देश भाइयों के प्रतिबंध का कितना भय था। जिनेवा में 1912 में सार्वभौमिक शान्ति कांग्रेस (यूनिवर्सल पीस कांग्रेस) में और 1907 में स्टट्गार्ट (Stuttgart) में द्वितीय समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में पारित संकल्प दृढ़ता के साथ शान्तिवादी थे। परन्तु शान्ति आन्दोलन की उस समय की दुर्बलता उसकी आज की भी दुर्बलता है: शान्ति आन्दोलन के प्रति निष्ठा केवल आदर्शों के पालन पर आधारित है, संविदात्मक या बलपूर्वक अनुपालन पर नहीं। संकट के समय केवल अत्यंत आदर्शवादी या बहुत बाह्य परिधि में स्थित लोग अपने आदर्शों के प्रति निष्ठावान रह सकते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध ने इस तथ्य के प्रचुर नए उदाहरण के साथ शान्ति आन्दोलन दिया है। फिर भी, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि शान्ति आन्दोलन का कोई प्रभाव नहीं है। वास्तव में, यह विदेश नीति राष्ट्रीय सभा के लिए अपूर्ण स्थानापक के रूप में कार्य करता है। बहुत से देशों में संभवतः आंतरिक नीति संबंधी निर्णयों पर अपेक्षाकृत विदेश नीति का प्रभाव कम होता है।

15.6.2 विश्व युद्धोत्तर चरण में शान्ति आन्दोलन

1950 के दशक में वायुमंडलीय परमाणु परीक्षणों से ग्रस्त पर्यावरण संबंधी समस्या संकटग्रस्त शीतयुद्ध और अस्त्र प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के बारे में चिंता थी। फलस्वरूप यह आशंका उत्पन्न हुई कि यूरोप प्रमुख लक्ष्य क्षेत्र हो गया है। 1980 के दशक के आरंभ में तनाव में कमी लाने के प्रयासों के भंग होने तथा यूरोप में प्रथम प्रहार के अस्त्रों की तैनाती ने परमाणु युद्ध के प्रसुप्त भय को पुनः जीवित कर दिया। दोनों अवधियों में विशाल गठबंधनों से विरोध उत्पन्न हुए। ये विरोध चरम शान्तिवादियों से उन तक थे जिन्हें परिणामवादी कहा जा सकता है, जो राजनीतिक प्रणाली के अधिकार पर हो सकते हैं।

इस चरण में बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि शान्ति आन्दोलनों ने शान्ति सीमाओं के आर–पार परमाणु मुद्दों की सार्वजनिक जागरूकता उत्पन्न की है। शान्ति आन्दोलनों ने जन विरोध उत्पन्न किए। इसका एक अनभिप्रेरित परिणाम यह था कि इसने सरकारों को सिखाया कि जन-विरोधों को किस प्रकार सफलतापूर्वक दबाया और प्रभावहीन किया जाता है। शान्ति आन्दोलन मानवतावादी, उदार और नैतिक भावना को सक्रिय करने में बहुत सफल हुए। फिर भी सुविधाजनक मनोवैज्ञानिक मानदंडों के रूप में सरकारों के मनो-राजनीतिक प्रतिक्षेप के निपुणतापूर्ण प्रयोग को अस्त-व्यस्त किया गया था। यह सरकार के चुनने के अधिकार में अच्छा सहायक हुआ। उदाहरण के लिए वियतनाम युद्ध के विरुद्ध उत्पन्न विरोधों ने राष्ट्रपति जॉनसन को प्रभावहीन किया और निस्संदेह इसने निक्सन की सहायता की, जबकि ब्रिटेन में परमाणु-विरोधी रक्षा नीति के संबंध में लेबर पार्टी की सरकार का समर्थन प्रति-उत्पादनकारी प्रतीत हुआ।

शान्ति आन्दोलन ने अन्तर्राष्ट्रीयवाद में लहर उत्पन्न की जैसा कि यूरोपीय परमाणु निरस्त्रीकरण आन्दोलन, जर्मन लोकतांत्रिक गणतंत्र में सोर्डस इनटू प्लाशेयर्स आन्दोलन का उदय, उत्तर दक्षिण द्विविधा का गुण-दोष विवेचन और शान्ति के अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों को प्रोत्साहन से समझा जाता है। फिर भी राष्ट्रवाद में निकृष्टतम प्रवृत्ति का शीघ्रता से उपयोग करने की सरकार की क्षमता फाकलैंड द्वीप समूह पर अर्जेंटीना-ब्रिटिश संघर्ष में पर्याप्त रूप में दिखाई दी।

15.7 शान्ति अनुसंधान

यद्यपि अधिकांश साहित्य "शान्ति अनुसंधान" और "शान्ति अध्ययनों" के बीच स्पष्ट अंतर नहीं करता है, फिर भी इन दो सम्बद्ध क्षेत्रों के बीच (न कि पृथक-पृथक क्षेत्र के बीच) स्पष्ट अंतर करना उपयोगी है। केवल शान्ति अनुसंधान और शान्ति अध्ययनों के बीच स्पष्ट अंतर करके ही हम समझ सकते हैं कि वे एक-दूसरे से अंत में सम्बद्ध विषयों में भी कैसे और क्यों संबद्ध हैं। शान्ति अनुसंधान का संबंध युद्ध के कारणों और शान्ति की स्थिति के बारे में ज्ञान का विकास, संचय और अन्वेषण से है। शान्ति शिक्षा का संबंध शान्ति के बारे में शिक्षा की प्रक्रिया के विकास से है, जबकि शान्ति अध्ययनों का संबंध चिन्ता के उस क्षेत्र से है जो प्रक्रिया के रूप में शान्ति के ज्ञान के प्रसार के प्रयोजनों और समस्याओं के बारे में पर्याप्त मुद्दों से संबंधित हैं। फिर भी अंतिम विषय ठोस मुद्दों पर जाने से पहले जोड़ा जाना चाहिए। इस अंतर की प्रस्तुत रूपरेखाएँ कई लोगों के लिए कृत्रिम और अनावश्यक हैं। बहुधा इन शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में किया जाता है। फिर भी यह स्वीकार करना महत्वपूर्ण है कि शान्ति अनुसंधान में विकास से पहले शान्ति अध्ययनों के बारे में, और विकास के बारे में अनिवार्यतः बहस होनी चाहिए।

शान्ति अनुसंधान 1950 के दशक के मध्य में और 1960 के दशक के प्रारंभ में विकसित होना प्रारंभ हुआ क्योंकि शान्ति के संबंध में अधिक शास्त्रीय अध्ययन में तेज़ी आई और यह शान्ति आन्दोलन की व्यावसयिकता की ओर बढ़ा। *दी रिपेर्टरी ऑन डिसअर्मामेंट एंड पीस रिसर्च इंस्टीट्यून्स* (*The Repertory on Disarmament and Peace Research Institutions)* की सूची में बीसवीं शताब्दी में लगभग एक सौ संस्थाएँ थीं जो इस क्षेत्र में सक्रिय थीं। *दी जर्नल ऑफ कंफ्लिक्ट रिजोलूशन* (*Journal of Peace Research*) (सेण्टर फॉर कांफ्लिक्ट रिजोल्यूशन, यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन में सम्पादित) और *दी जर्नल ऑफ पीस रिसर्च* (ओस्लो में इंटरनेशनल पीस रिसर्च इंस्टीट्यूट में सम्पादित) इस विधा के क्षेत्र में समर्पित थे।

1970 के दशक के प्रारंभ तक शान्ति अनुसंधान के आरंभ होने के लगभग 20 वर्ष बाद शान्ति अध्ययनों की संभावनाओं को बहस की कार्यसूची में स्थान मिला। अब वह अध्ययन संभव हो गया है, अगली अवस्था का समाधान हो सकता है। वास्तव में, ये प्रारंभिक प्रयास संकोचपूर्ण और सतर्क थे, कम से कम इसलिए

नहीं, क्योंकि शान्ति का मुद्दा स्वयं गहन बहस का विषय रहा है केवल एक ही उदाहरण लें। सितम्बर 1974 में ग्रेट ब्रिटेन में यूनिवर्सिटी ऑफ कीले में वर्ल्ड काउंसिल फॉर केरिक्यूलम एंड इंस्ट्रक्शन (World Council for Curriculum and Instruction) का पहला विश्व सम्मेलन आयोजित किया गया था। 1975 में "*एज्यूकेशन फॉर पीस : रिफ्लेक्शन एंड एक्शन*" (*Education for Peace: Reflection and Action*) शीर्षक से कार्यवाही प्रकाशित की गई। सम्पादकीय इस अभ्युक्ति से आरंभ होता है, "बहुत से पाठक संभवतः इस प्रकार के शीर्षक से पुस्तक की विषय-वस्तु के बारे में जिज्ञासा प्रकट करेंगे। और ऐसा होने के कारण भी हैं, क्योंकि शीर्षक का अर्थ किसी विषय-वस्तु की शिक्षा देना है जिसमें उन परस्पर विरोधी वस्तुओं की संख्या अंतर्निहित है जो इस पर निर्भर करता है कि जो इसे परिभाषित करता है।" अभ्युक्ति उसके समय की सावधानी और दूरदर्शिता दोनों थी, क्योंकि इसमें बहस और भ्रांति की संभावनाओं को उजागर किया गया है जैसा कि आज भी है, शान्ति अध्ययनों की धारणा को घेरे हुए हैं। उस कीले सम्मेलन में समाधान किए गए मुद्दों में शान्ति के लिए शिक्षा के पैरामीटर, विश्व के संदर्भ में शान्ति और कार्रवाई परियोजनाओं पर रिपोर्ट शामिल थे।

शान्ति अनुसंधान में एक प्रमुख कठिनाई यह समस्या है, क्या भविष्य, अतीत का सतत बहिर्निवेशन होगा या गुणात्मक रूप से भिन्न। उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि निरस्त्रीकरण प्रक्रिया के लिए प्रतिमान अभी चर्चाधीन है - ऐसा प्रतिमान जो संतुलन और नियंत्रण की अपेक्षा रखता है - संभवतः इसके अतीत में, यदि कोई हो तो बहुत कम प्रतिपक्षी होंगे। शान्ति संरक्षण के लिए प्रतिमान का एक अन्य सेट, अर्थातः शक्ति संतुलन प्रतिमान और सामूहिक सुरक्षा प्रणालियों ने अतीत में बहुत गंभीर प्रतिबंध दिखाए हैं। परन्तु क्या यह माना जा सकता है कि यदि अतीत में कोई संरचना नहीं बनी है तो इसका कारण यह है कि यह व्यवहार्य नहीं थी या कि संरचना अतीत में विफल रही है। भविष्य में भी यह विफल होगी? या यह अध्ययन किया गया कि नगर-राज्य और राष्ट्र-राज्य ने अतीत में अपनी युद्ध सामग्री सफलतापूर्वक कैसे घटाई। क्या यह भविष्य के लिए मार्गदर्शक हो सकता है? तथापि इस सामान्य प्रेरक दृष्टिकोण की स्वीकृति का अभिप्राय यह हो सकता है कि शान्ति अनुसंधान भविष्य पर अतीत को थोपने के लिए सक्षम आधार का बहाना हो सकता है।

15.8 सारांश

शान्ति की खोज का संबंध दोनों प्रकार की हिंसा की कमी से है; दोनों हिंसा जो भड़कती है और शान्त हो जाती है, और जिस हिंसा का कम नाटकीय स्वरूप होता है परन्तु ठीक-ठीक उस कारण से अधिक विनाशकारी भी हो सकता है। वास्तव में यह केवल शान्ति अध्ययनों, शान्ति आन्दोलनों या शान्ति अनुसंधान का नकारात्मक पहलू है, अर्थात् हिंसा से कैसे बचा जाए। इसका सकारात्मक पहलू भी है जो "प्रसन्नता का चरम" (peaks of joy) पर अधिक ध्यान देता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। यह कठोर क्षेत्र है, शान्ति नरमी की बात करती है, जैसा कि हमने देखा है। यद्यपि शान्ति के साथ रहने की मानव जाति की इच्छा शाश्वत रही है, फिर भी शान्ति बहाल करने के लिए संगठित प्रयास उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में शुरू हुए और शान्ति आन्दोलन का रूप ग्रहण किया। परन्तु यह द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक नहीं था। जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनुसंधान ने शान्ति और शान्ति आन्दोलनों को स्थान देने की आवश्यकता महसूस की गई। यह केवल तब हुआ था जब शान्ति की शैक्षिक रुचि का स्वागत किया गया और इस प्रकार शान्ति अनुसंधान की अवधारणा अस्तित्व में आई। शान्ति बनाए रखने और शान्ति बहाल करने के लिए आन्दोलन के रूप में क्या आरंभ हुआ — आज यह शिक्षा जगत में विश्व भर में चर्चा और बहस का विषय है। शान्ति कार्य और शान्ति के बारे में सोचने के तरीकों का, हाल ही के वर्षों में अत्यधिक विस्तार हुआ है। शान्ति को लगातार बहु-आयामी और गतिशील समझा जाता है। फलस्वरूप शान्ति संवर्धन के तरीके भी कई गुणा है और वे भिन्न-भिन्न अभिकारकों के लिए भिन्न-भिन्न विन्यास में हैं। शान्ति और उसके संवर्धन के पहलुओं के बारे में सिद्धान्त और अनुसंधान सामाजिक

सिद्धान्त और सामाजिक व्यवहार से ग्रहण करता है और उसमें योगदान करता है। हाल ही के अनुप्रयुक्त और विद्वतापूर्ण शान्ति कार्य पिछले अनुभव पर आधारित हैं, परन्तु वर्तमान विश्व की वास्तविकताएँ नए चिन्तन तथा नवाचारी व्यवहारों की अपेक्षा करती हैं।

15.9 अभ्यास प्रश्न

1) राष्ट्रों में शक्ति वितरण पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति प्रणालियों के प्रतिमानों का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।

2) युद्ध पूर्व अवधि में शान्ति आन्दोलनों के स्वरूप और विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

3) युद्धोत्तर अवधि में शान्ति अनुसंधानों पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

4) शान्ति अनुसंधान के सामने आने वाले मुद्दों का उल्लेख करते हुए युद्धोत्तर अवधि में शान्ति अनुसंधान के विकास का वर्णन कीजिए।

NMDC-288

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021
www.uprtou.ac.in
टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333